महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)
Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Wardha
(A Central University Established by Parliament by Act No.3 of 1997)

एमएसडब्ल्यू पाठ्यक्रम (80 क्रेडिट)
प्रथम सेमेस्टर

दूर शिक्षा निदेशालय
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा
पोस्ट - हिंदी विश्वविद्यालय, गांधी हिल्स, वर्धा - 442001 (महाराष्ट्र)

मार्ग निर्देशन समिति

प्रो. गिरीश्वर मिश्र
कुलपति
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. आनंद वर्धन शर्मा
प्रतिकुलपति
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

प्रो. अरबिंद कुमार झा
निदेशक (दूर शिक्षा निदेशालय)
म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

पाठ्यचर्या निर्माण समिति

प्रो. मनोज कुमार
निदेशक – म.गां.फ्यू. गु. समाज कार्य अध्ययन केंद्र, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. मिथिलेश कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर , म.गां.फ्यू. गु. समाज कार्य अध्ययन केंद्र, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. शिवसिंह बघेल
असिस्टेंट प्रोफेसर , म.गां.फ्यू. गु. समाज कार्य अध्ययन केंद्र, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

श्री अमोद गुर्जर
असिस्टेंट प्रोफेसर , म.गां.फ्यू. गु. समाज कार्य अध्ययन केंद्र, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. शंभू जोशी
असिस्टेंट प्रोफेसर एवं पाठ्यक्रम संयोजक, दूर शिक्षा निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

संपादन मंडल

प्रो. मनोज कुमार
निदेशक – म.गां.फ्यू. गु. समाज कार्य अध्ययन केंद्र, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. मिथिलेश कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर
म.गां.फ्यू. गु. समाज कार्य अध्ययन केंद्र, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

डॉ. शंभू जोशी
असिस्टेंट प्रोफेसर एवं पाठ्यक्रम संयोजक
दूर शिक्षा निदेशालय, म.गां.अं.हिं.वि., वर्धा

इकाई लेखन

खंड-1	खंड- 2	खंड – 3	खंड-4
श्री अनुराग कुमार पाण्डेय	श्री गजानन निलामे	श्री गजानन निलामे	श्री गजानन निलामे

कार्यालयीन एवं संपादकीय सहयोग

श्री विनोद वैद्य
अनुभाग अधिकारी, दू.शि. निदेशालय

श्री महेन्द्र प्रसाद
संपादकीय सहायक, दू.शि. निदेशालय

सुश्री शिल्पा एवं श्री प्रवेश कुमार
सहायक, दू.शि. निदेशालय

सुश्री मेघा आचार्य
प्रूफ रीडर, दू.शि. निदेशालय

श्री हरीश चंद्र शाह
तकनीकी सहायक, दू.शि. निदेशालय

सुश्री राधा
टंकक, दू.शि. निदेशालय

आवरण पृष्ठ
सुश्री मेघा आचार्य

अनुक्रम

क्र.सं.	खंड का नाम	पृष्ठ संख्या
1	**खंड - 1 – व्यक्तित्व : परिचय**	3
	इकाई - 1 व्यक्तित्व : अर्थ, परिभाषा एवं निर्धारक	4-13
	इकाई - 2 व्यक्तित्व विकास की अवस्थाएं	14-22
	इकाई - 3 जीवन अवधि	23-34
	इकाई – 4 व्यक्तित्व और व्यवहार	35-42
2	**खंड - 2 – मानव व्यवहार**	43
	इकाई - 1 मानव व्यवहार : अवधारणा और निर्धारक	44-66
	इकाई - 2 समायोजन : अवधारणा, विशेषताएं और निर्धारक	67-79
	इकाई - 3 असामान्य व्यवहार : लक्षण, कारक और प्रकार	80-95
	इकाई - 4 नेतृत्व : आवश्यकता, प्रकार और प्रकार्य	96-114
3	**खंड - 3 – मनोसामाजिक प्रक्रियाएं**	115
	इकाई - 1 अभिप्रेरणा	116-128
	इकाई - 2 समाजीकरण	129-140
	इकाई - 3 संवेदना –प्रत्यक्षीकरण	141-151
	इकाई - 4 अभिवृत्ति	152-162
4	**खंड - 4 – व्यक्तित्व के सिद्धांत**	163
	इकाई - 1 फ्रायड एवं जुंग	164-183
	इकाई - 2 एडलर एवं एल्बर्ट बंडुरा	184-202
	इकाई - 3 मार्सिया एवं पियाजे	203-215
	इकाई - 4 एरिक एरिक्सन	216-227

ज्ञान शांति मैत्री

MSW 04 व्यक्तित्व एवं मानव व्यवहार की गतिकी

खंड परिचय

प्रिय विद्यार्थियों,

एमएसडब्ल्यू पाठ्यक्रम (प्रथम सत्र) के प्रश्नपत्र **MSW 04 व्यक्तित्व एवं मानव व्यवहार की गतिकी** में आपका स्वागत है। इस प्रश्नपत्र को चार खंडों में विभाजित किया गया है।

पहले खंड में व्यक्तित्व की अवधारणा को समझाया गया है। व्यक्तित्व के अर्थ, परिभाषा एवं निर्धारकों को स्पष्ट करते हुए इसके विकास की अवस्थाओं का वर्णन किया गया है। जीवन अवधि का उल्लेख करते हुए व्यक्तित्व और व्यवहार के आपसी संबंधों को बताया गया है।

दूसरे खंड में मानव व्यवहार की अवधारणा और उसके निर्धारकों का उल्लेख किया गया है। समायोजन एवं असामान्य व्यवहार की अवधारणा की विस्तृत चर्चा की गई है। नेतृत्व की आवश्यकता,प्रकार और प्रकार्यों पर प्रकाश डाला गया है।

तीसरे खंड में विभिन्न मनोसामाजिक प्रक्रियाओं को बतायागया है जो मानवीय व्यवहार के ज़रिए अभिव्यक्त होती हैं। इनमें अभिप्रेरणा, समाजीकरण, संवेदना-प्रत्यक्षीकरण एवं अभिवृत्ति शामिल है।

चौथे खंड में विभिन्न मनोविज्ञानियों के व्यक्तित्व संबंधी सिद्धांतों की विस्तार से चर्चा की गई है। इनमें फ्रायड, जुंग, एडलर, बंडुरा, मार्सिया, पियाजे और एरिक्सन द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों का उल्लेख किया गया है।

खंड - 1

व्यक्तित्व : परिचय

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई 1

व्यक्तित्व: अर्थ, परिभाषा एवं निर्धारक

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 व्यक्तित्व: अर्थ एवं परिभाषाएँ
1.3 व्यक्तित्व अध्ययन के उपागम
1.4 व्यक्तित्व के निर्धारक
1.5 सारांश
1.6 बोध प्रश्न
1.7 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1.0उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप –

- व्यक्तित्व के अर्थ और उससे संबंधित परिभाषाओंको रेखांकित कर सकेंगे।
- व्यक्तित्व अध्ययन के उपागमों को समझा सकेंगे।
- व्यक्तित्व के निर्धारकों की व्याख्या कर सकेंगे।

ज्ञान शांति मैत्री

1.1 प्रस्तावना

व्यक्तित्व एक व्यापक संकल्पना है, जो मानव व्यक्तित्व की निर्मिति के विविध क्षेत्रों और इकाइयों से अंतर्संबंधित है। इसे मनुष्य के आंतरिक और बाह्य गुणों के योग के रूप में विश्लेषित किया जाता है। मानव व्यक्तित्व ही यह तय करता है कि उसकी वैचारिकी और व्यावहारिकता किस प्रकार की है। इस इकाई में व्यक्तित्व के बारे में व्यापक विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है और साथ ही व्यक्तित्व के निर्धारकों पर भी प्रकाश डाला जा रहा है।

1.2 व्यक्तित्व: अर्थ एवं परिभाषाएँ

व्यक्तित्व शब्द का प्रयोग बहुल संदर्भों में किया जाता है। कभी इसे मानव व्यवहार, तो कभी मानसिक क्षमता और उसके समायोजन की कुशलता के संदर्भ में इसे परिभाषित किया जाता है, तो कभी-कभी इसका प्रयोग शारीरिक बनावट को संदर्भित करता है। 'व्यक्तित्व' शब्द अंग्रेजी भाषा के शब्द *'पर्सनाल्टी'* का हिंदी रूपांतरण है और इसे लैटिन भाषा के *'परसोना'* से लिए गया है। इसका अर्थ 'मुखौटा' या

'नकाब' से संबंधित होता है, जिसे नायक/नायिका द्वारा चेहरे को छिपाने के लिए लगाया जाता है। इस आधार पर व्यक्तित्व को बाहरी पहनावा और दिखावा के रूप में विश्लेषित किया जा सकता है। परंतु इस दृष्टिकोण के इतर मनोवैज्ञानिकों द्वारा सैद्धांतिक परिभाषाओं का प्रतिपादन किया गया है।

- **वुडवर्थ एवं मारक्विस** के अनुसार, *"व्यक्ति का संपूर्ण व्यवहार ही व्यक्तित्व कहा जाता है।"*
- **किम्बाल यंग** के अनुसार, *"अपने उद्देश्य के लिए व्यक्तित्व को कम अथवा अधिक आदतों, लक्षणों, विचारों, मनोवृत्तियों को उस संपूर्णता के रूप में परिभाषित किया जा सकता है जिसका निर्माण बाह्य रूप में एक व्यक्ति के कार्यों तथा प्रस्थितियों के रूप में होता है तथा आंतरिक रूप से वे संप्रेरणाओं, उद्देश्यों और आत्मा के विभिन्न तत्वों से संबंधित होता है।"*
- **एन. एल. मन्न** के शब्दों में, *"व्यक्तित्व व्यक्ति की संरचनाओं और क्रियाओं का सबसे विशिष्ट समन्वय है।"*
- **प्रिंस** के अनुसार, *"व्यक्तित्व व्यक्ति के सभी तरह के जैविक जन्म-जात गुणों, आवेगों, प्रवृत्तियों, भूख एवं मूल प्रवृत्तियों तथा अर्जित गुणों व अनुभव द्वारा अर्जित प्रवृत्तियों का कुल योग होता है।"*
- **कागन एवं हेवमान्न** के अनुसार, *"व्यक्तित्व चिंतन, भाव एवं व्यवहार करने के विशिष्ट ढंग का एक ऐसा संपूर्ण प्रतिमान है जो व्यक्ति के वातावरण से संबंधित करने की एक विशेष विधि उपलब्ध कराता है।"*
- **जी. डब्ल्यू. आलपोर्ट** का मानना है, *"व्यक्तित्व व्यक्ति के भीतर उन मनोशारीरिक तंत्रों का गतिशील अथवा गत्यात्मक संगठन है, जो वातावरण में उसके अपूर्ण समायोजन का निर्धारण करते हैं।"*
- **चाइल्ड** के शब्दों में, *"व्यक्तित्व से अभिप्राय कमोबेश उन स्थायी, आंतरिक कारकों से होता है जो व्यक्ति के व्यवहार के एक समय से दूसरे समय तक संगत बनाता है तथा उन व्यवहारों से भिन्न करता है, जिसे तुल्य परिस्थितियों में व्यक्ति करता है।"*
- **आइजेंक** के अनुसार, *"व्यक्तित्व व्यक्ति के चरित्र, चित्रप्रकृति, ज्ञानशक्ति तथा शरीर संगठन का लगभग एक स्थायी और टिकाऊ संगठन है, जो वातावरण में उसके अपूर्व समायोजन को निर्धारित करता है।"*

उपर्युक्त वर्णित सभी परिभाषाओं के आधारपर यह कहा जा सकता है कि व्यक्तित्व अनेक भिन्न-भिन्न प्रकार के शीलगुणों का एक संगठन है, जिसमें किसी भी वातावरण में व्यक्ति के व्यवहारों और विचारों का सृजन होता रहता है। व्यक्ति का आरंभिक जीवन परिवार में ही व्यतीत होता है और परिवार ही उसकी पहली पाठशाला होती है। परिवार द्वारा व्यक्ति में सामाजिक गुणों का विकास और संचार किया जाता है।

ज्ञान शांति मैत्री

व्यक्तित्व के गुणों में सहानुभूति, सहयोग, त्याग, परोपकार आदि प्रमुख हैं और ये गुणव्यक्तित्व के निखार हेतु महत्वपूर्ण होते हैं। व्यक्तित्व के निर्धारण में व्यक्ति की संकल्प शक्तिका भी स्थान उल्लेखनीय होता है।

1.3 व्यक्तित्व अध्ययन के उपागम

व्यक्तित्व के स्वरूप को व्याख्यायित करने की दृष्टि से विद्वानों द्वारा कई उपागमों की चर्चा की गई है, यहाँ कुछ प्रमुख उपागमों के बारे में विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है-

1. मनोविश्लेषणात्मक उपागम

यह व्यक्तित्व के अध्ययन का प्रथम उपागम है और इसका प्रतिपादन सिगमंड फ्रायड द्वारा किया गया है। वे एक मनोचिकित्सक थे और उन्होंने अपने सिद्धांत को पेशे के दौरान ही प्रतिपादित किया। इसमें मानव प्रकृति की निराशावादी और निश्चयवादी छवि पर ज़ोर दिया गया है। फ्रायड ने मानव मन की चेतना को तीन भागों में वर्गीकृत किया- पहला, चेतन, दूसरा, पूर्वचेतन और तीसरा, अचेतन। चेतन में वे क्रियाएँ, भावनाएँ, चिंतन आदि शामिल रहते हैं जिनके बारे में लोगों को पता रहता है। पूर्वचेतन में उन मानसिक क्रियाओं के बारे में चर्चा की गई है जिनके बारे में लोगों को तब पता चलता है, जब वे उनके बारे में विचार करते हैं। अचेतन में वे मानसिक क्रियाएँ आती हैं जिनके बारे में लोगों को पता नहीं रहता है। इसी प्रकार फ्रायड ने व्यक्तित्व की संरचना को भी तीन भागों में वर्गीकृत किया है- पहला, इड, दूसरा, अहं (ईगो) और तीसरा, परा अहं (सुपरईगो)। इड सहज प्रवृत्ति से संबंधित होता है और यह सुख के सिद्धांत से संचालित रहता है। ईगो सुनियोजित होता है और यह वास्तविकता के सिद्धांत से संचालित रहता है। पराअहं परिपक्वता को इंगित करता है और यह नैतिकता से संचालित रहता है।

2. नव मनोविश्लेषणात्मक उपागम

इस उपागम का प्रतिपादन नव-फ्रायडवादियों द्वारा किया गया, जिसमें एडलर, युंग, हार्नी, एरिक फ्राम आदि शामिल हैं। इनमें से कुछ विद्वान फ्रायड के नजदीकी थे और कुछ विद्वान उनकी वैचारिकी से प्रभावित होकर उसे उन्नत करने हेतु इच्छित थे। यहाँ दोबिंदुओं को प्रस्तुत किया जा रहा है जिसके आधार पर यह स्पष्ट किया जा सकता है कि नवमनोविश्लेषणात्मक उपागम, मनोविश्लेषणात्मक उपागम से किस प्रकार अलग है–

i) नवमनोविश्लेषणात्मक उपागम में व्यक्तित्व के सामाजिक कारकों पर अपेक्षाकृत अधिक ज़ोर दिया गया है, जबकि मनोविश्लेषणात्मक उपागम में व्यक्ति के जैविक कारकों पर अधिक ज़ोर लिया जाता है। यहाँ ध्यान देने वाली बात यह है कि नवमनोविश्लेषणात्मक उपागम में जैविक कारकों को गौण माना गया है, उसे अस्वीकृत नहीं किया गया है।

ii) नवमनोविश्लेषणात्मक उपागम में मानव प्रकृति की आशावादी छवि पर अधिक ज़ोर दिया गया है, जबकि मनोविश्लेषणात्मक उपागम में निराशावादी छवि पर अधिक ज़ोर दिया गया है।

3. प्रारूप उपागम

इस उपागम में व्यक्तित्व के प्रकार की समानताओं के आधार पर व्यक्तित्व कोस्पष्ट किया जाता है। हिप्पोक्रेट्स, जो एक ग्रीक चिकित्सक थे, ने मानव शरीर में पाए जाने वाले फ़्ल्युड के आधार पर व्यक्तित्व को चार भागों में बांटा है–

i) उत्साही (पीला पित्त)
ii) श्लैष्मिक (कफ)
iii) विवादी (रक्त)
iv) कोपशील (काला पित्त)

इसी प्रकार क्रेश्मर और शेल्डन के शारीरिक गुणों के आधार पर व्यक्तित्व के चार भाग किए थे–

i) स्थूलकाय प्रारूप (छोटा कद, गर्दन छोटी और मोटी, ये लोग खुशमिजाज़ और सामाजिक होते हैं।)
ii) कृशकाय प्रारूप (लंबा कद, दुबला शरीर, ये लोग चिड़चिड़े और सामाजिक ज़िम्मेदारियों से भागने वाले होते हैं)
iii) पुष्टकाय प्रारूप (सामान्य कद, शरीर सुडौल व संतुलित, ये लोग न ही चंचल और न ही अवसादग्रस्त होते हैं, अपितु ये लोग प्रत्येक परिस्थिति में ढल जाते हैं।)
iv) विशालकाय प्रारूप (ये उक्त तीनों श्रेणियों से अलग प्रकार के होते हैं।)

युंग ने व्यक्तित्व के दो प्रकारों की चर्चा की है–

i) अंतर्मुखी (ये व्यक्ति एकांतप्रिय होते हैं, संकोची होते हैं और दूसरों से दूर रहना पसंद करते हैं।)
ii) बहिर्मुखी (ये व्यक्ति सामाजिक और बहिर्गामी होते हैं।)

4. जीवन अवधि उपागम

इस उपागम में व्यक्तित्व की व्याख्या जन्म से मृत्यु तक के व्यावहारिक परिवर्तनों के संदर्भ से की जाती है। इस दौरान आठ अवस्थाओं में से प्रत्येक अवस्था में उत्पन्न कठिनाई अथवापरिवर्तन बिंदुओं से पैदा हुई समस्याओं के निराकरण के रूप में की जाती है। अन्य मनोवैज्ञानिकों द्वारा इस संपूर्ण जीवन चक्र के स्थान पर जीवन की कुछ खास अवधियों को महत्वपूर्ण माना गया है। फ्रायड ने जीवन के पहले पाँच वर्ष को महत्वपूर्ण माना है, आलपोर्ट ने किशोरावस्था तक की अवधि को महत्वपूर्ण माना है, युंग ने मध्य आयु तक की अवधि को महत्वपूर्ण माना है। वहीं केटिल और एरिक्सन जैसे विद्वानों ने व्यक्तित्व के विकास हेतु संपूर्ण जीवन को ही महत्वपूर्ण माना है।

5. शीलगुण उपागम

इस उपागम में शीलगुणों के आधार पर व्यक्तित्व की चर्चा की जाती है। यह उपागम व्यक्तित्व को निर्मित करने वाले मूल तत्वों की तलाश करते हैं। व्यक्ति के मनोवैज्ञानिक गुणों में पर्याप्त अंतर होता है। आलपोर्ट द्वारा शीलगुणों को तीन भागों में वर्गीकृत किया गया है-

- प्रमुख शीलगुण (ये सामान्य प्रवृत्तियाँ होती हैं। ये प्रवृत्तियाँ उस लक्ष्य को प्रस्तुत करती हैं इन्हीं के इर्दगिर्द व्यक्ति का संपूर्ण जीवन व्यतीत होता है।
- केंद्रीय शीलगुण (ये मनुष्य की सामान्य प्रवृत्तियाँ होती हैं)
- गौण शीलगुण (ये सबसे कम सामान्य गुण होते हैं)

इसी तरह कैटेल द्वारा कारक विश्लेषण के आधार पर 16 मूल शीलगुणों की चर्चा की गई है। इस उपागम की प्रमुख मान्यता यह है कि इन शीलगुणों के कारण ही व्यक्ति विविध परिस्थितियों में सही तरीके से व्यवहार का निष्पादन कर पाता है। सामान्य तौर पर परिस्थितियों से भी व्यक्ति प्रभावित अवश्य होता है, परंतु यह प्रभाव बहुत न्यून होता है।

6. शरीरगठनात्मक उपागम

इसमें व्यक्तिगत प्रतिमान तथा विकास की व्याख्या शारीरिक संगठन और उसके आकार-प्रकार व संबंधित चित्रप्रकृति के संदर्भ में किया जाता है। क्रेश्मर और शेल्डन द्वारा इस उपागम के व्यक्तित्व की व्याख्या प्रस्तुत की गई है।

7. आयामी अथवा विमीय उपागम

इसमें व्यक्तित्व की व्याख्या एक विमा के संदर्भ में की जाती है। इस उपागम में व्यक्ति के संबंधों को विमा पर उच्च अथवा निम्न अंक प्रदान किया जाता है। उदाहरणस्वरूप, अंतर्मुखी व्यक्तित्व के लिए उच्च अथवा निम्न विमा को निर्धारित कर दिया जाता है।

ज्ञान शांति मैत्री

8. मानवातावादी उपागम

इसमें व्यक्तित्व की व्याख्या हेतु व्यक्ति के आत्मगत अनुभूतियों पर ध्यान आकृष्ट किया जाता है। यदि स्पष्ट तौर पर कहा जाए तो यह उपागम व्यक्ति के वातावरण पर अध्ययनकर्ता के प्रत्यक्षण के तरीके पर ध्यान खींचता है। इसमें मनोविश्लेषणात्मक उपागम के दावे (मनुष्य का व्यवहार अचेतन अभिप्रेरकों द्वारा नियंत्रित किया जाता है) को नकार दिया गया है। इसमें मैस्लो और रोजर्स द्वारा प्रस्तुत व्यक्तित्व के सिद्धांतों को शामिल किया गया है। रोजर्स ने शर्तरहित स्वीकारात्मक सम्मान को महत्व दिया है तो मैस्लो ने व्यक्तिगत वृद्धि और आत्म-निर्देशों की क्षमता को अधिक महत्व दिया है।

9. सामाजिक-संज्ञानात्मक उपागम

इस उपागम को सामाजिक-सीखना उपागम भी कहा जाता है। इसकी प्रमुख मान्यता यह है कि व्यवहार व्यक्तिगत चरों एवं पर्यावरणीय चरों के मध्य होने वाली निरंतर अन्तःक्रिया और उनके संज्ञान पर पड़ने वाले प्रभाव का परिणाम होता है। इस उपागम में अल्बर्ट वेंडूरा, वाल्टर मिशकेल और मार्टिन सेलिगमेन द्वारा प्रस्तुत व्यक्तित्व के विकास के सिद्धांत शामिल किए जाते हैं।

10.संज्ञानात्मक उपागम

यह उपागम व्यक्ति द्वारा जानने, मूल्यांकन करने, सीखने, निर्णय लेने, समस्या निवारण करने आदि से संबंधित प्रक्रियाओं के संदर्भ से है। प्रत्यक्ष तौर पर यदि कहा जाए तो इस उपागम में व्यक्ति की चेतन मानसिक क्रियाओं पर ध्यान आकृष्ट किया जाता है। केली और कर्ट लेविन द्वारा प्रस्तुत व्यक्तित्व के सिद्धांत को इस उपागम के तहत शामिल किया जाता है।

11.व्यवहारात्मक एवं अधिगम उपागम

इसमें व्यक्तित्व को उद्दीपकों द्वारा सीखी गई प्रक्रियाओं और आदतों का समुच्चय माना जाता है। इस उपागम में मुख्य रूप से दो मान्यताएँ होती हैं-

- बहुत से व्यवहार, जो व्यक्तित्व के निर्माण में सहायक होते हैं, सीखे गए होते हैं। व्यक्ति द्वारा इन व्यवहारों को बचपन से ही सीखा जाने लगता है।
- व्यक्ति के वर्तमान पर्यावरण से उन व्यवहारों का संपोषण होता है।

उक्त वर्णित मान्यताओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस उपागम के अनुसार किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व को समझने के लिए उसके द्वारा सीखे गए व्यवहारों को समझना अत्यंत आवश्यक है तथा इसे समझने के लिए उसके वर्तमान वातावरण को समझना भी आवश्यक है। इस उपागम में स्किनर, मिलर तथा डोलार्ड की व्याख्या को शामिल किया जाता है।

1.4 व्यक्तित्व के निर्धारक

व्यक्तित्व के निर्धारक से स्पष्ट आशय यह है कि उन कारकों के बारे में संज्ञान करना जो व्यक्तित्व के विकास और उसकी दिशा पर प्रभाव डालते हैं। सामान्य तौर पर इन निर्धारकों को तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

1. जैविक निर्धारक

इसके अंतर्गत वे कारक सम्मिलित किए जाते हैं जो आनुवांशिक होते हैं और जन्मपूर्व से ही गर्भधारण से व्यक्ति में मौजूद रहते हैं। इसमें निम्नलिखित निर्धारक महत्वपूर्ण हैं-

i) शारीरिक संरचना और स्वास्थ्य

शारीरिक संरचना का आशय कद, रंग, गठन आदि से है। यदि व्यक्ति का स्वास्थ्य, रंग-रूप और गठन सौष्ठवपूर्ण है तो उसे उत्तम व्यक्तित्व का माना जाता है। हालांकि आज केवल इन

आधारों पर व्यक्तित्व को नहीं देखा जाता है, परंतु फिर भी यह व्यक्तित्व के निर्धारण में महत्वपूर्ण स्थान आवश्यक रखता है।

ii) शरीरी रसायन और अंत:स्रावी ग्रंथियां

शरीर-रसायन तथा व्यक्तित्व दोनों एक-दूसरे से अंतर्संबंधित हैं, क्योंकि शरीर रसायनों में होने वाले बदलावों से हमारा व्यक्तित्व प्रभावित होता है। मांसपेशियों में जब ग्लाइकोजन का अभाव हो जाता है तो वे शिथिल पड़ जाती हैं और उनमें थकान पैदा हो जाती है इनका प्रभाव व्यक्ति की अभिप्रेरणा, रुचि आदि पर पड़ता है तथा व्यक्ति का किसी भी कार्य में मन नहीं लगता है। अंतःस्रावी ग्रंथियां शारीरिक रसायन के नियमन हेतु कार्य करने वाले अंग हैं। ये विभिन्न स्रावों को रक्त के अंदर छोड़ती हैं प्रमुख अंतःस्रावी ग्रंथियां निम्न उल्लेखित हैं

- पिट्यूटरी ग्रंथि
- पैंक्रियाज ग्रंथि
- थायरायड ग्रंथि
- पैरा-थायरायड ग्रंथि
- एड्रीनल ग्रंथि
- जनन ग्रंथियां

इन सभी ग्रंथियों की कमी अथवा अधिकता के कारण विविध शारीरिक-मानसिक रोग व समस्याएँ पैदा होती है, जिससे व्यक्तित्व प्रभावित होता है।

ज्ञान शांति मैत्री

iii) स्नायुमंडल

मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि जिन व्यक्तियों का स्नायुमंडलअधिक विकसित और जटिल होता है, वे कुशाग्र बुद्धि वाले होते हैं तथा साथ ही उनमें किसी भी परिस्थिति में समायोजन करने की कुशलता पाई जाती है। इसके इतर यदि व्यक्ति का स्नायुमंडल कम विकसित रहता है तो उसकी बुद्धि कम विकसित होती है, साथ ही उसकी अभियोजन कुशलता भी न्यून होती है। इस प्रकार से स्नायुमंडल व्यक्तित्व के व्यक्तित्व निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

iv) समस्थिति

समस्थिति से तात्पर्य शरीर के आंतरिक वातावरण (रक्त में चीनी का स्तर,जल संतुलन, तापक्रम, ऑक्सीज़न उपयोग आदि में स्थायी समन्वय से है। जब इनमें संतुलन नहीं रहता है, तो समस्थिति विषम होने लगती है, जिससे व्यक्ति का व्यक्तित्व प्रभावित होता है। यदि व्यक्ति में समस्थिति संतुलित प्रकार से हो, तो व्यक्ति शांत, नियंत्रि और सामाजिक व्यवहारों का

निष्पादन करता है। असंतुलन की स्थिति में व्यक्ति में चिड़चिड़ापन और अन्य प्रकार की व्याधियाँ पैदा होने लगती हैं।

v) शारीरिक नियंत्रण

शारीरिक नियंत्रण व्यक्तित्व के निर्धारकों में उल्लेखनीय स्थान रखता है। उत्तम शरीरी नियंत्रण होने के कारण व्यक्ति में आत्मविश्वास का संचार होता है, जिससे व्यक्ति किसी भी कार्य को पूरे विश्वास और आत्मीयता से सफलतापूर्वक संपन्न कर सकता है। इसके अलावा उत्तम शरीरी नियंत्रण से व्यक्ति में सुरक्षा के भाव का संचार होता है। किसी भी सामाजिक परिस्थिति में वह स्वयं को संतुलित रख पाने में सक्षम होता है।

2. मनोवैज्ञानिक निर्धारक

जैविक निर्धारकों के अलावा कुछ मनोवैज्ञानिक निर्धारक भी होते हैं, जो व्यक्तित्व को प्रभावित करते हैं, प्रमुख इस प्रकार हैं–

i) बौद्धिक निर्धारक

बौद्धिक क्षमता व्यक्ति के समायोजन को प्रत्यक्ष तौर पर प्रभावित करती है। बौद्धिक उपलब्धि के कारण ही लोग किसी व्यक्ति के बारे में अपनी राय स्पष्ट करते हैं। लोग व्यक्ति का मूल्यांकर करते हैं और इस प्रकार व्यक्तित्व और भी निखरता है। कम बौद्धिक क्षमता वाले लोगों के साथ अन्य लोगों के व्यवहार भी असामान्य प्रकार के होते हैं, उनका मूल्यांकन उचित नहीं होता है। इन कारणों से कम बौद्धिक क्षमता वाले व्यक्ति स्वयं के बारे में भी वही धारणा स्वीकार कर लेते हैं और इन दशाओं में व्यक्ति का व्यक्तित्व प्रभावित होना स्वाभाविक है।

ii) सांवेगिक निर्धारक

संवेग का स्वरूप चाहे स्थायी प्रकृति का हो अथवा अस्थायी, इससे व्यक्तित्व प्रभावित होता है। संवेग इस बात को भी निर्धारित करता है कि व्यक्ति का समायोजन प्रतिमान किस प्रकार का है। यदि कोई व्यक्ति कुंठा से ग्रस्त जीवन व्यतीत कर रहा हो, तो उसका व्यवहार उद्वेगी और आवेगशील हो जाता है। इसी तरह जो व्यक्ति ईर्ष्यालु होता है, वह दूसरों पर संदेह का भाव सदैव रखता है।

iii) आकांक्षा व उपलब्धि संबद्ध निर्धारक

व्यक्ति की आकांक्षा और उपलब्धि से संबंधित कारक व्यक्तित्व के निर्धारक में महत्वपूर्ण होते हैं। व्यक्ति द्वारा अपनी वर्तमान स्थिति से ऊपर और अधिक प्राप्त करने की इच्छा रखता है, तो मनोविज्ञान में इसे आकांक्षा कहा जाता है। जब व्यक्ति को किसी कार्य में सफलता हासिल होती है, तो वह संबंधित व्यक्ति की उपलब्धि मानी जाती है। यदि इसके

ज्ञान शांति मैत्री

विपरीत व्यक्ति को किसी कार्य में असफलता मिली हो, तो वह निराश हो जाता है। इसका प्रभाव उसके व्यक्तित्व पर पड़ता है।

3. पर्यावरणीय निर्धारक

इन निर्धारकों से आशय उन कारकों से है, जो व्यक्ति के जीवन काल में व्यक्तित्व की दिशा और मात्रा पर प्रभाव डालते हैं। इसमें शामिल कारक निम्नलिखित हैं–

i) सामाजिक निर्धारक

प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी समाज से अंतर्संबंधित रहता है। साथ ही जीवन के प्रत्येक पड़ाव पर समाज द्वारा कुछ विकासात्मक कार्यों को निर्धारित किया जाता है और इन कार्यों से व्यक्ति द्वारा कुछ सीखने की आशा की जाती है। इससे व्यक्ति का सामाजीकरण होता है और वह अपनी सामाजिक भूमिका के बारे में संज्ञान कर पाता है। जब किसी व्यक्ति का व्यवहार सामाजिक प्रत्याशा के अनुरूप होता है तो उसे समाज द्वारा पर्याप्त स्वीकृति मिलती है। इससे उसके व्यक्तित्व का विकास होता है।

ii) पारिवारिक निर्धारक

प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी परिवार का सदस्य होता है। व्यक्ति के परिवार में जीवन व्यतीत करने के कारण परिवार का व्यक्तित्व निर्धारण में महत्वपूर्ण योगदान होता है। परिवार का सदस्यों पर नियंत्रण होता है और परिवार भावनात्मक तौर पर भी सदस्य से संबद्ध रहता है। परिवार अपने सदस्यों के व्यक्तित्व को प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों रूपों में प्रभावित करता है। प्रत्यक्ष रूप में, अनेक प्रकार की लालन-पालन प्रविधियों को इस्तेमाल करके और सदस्यों के आपसी संचार के माध्यम से व्यक्तित्व निर्मित किया जाता है। वहीं परोक्ष रूप से, परिवार कुछ लोगों की मनोवृत्तियों और व्यवहारों के अनुकरण हेतु सदस्य को प्रेरित करता है। इस प्रकार से परिवार की भूमिका व्यक्तित्व के निर्धारण में महत्वपूर्ण रही है।

iii) शैक्षिक निर्धारक

परिवार द्वारा सबसे पहले बालक का समाजीकरण किया जाता है और उसकी आरंभिक शिक्षा परिवार द्वारा ही प्रदान की जाती है। इसके बाद की शिक्षा स्कूल और विद्यालयों में प्रदान की जाती है। मनोवैज्ञानिकों द्वारा किए गए शोधों से से यह पता चला है कि शिक्षण संस्थाओं और उनसे संबंधित कारकों का व्यक्तित्व निर्धारण में महत्वपूर्ण योगदान होता है।

ज्ञान शांति मैत्री

1.5 सारांश

इस इकाई में व्यक्तित्व के अर्थ और परिभाषाओं के बारे में विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। साथ ही व्यक्तित्व के उपागमों के बारे में विवरण प्रस्तुत किया गया है। इस इकाईके अंत में व्यक्तित्व के निर्धारकों पर प्रकाश डाला गया है। आशा है कि ये विवरण आपके अध्ययन के लिए उपयोगी सिद्ध होंगे।

1.6 बोध प्रश्न

बोध प्रश्न 1: व्यक्तित्व की अवधारणा क्या है? अर्थ सहित स्पष्ट करें।

बोध प्रश्न 2: व्यक्तित्व के उपागमों के बारे में विवरण प्रस्तुत कीजिए।

बोध प्रश्न 3: व्यक्तित्व के निर्धारकों के बारे में वर्णन कीजिए।

1.7 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

हाल, जी.सी., लिंडजे, जी. *एवं कैम्पबेल, जे.सी. (1998).* (चौथा संस्करण). थियरिज ऑफ पर्सनालिटी, न्यूयॉर्क: विले

आलपोर्ट, जी.डबल्यू. (1961). *पैटर्न एंड ग्रोथ इन पर्सनालिटी.* न्यूयॉर्क: राइन हार्ट एंड विंस्टनइंक

जिम्बार्डो, पी.जी. एवं वेबर, *ए.एल. (1997). साइकोलोजी.* न्यूयॉर्क: हार्पर कॉलिन्स कॉलेज पब्लिशर

व्हाइट, डबल्यू.ए. (1926), द *लैंग्वेज ऑफ सिज्योफ्रेनिया.* शिकागो: आरकाई ऑफ न्यूरोलोजी

वर्मा, र.स. (1981). *नैदानिक मनोविज्ञान.*आगरा: विनोद पुस्तक मंदिर

मिश्र, पी.डी. एवं मिश्र, बी. (1882). *असामान्य व्यवहार.* लखनऊ: उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान

श्रीवास्तव, आर. (2008). *व्यक्तित्व मनोविज्ञान.* वाराणसी: मोतीलाल बनारसीदास

सिंह, अ.क. (2001). *आधुनिक असामान्य मनोविज्ञान.* वाराणसी: मोतीलाल बनारसीदास

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई 2

व्यक्तित्व विकास की अवस्थाएँ

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 व्यक्तित्व विकास की अवस्थाएँ
2.3 फ्रायड का व्यक्तित्व विकास का अवस्था सिद्धांत
2.4 एरिक्सन का व्यक्तित्व विकास का अवस्था सिद्धांत
2.5 पियाजे का व्यक्तित्व विकास का अवस्था सिद्धांत
2.6 सारांश
2.7 बोध प्रश्न
2.8 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप–

- व्यक्तित्व के विकास की अवस्थाओं को समझा सकेंगे।
- व्यक्तित्व के विकास के अन्य पहलुओं पर चर्चा कर सकेंगे।
- फ्रायड, एरिक्सन और पियाजे की विचारधारा के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

ज्ञान शांति मैत्री

2.1 प्रस्तावना

व्यक्तित्व का विकास एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। व्यक्तित्व के विकास की प्रक्रिया जन्म के कुछ समय पश्चात से ही आरंभ हो जाती है। हालांकि कुछ मनोवैज्ञानिकों द्वारा इसे जन्म के पूर्व ही प्रारंभ होने वाली प्रक्रिया के रूप में विश्लेषित किया है। यह प्रक्रिया निरंतर कई अवस्थाओं से होकर चलती रहती है। इस इकाई में इन्हीं अवस्थाओं पर विस्तार से चर्चा की जा रही है।

2.2 व्यक्तित्व विकास की अवस्थाएँ

कुछ मनोवैज्ञानिकों द्वारा जन्म के पूर्व से ही व्यक्तित्व के विकास की चर्चा की है इस संबंध में जन्म से पूर्व के विकास के स्तर निम्न उल्लेखित किए जा रहे हैं–

1. **रचनात्मक काल**

सामान्य तौर पर यह काल पूर्वप्रसव के 266 दिन तक माना जाता है। इसकी अवधि गर्भधारण के पूर्व वाले मासिक धर्म से 280 दिन मानी जाती है। कोशिका का गर्भधारण के पश्चात निरंतर विभाजन होता रहता है। बाद में ये कोशिकाएँ गोले के रूप में तीन परतों का निर्माण करती हैं। सबसे बाहरी परत का संबंध नाड़ी तंत्र और ज्ञानेंद्रियों से होता है, मध्य परत का संबंध पेशियों, अस्थि पंजर व रुधिर वाहनियों से होता है तथा आंतरिक परत से विविध अंगों की संरचना बनती है। निषिक्त के दूसरे सप्ताह में भ्रूण तैयार हो जाता है और इसका हृदय गर्भाधान के तीन सप्ताह बाद गतिमान हो जाता है।

2. भ्रूण काल

प्रसव के पूर्व छठे सप्ताह से पहले कुछ रचनाओं का विकास आरंभ हो जाता है, तीसरे सप्ताह में न्यूराल ट्यूब विकसित हो जाता है। एक महीने के अंत तक भ्रूण लंबा हो जाता है और माता को इसका आभास हो जाता है। उसके स्तनों में भारीपन आने लगता है, उसे सिरदर्द, जुकाम की समस्या होने लगती है। दूसरे महीने तक सभी अंग विकसित होने लगते हैं।

3. फेटेल काल

यह काल प्रसव के पूर्व आठ सप्ताह से प्रसव तक का होता है। इसमें सभी रचनाएँ विकसित हो जाती हैं। छह महीने में शरीर के सभी अंगों का विकास हो जाता है। सातवें महीने में बच्चा 15 इंच लंबा और आठवें महीने में वह 16 इंच लबा हो जाता है। यह काल बच्चे के जन्म के साथ ही समाप्त हो जाता है।

नवजात शिशु विकास

नवजात शिशु के पैर जन्म के समय उसके हाथों से छोटे होते हैं। नवजात शिशु में कुल 270 हड्डियाँ होती हैं और आगे चलकर इसकी संख्या बढ़ जाती हैं। छह महीने की उम्र में लगभग 20 दांत निकाल आते हैं, जो सामान्यतः अस्थायी होते हैं। छह वर्ष की उम्र में बच्चे का पहला स्थायी दांत निकाल जाता है। 13-14 वर्ष की उम्र में लगभग सभी दांत निकाल ही जाते हैं और साथ ही 20-35 वर्ष की उम्र में विवेक दांत भी निकाल जाते हैं।

गामक विकास

सामान्य तौर पर बालकों में तीन प्रकार की गामक प्रतिक्रियाएँ होती हैं–

- अनियमित प्रतिक्रियाएँ
- विशिष्ट प्रत्युत्तर
- जटिल व्यवहार प्रत्युत्तर

बालक की पहले दो वर्ष में गामक विकास में निम्न अवस्थाएँ शामिल आती हैं–

1. **प्रथम श्रेणी-** बालक का ठोढ़ी उठाना, छाती उठाना, कदम बढ़ाना, घुटने सीधे करना, गोद में बैठना।
2. **द्वितीय श्रेणी-** अकेले बैठना, घुटने मारना, किसी वस्तु के सहारे खड़ा होना, अत्यंत अल्प समय के लिए बिना सहारे के बैठना।
3. **तृतीय श्रेणी-** पेट के सहारे चलना।
4. **चतुर्थ श्रेणी-** सहारे से खड़ा होना, रेंगना और सहायता लेकर चलना।
5. **हस्तकौशल का विकास-** 24 सप्ताह तक बालक पकड़ने लगता है और 28 सप्ताह में पंजों के सहारे से पकड़ने लगता है। धीरे-धीरे यह विशिष्टता विकसित होती जाती है।
6. **गमन विकास-** चलने की प्रक्रिया में चार स्तर होते हैं, जो इस प्रकार हैं–
   - पीठ के बल ऊपर उठना
   - स्वतंत्र बैठना
   - स्वतंत्र खड़े होना
   - स्वतंत्र चलना

संवेगात्मक विकास

माइक्डुगल का मानना है कि प्राथमिक प्रेरणाएँ हमेशा संवेगात्मक होती हैं। 14 मूल प्रवृत्तियों के 14 संवेग होते हैं–

क्रमांक	मूल प्रवृत्तियाँ	मूल संवेग
1.	पलायन प्रवृत्ति	भय
2.	संघर्ष	क्रोध
3.	जिज्ञासा	कौतूहल भाव
4.	आहारान्वेश	भूख
5.	पितृय प्रवृत्ति	वात्सल्य
6.	सामूहिकता	एकाकीपन
7.	विकर्षण	विकर्षण भाव
8.	काम	कामुकता
9.	स्वाग्रह	आत्महिनता
10.	आत्म गौरव	आत्माभिमान
11.	संचय	अधिकार भाव
12.	याचना वृत्ति	करुणा
13.	रचनावृत्ति	कृतिभाव

ज्ञान शांति मैत्री

14.	हंसी	आमोद

बालक के चार वर्ष की उम्र से ही क्रोध, कष्ट, रुदन आदि में अंतर दिखाई देने लगताहै। प्रथम वर्ष की उम्र में चीख और रोने की अभिव्यक्ति को सरलता से जाना जा सकता है। धीरे-धीरे उसमें सभी संवेग स्पष्ट होने लगते हैं।

स्मृति विकास

बालक शुरू से ही अपने अनुभवों को संकलित करता रहता है। अनुभव से स्मृति विकसित होती है। इसके प्रमुख तीन भाग हैं–

- स्मरण करना
- धारण करना
- अभिज्ञान करना

स्मरण प्रक्रिया निम्न तत्वों से प्रभावित होती है–

- मानसिक तत्परता
- रुचि
- निश्चय
- उत्तेजित मनःस्थिति
- समझ
- बौद्धिक विकास
- थकान

ज्ञान शांति मैत्री

बुद्धि का अभिप्राय अन्वेषण, वस्तु बोध, दिशा-निर्देश और आलोचनात्मक कुशलता से है। थाईडाइक द्वारा बुद्धि को तीन भागों में वर्गीकृत किया गया है –

1. सामाजिक बुद्धि, यह बुद्धि व्यक्तियों को समझने तथा उनके साथ व्यवहार करने की कुशलता से संबंधित होती है।
2. मूर्त बुद्धि यह बुद्धि वस्तुओं की पहचान करने और उनके उपयोग की योग्यता से संबंधित होती है।
3. अमूर्त बुद्धि

भाषा विकास

बालक आरंभ में अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति और उन्हें अभिव्यक्त करने के लिए चीखने की क्रिया का उपयोग करता है। धीरे-धीरे उसकी ध्वनि में परिवर्तन आता है और उसके उद्देश्य स्पष्ट होने लगते हैं। जब बालक दो महीने का हो जाता है तो वह कुछ अस्पष्ट उच्चारण करने लगताहै। छह महीने का हो जाने पर बालक कुछ उच्चारण करने लगता है, यथा – माँ, ना, डा आदि। एक वर्ष की आयु में बालक शब्दों का प्रयोग करने लगता है और 18 महीने की उम्र में वह बहुत से शब्दों के उच्चारण करने लगता है। दो वर्ष की उम्र में उसके पास लगभग 200 शब्दों का संग्रह होता है और सात वर्ष की उम्र तक उसके पास कुल 16,000 शब्दों का संग्रह हो जाता है। भाषा के विकास में निम्नलिखित कारक उल्लेखनीय भूमिका में होते हैं –

1. शारीरिक दशा

बालक में भाषा के समुचित विकास के लिए यह आवश्यक है कि शरीर के अंग, जैसे- नाक, मुंह, जीभ, कान आदि सामान्य हों। यदि ये अंग सामान्य नहीं रहे तो भाषा का उचित विकास हो पाना दुष्कर है।

2. बुद्धि

भाषा और बुद्धि का संबंध बहुत गहरा होता है। यदि बालक तीव्र बुद्धि वाला है तो वह भाषा का उपयोग आसानी और शीघ्रता से कर लेगा। परंतु इसके विपरित यदि वह मंद बुद्धि का है तोभाषा के प्रयोग में विलंब होगा।

3. यौन भेद

सामान्य तौर पर यह देखा गया है कि लड़कियां, लड़कों की तुलना में शीघ्र ही भाषा का प्रयोग करना आरंभ कर देती हैं तथा उनके शब्दों का अधिक विस्तार होता है। उनके वाक्यों में तुलनात्मक रूप से कम गलतियाँ रहती हैं। इसके अलावा लड़कियां स्मरण करने में भी तेज़ होती हैं।

4. सामाजिक वातावरण

वातावरण का प्रभाव बालक के भाषा पर प्रत्यक्ष रूप से पड़ता है। यदि बालक की सभी आवश्यकताएँ संकेतों के माध्यम से ही पूरी हो जाती हैं तो वह भाषा के प्रयोग से बचने का प्रयास करेगा। घर में एक से अधिक भाषाओं के प्रयोग किए जाने से भी बालक को भाषा के प्रयोग में समस्या आ सकती है। इसके अलावा भाषा के विकास को आर्थिक दशाएँ भी प्रभावित करती हैं।

2.3 फ्रायड का व्यक्तित्व विकास का अवस्था सिद्धांत

संभवतः फ्रायड ने सबसे पहले विकास की अवस्था सिद्धांत का प्रतिपादन किया। इनकामानना व्यक्तित्व के निर्माण में 5-6 वर्ष तक की अवधि का महत्वपूर्ण योगदान होता है। इनके द्वारा प्रस्तुत विकास की अवस्थाओं के बारे में यहाँ विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है-

1. मुखावस्था

यह अवस्था जन्म से एक वर्ष के दौरान होती है। इसमें बालक का कामुकता क्षेत्र मुंह होता है और मुंह से की गई क्रियाओं से आनंद का अनुभव करता है। इन क्रियाओं में चूसना, जीभ चटपना, निगलना आदि होती हैं। फ्रायड का मानना है कि मुखवर्ती उत्तेजन की अधिकता अथवा कमी व्यक्तित्व को प्रभावित करती है। मुखवर्ती उत्तेजन दो प्रकार से व्यक्तित्व के विकास को प्रभावित करता है– पहला, मुखवर्ती निष्क्रिय व्यक्तित्व और दूसरा, मुखवर्ती आक्रामक व्यक्तित्व। मुखवर्ती निष्क्रिय व्यक्तित्व से संबंधित व्यक्ति आशावादी प्रकृति के होते हैं और वे दूसरों को समान्यतः अधिक विश्वासपात्र समझते है, जबकि मुखवर्ती आक्रामक व्यक्तित्व से संबंधित व्यक्ति प्रभुत्वशाली और शोषणकारी प्रवृत्ति के होते हैं।

2. गुदावस्था

यह अवस्था बालक की 2 से 3 वर्ष की आयु तक की होती है। अब बालक का कामुकता क्षेत्र मुंह के स्थान पर गुदा क्षेत्र हो जाता है। बालक मल-मूत्र त्यागने से जुड़ी क्रियाओं में आनंदित होने लगता है। इसमें स्थिरण पर दो प्रकार के व्यक्तित्व का विकास होता है– पहला, गुदा धारणात्मक व्यक्तित्व और दूसरा, गुदा आक्रात्मक व्यक्तित्व। गुदा धारणात्मक व्यक्तित्व से संबंधित व्यक्ति हठधर्मी, कंजूस, समय निष्ठ आदि गुण वाला होता है, जबकि गुदा आक्रात्मक व्यक्तित्व से संबंधित व्यक्ति क्रूर, विद्वेषी आदि गुण वाला होता है।

3. लिंग प्रधानावस्था

यह अवस्था 4 से 5 वर्ष के मध्य की है। इसमें कामुकता का क्षेत्र जनेंद्रिय होते हैं। फ्रायड का मत है कि लड़के में मातृ-मनोग्रंथि और लड़की में पितृ-मनोग्रंथि का विकास हो जाता है। मातृ-मनोग्रंथि में लड़का अचेतन रूप में अपनी माता से लैंगिक प्रेम की आशा करता है और अपने पिता से ईर्ष्या करता है। वहीं इसके विपरीत लड़की अपने पिता से मातृ-मनोग्रंथि लैंगिक प्रेम की आशा करती है और अपनी माता से ईर्ष्या करती है। इसके अलावा लड़के को पिता से अपने लिंग को काट दिए जाने का डर सताता रहता है (बंधियाकरण चिंता) और लड़की को अपनी माता से अपने लिंग के वंचित कर दिए जाने का डर रहता है (लिंग-ईर्ष्या)। इन मनोग्रंथियों के सफल समाधान से व्यक्तित्व विकास प्रभावित होता है। फ्रायड का मानना है कि यदि लड़का इस अवस्था पर आबद्ध हो जाता है, तो आगे उसमें उतावलापन, उच्चाकांक्षा, शेखीबाजी जैसे गुण विकसित हो जाते हैं, जबकि लड़की में इश्कबाजी, सम्मोहकता जैसे गुणों का विकास हो जाता है।

4. अव्यक्तवस्था

यह अवस्था 6 से 12 वर्ष तक रहती है। इसमें बालक में किसी प्रकार का कामुकता क्षेत्र विकसित नहीं होता है। इसके साथ ही लैंगिक इच्छाएँ भी समाप्त हो जाती हैं। फ्रायड के अनुसार इस

अवस्था में बालक आनंद अलैंगिक क्रियाओं से प्राप्त करता है यथा –चित्रकारी, शिक्षा, खेल-कूद आदि।

5. जननेंद्रियावस्था

यह अवस्था 13 वर्ष कि आयु से निरंतर क्रियाशील रहती है। किशोरावस्था में व्यक्ति अपने ही यौन के लोगों के साथ मिलना-जुलना प्रारंभ कर देता है। फ्रायड ने इसे समलिंग कामुकता कहा है। वयस्क होने पर व्यक्ति विपरीत लिंग की ओर आकर्षित होने लगता है। इस अवस्था में व्यक्तित्व शारीरिक, मानसिक और सामाजिक रूप से परिपक्व हो जाता है।

2.4 एरिक्सन का व्यक्तित्व विकास का अवस्था सिद्धांत

एरिक्सन ने व्यक्तित्व विकास का मनोवैज्ञानिक सिद्धांत प्रस्तुत किया है। इन्होंने विकास की आठ अवस्थाओं का प्रतिपादन किया है, जो इस प्रकार हैं –

1) शैशवावस्था

यह अवस्था जन्म से एक वर्ष तक रहती है। इस अवस्था में उत्तम मातृक देखभाल के कारण शिशु के व्यक्तित्व में आस्था अथवा विश्वास जैसे धनात्मक गुण विकसित होते हैं। इसके विपरीत यदि पर्याप्त मातृक देखभाल नहीं की जाए, तो शिशु में अविश्वास के भाव विकसित हो जाते हैं।

2) प्रारंभिक अवस्था

यह अवस्था दो से तीन साल तक की होती है। यदि शिशु में विश्वास अथवा आस्था का गुण विकसित हो गया है तो इस अवस्था में स्वतंत्रता और आत्म-नियंत्रण जैसे गुण विकसित होते हैं। परंतु जब माता-पिता शिशु को छोटा समझकर उसे किसी कार्य को करने से रोक देते हैं, तो उसमें लज्जाशीलता की भावना पनपने लगती है। इस कारण से बालक में कई मनोवैज्ञानिक मनोवृत्तियाँ विकसित होने लगती हैं, यथा– शक करना, व्यर्थ के कार्यों में संलिप्तता आदि।

3) खेल अवस्था

यह अवस्था 4 से 6 वर्ष तक होती है। इस अवस्था में बालक अन्य बालकों के साथ सामाजिक खेल-कूद में भाग लेने लगते हैं। परंतु जब माता-पिता द्वारा बालक को खेलने के लिए अथवा घर से बाहर निकलने के लिए रोकने लगते हैं, तो इससे बालक में निष्क्रियता, लैंगिक नपुंसकता और अन्य मनोविकार पनपने लगते हैं।

4) स्कूल अवस्था

यह अवस्था 6 से 12 वर्ष तक रहती है। इसमें बालक औपचारिक शिक्षा के माध्यम से संस्कृति के आरंभिक कौशल सीख जाता है। इससे बालक का व्यक्तित्व प्रखर होता है और उनमें परिश्रम का भाव विकसित होता है। इसके विपरीत यदि कोई बालक अपने कुशलता में असफल हो जाता है तो उसमें हीनता की भावना विकसित होने लगती है।

5) किशोरावस्था

यह अवस्था 12 से 20 वर्ष की आयु तक की होती है। इसमें किशोर अपने अनुभवों के आधार पर आत्म-पहचान निर्मित करते हैं। इस प्रकार से उसमें संतोषजनक अहंपहचान का निर्माण होता है। यदि संतोषजनक अहं-पहचान का निर्माण नहीं हो पाता है तो उनमें उद्देश्यहीनता, व्यक्तिगत विघटन जैसे भाव विकसित हो जाते हैं। इससे उनमें ऋणात्मक पहचान का विकास हो जाता है।

6) तरुण वयस्कावस्था

यह 20 से 30 वर्ष के मध्य की अवस्था है। इसमें व्यक्ति सच्चे अर्थ में दूसरों के साथ सामाजिक और लैंगिक संबंध स्थापित कर पाता है। व्यक्ति सामान्य तौर पर घनिष्ठ संबंध विकसित करता है परंतु यदि वह घनिष्ठ संबंध नहीं बना पाया तो उसमें अलगाव की भावना का विकास हो जाता है और वह स्वयं में ही खोया रहने लगता है।

7) मध्य वयस्कावस्था

यह अवस्था 30 से 60 वर्ष तक की अवधि तक रहती है। इसमें व्यक्ति आने वाली पीढ़ी के लिए कल्याणकारी कार्य करता है और उनकी उन्नति हेतु विचारशील रहता है। इसे जननात्मकता की भावना कहा जाता है। यदि जननात्मकता का भाव उत्पन्न ना हो तो व्यक्ति अपने आप में ही संलिप्त हो जाता है और वह वह अपनी ही आवश्यकताओं व सुख-सुविधाओं की पूर्ति में लगा रहता है।

8) परिपक्वता

यह अंतिम अवस्था है और 65 वर्ष से मृत्युपर्यंत रहती है। इसमें व्यक्ति पूर्व की घटित घटनाओं के संदर्भ में आत्म-मूल्यांकन करता है। यहाँ उसे अहंसंपूर्णता की भावना विकसित हो जाती है। इसके अलावा व्यक्ति अपनी असफलताओं के लिए चिंतित भी रहता है तथा यह चिंता उसमें निराशा की भावना को पैदा करती है।

2.5 पियाजे का व्यक्तित्व विकास का अवस्था सिद्धांत

पियाजे ने व्यक्तित्व के विकास की अवस्थाओं को चार भागों में वर्गीकृत किया है–

1. संवेदी-पेशीय अवस्था

संवेदी-पेशीय अवस्था जन्म से दो वर्ष तक की होती है। इसमें शिशु शारीरिक रूप से वस्तुओं को पहचानने का प्रयास करना, उन्हें पकड़ना, उसे मुंह में डालना आदि प्रकार की क्रियाओं से उनका संज्ञान करता है। किसी वस्तु के सामने रहने तक ही उसकी स्मृति में वह रहती है, वस्तु सामने न होने पर शिशु उसकी खोज नहीं करता है।

2. प्राक्-क्रियात्मक अवस्था

यह अवस्था 2 से 7 वर्ष तक की होती है। इसमें बालक वस्तु, प्रतिमा, शब्द आदि के बारे में समझ विकसित करने लगता है। समझ के साथ ही बालक चिंतन और अपने उपयोग हेतु वस्तुओं का प्रयोग करना भी आरंभ कर देता है। इसे पियाजे ने लाक्षणिक कार्य की संज्ञा दी है। इस अवस्था के अंत तक बालक में अंदर्शी चिंतन का विकास हो जाता है। इस प्रकार के चिंतन में कोई क्रमबद्ध तर्क निहित नहीं होता है।

3. **ठोस संक्रिया की अवस्था**

यह अवस्था 7 से 12 वर्ष तक की होती है। इसमें बालक ठोस वस्तुओं के आधार पर मानसिक संक्रियाएँ करके समस्या-निवारण करने की कुशलता विकसित कर लेता है। यह चिंतन पहले की तुलना में अधिक तर्कसंगत रहता है। इस अवस्था के अंत तक व्यक्तित्व संरक्षण,संबंध, वर्गिकरण आदि से संबंधित समस्या-निवारण की कुशलता का विकास हो जाता है।

4. **औपचारिक संक्रिया की अवस्था**

यह अवस्था 12 वर्ष की आयु से आरंभ होकर मृत्युपर्यंत रहती है। इसमें व्यक्ति के व्यक्तिव में क्रमबद्धता के गुण का विकास होता है और उसका चिंतन अधिक लचीला और प्रभावी हो जाता है। इस अवस्था में व्यक्ति में वस्तुनिष्ठता और वास्तविकता और भी प्रखर होती है।

2.6 सारांश

प्रत्येक व्यक्ति की एक जीवन-शैली होती है, जिसका विकास ही यह तय करता है कि समाज में अन्य की तुलना में आपकी प्रस्थिति क्या है? यह प्रयास प्रायः पाँच वर्ष की उम्र से आरम्भ हो जाता है। व्यक्तित्व विकास निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है और यह जन्म से लेकर मृत्यपर्यंत चलता है। इस इकाई में फ्रायड, एरिक्सन और पियाजे द्वारा प्रतिपादित किए गए व्यक्तित्व विकास की अवस्था के बारे में भी वर्णन प्रस्तुत किया गया है।

ज्ञान शांति मैत्री

2.7 बोध प्रश्न

बोध प्रश्न 1: व्यक्तित्व के विकास की अवस्थाओं का वर्णन कीजिए।

बोध प्रश्न 2: फ्रायड के व्यक्तित्व के विकास की अवस्थाओं के बारे में विवेचन प्रस्तुत कीजिए।

बोध प्रश्न 3: एरिक्सन के व्यक्तित्व के विकास की अवस्थाओं पर प्रकाश डालिए।

बोध प्रश्न 4: पियाजे के व्यक्तित्व के विकास की अवस्थाओं को स्पष्ट कीजिए।

2.8 संदर्भ एवं उपयोगी पुस्तकें

कोलमैन, जे. (1960). *पर्सनाल्टी-साइकोलोजिकल-इंटरप्रेटेशन.* न्यूयॉर्क: हेनरी हॉल्ट एंड कंपनी

आलपोर्ट, जे.डबल्यू. (1961). *पैटर्न एंड ग्रोथ इन पर्सनाल्टी.* न्यूयॉर्क: राइन हार्ट एंड विंस्टन-इंक

केसलर, जे. (1966). *साइकोपैथालोजी ऑफ चाइल्डहुड.* इंग्लैंड क्लिप्स, न्यूयॉर्क: प्रेंटिस हॉल

मिश्र, पी.डी. (2010). *व्यक्ति और समाज.* लखनऊ: न्यू रॉयल बुक कंपनी

इकाई 3

जीवन अवधि

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 जीवन अवधि

3.3 जीवन अवधि: शाब्दिक अर्थ

3.4 जीवन अवधि-विकास

3.5 जीवन अवधि-विकास की विशेषताएं

3.6 विकास की प्रक्रियाएं: जैविकीय, संज्ञानात्मक तथा सामाजिक-भावनात्मक

3.7 विकास की अवस्थाएं

3.8 सारांश

3.9 बोध प्रश्न

3.10 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप -

1. जीवन अवधि की अवधारणा को समझ सकेंगे।
2. जीवन अवधि-विकास की विशेषताओं को समझ सकेंगे।
3. जीवन अवधि-विकास की प्रक्रियाओं से अवगत होंगे।
4. जीवन अवधि-विकास में शामिल विकास की विभिन्न अवस्थाओं का सिंहावलोकन कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

मनोविज्ञान के उदय के बाद व्यक्ति के व्यक्तित्व को विभिन्न तरीकों से समझने की लगातार कोशिश जारी रही है। इस खंड के अन्य इकाइयों में हमने व्यक्तित्व के विभिन्न सिद्धांतों को समझा है। प्रत्येक सिद्धांत अपने आप में महत्वपूर्ण है, किंतु जब एकत्रित रूप से किसी सेवार्थी को समझने की बात होती है तब इन सिद्धांतों के अलावा व्यावहारिक तथा अन्य ज्ञानानुशासनों का सहारा भी हमें लेना पड़ता है। ऐसे में व्यक्ति को समझने के लिए किसी एकांगी दृष्टिकोण नहीं, बल्कि उसको समग्रता से समझना ज़्यादा ज़रूरी बन जाता है। मनोविज्ञान के विभिन्न व्यक्तित्व सिद्धांत हमें व्यक्ति के व्यक्तित्व के किसी ख़ास पहलू या किसी ख़ास दृष्टिकोण पर ज़्यादा ज़ोर देते हुए नज़र आते हैं। जैसे- फ्रायड का व्यक्तित्व विकास का सिद्धांत 'मनोलैंगिक विकास' को दर्शाता है, पियाजे का सिद्धांत 'संज्ञानात्मक विकास' को दर्शाता है, और

एरिक्सन का सिद्धांत 'मनोसामाजिक विकास' को दर्शाता है। यह ख़ास सिद्धांत एक विशेष दृष्टिकोण पर बल देते हैं, किंतु व्यवहार में इन सिद्धांतों के आधार पर किसी व्यक्ति के व्यक्तित्व को समझना काफ़ी कठिन कार्य हो सकता है। ऐसे में किसी व्यक्ति के विकास को समझने के लिए उसकी जीवन अवधि (Life Span) को समझना अनिवार्य शर्त बन जाती है। जीवन अवधि व्यक्ति तथा उसके विकास को समझने का एकत्रित दृष्टिकोण प्रदान करता है। जीवन से मृत्यु तक उसके विकास को समझने के लिएइस दृष्टिकोण की ज़्यादा आवश्यकता है। इसलिए समकालीन मनुष्यों के जीवन अवधि-विकास को समझने के लिए इस विशेष विकासात्मक परिप्रेक्ष्य की आवश्यकता बढ़ जाती है।

इस इकाई में हम जीवन अवधि, जिसे हम आम तौर पर जीवन चक्र के रूप में समझते हैं, का अध्ययन करेंगे। इसके लिए हम जीवन अवधि के विभिन्न पहलुओं तथा इसमें शामिल विभिन्न अवधारणाओं को समझेंगे।

3.2 जीवन अवधि (Life Span)

बीसवीं शताब्दी के शुरुआत तक मानवीय विकास को एक ख़ास दृष्टिकोण से देखा जाता था, जिसमें यह माना जाता था कि मनुष्य का विकास केवल वयस्कावस्था तक ही होता था, किंतु उसके बाद बदले हुए परिदृश्य में विभिन्न कारकों, जैसे- चिकित्सा ज्ञान, न्यूट्रीशन, स्वच्छता आदि के कारण मनुष्य की जीवन प्रत्याशा (Life Expectancy) में बढ़ोतरी हुई। इस कारण बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में नई संकल्पनाओं का उभार हुआ, जिसमें मनुष्य के विकास को फिर से देखा जाने लगा, पुराने स्टीरियोटाइप सिद्धांतों पर प्रश्नचिन्ह लगाया जाने लगा। नए शोधकर्ताओं का मानना था कि हमें मनुष्य को देखने का नज़रिया बदलना चाहिए, क्योंकि वह बदल चुका है। यह माना जाने लगा कि मनुष्य का विकास गत्यात्मक है। जैविक, मनोवैज्ञानिक (संज्ञानात्मक) तथा सामाजिक प्रभावकों के जटिल जाल (Comlex Network) द्वारा इसकी प्रक्रिया उसके अंत तक चलती रहती है (Berk, 2007, p. 8)। इन परिघटनाओं के सकेंद्रण से ही जीवन अवधि परिप्रेक्ष्य का सूत्रपात होता है, जिसमें मनुष्य के विकास को किसी विशेष अवस्था से मुक्त कर जीवन से मृत्यु तक गतिशीलता में परिवर्तित कर दिया जाता है।

जीवन अवधि: शाब्दिक अर्थ

मरियम वेबस्टरस शब्दकोश (2016) के अनुसार *Life Span* शब्द की उत्पत्ति 1898 के आस-पास हुई होगी। इसके समानार्थी शब्द जैसे *Longevity* तथा *Spell* जीवन अवधि की जगह पर अक्सर उपयोग में लाए जाते हैं। भले ही यह शब्द एक जैसे अर्थ में उपयोगरत हो इसके बावजूद *Life Span* मानवीय विकास की गत्यात्मकता को दर्शाने के लिए महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। *मरियम वेबस्टरस शब्दकोश (2016)* के अनुसार *"वास्तव में किसी व्यक्ति या पशु के जीवन समय की मात्रा या योग ही जीवन अवधि है।"*

सामान्य शब्दों में कहे तो जीवन अवधि से तात्पर्य है, *एक व्यक्ति के अस्तित्व की अवधि।* एक निर्दिष्ट परिस्थितियों या एक विशेष वातावरण में जीव के जीवन की औसत अवधि ही जीवन अवधि है। एक

तरह से जीवन अवधि व्यक्ति की अधिकतम आयु वर्ष संख्या है, जहां तक वह संभावित रूप से जीवन की उम्मीद करता है। उदाहरण के लिए भारत में हिंदू धर्म के अनुसार यह संभावना थी कि प्रत्येक व्यक्ति 100 वर्ष तक जीवित रहेगा? इसी आधार पर आश्रम व्यवस्था का निर्धारण भी किया गया था। इसे देखते हुए भारतीय लोगों में यह आम राय है कि मनुष्य की जीवन अवधि 100 वर्ष है। यह विशेष भौगोलिक क्षेत्रों तथा संस्कृति विशेष में अलग-अलग भी हो सकती है। यहां हमे थोड़ा सजगता से काम लेना होगा, क्योंकि अगर मैं यह कह रहा हूँ कि 100 वर्ष जीवन अवधि है, तो यह किसी एक व्यक्ति की जीवन अवधि है, जिसने 100 वर्ष तक जीवन बिताया है, इसमें किसी अन्य व्यक्ति का किसी भी तरह का हस्तक्षेप नहीं हैं। इसलिए जीवन अवधि को हम एकल या व्यक्तिगत भी कह सकते हैं।

तब यह सवाल होना चाहिए कि जीवन प्रत्याशा क्या है? दरअसल जीवन प्रत्याशा जनगणना में उपयोग में लाई जाने वाली तकनीक हैं, जो मनुष्य जीवन के औसत आयु (Average Age) को संदर्भित करती है। सामान्य भाषा में कहे तो जीवन प्रत्याशा का संबंध व्यक्ति के प्रत्याशित आयु वर्ष से है जो सांख्यिकीय औसत पर निर्भर है। इस सांख्यिकीय औसत का निर्धारण संपूर्ण जनसंख्या के गुणनफल पर आधारित होता है। जीवन प्रत्याशा में वे लोग भी शामिल होते हैं, जो कम उम्र में ही मृत्यु को प्राप्त होते हैं तथा वे भी जो वृद्धावस्था तक जीवित रहते हैं। अर्थात जीवन प्रत्याशा सकल जनसंख्या की औसत आयु सीमा है, जिसमें कम आयु वर्ग से लेकर वृद्धावस्थातक के लोगों की मृत्यु को भी शामिल किया जाता है। मसलन भारत में लोगों की जीवन प्रत्याशा 65 वर्ष है, इससे तात्पर्य यह है कि यहाँ की जनसंख्या की औसत आयु 65 वर्ष है। हो सकता है कि कोई व्यक्ति 110 वर्ष तक जीवित रहा हो या कोई शिशु पैदा होने के बाद तुरंत मर गया हो ऐसे में इन दोनों के आयु वर्ष को एक साथ मिलाकर जीवन प्रत्याशा का निर्धारण होता है। किंतु जीवन अवधि में ऐसा नहीं होता, जीवन अवधि के अंतर्गत वह व्यक्ति शामिल होगा जो सबसे ज़्यादा समय तक अपना अस्तित्व संसार में बनाए रखता हो, जैसे- 110 आयु वर्ष की व्यक्ति जीवन अवधि में शामिल होगी। इसलिए इसे दीर्घजीवन के नाम से भी जाना जाता है।

3.4 जीवन अवधि-विकास

मनोविज्ञान में विकासात्मक मनोविज्ञान के अंतर्गत मानवीय विकास के सभी आयामों का अध्ययन लगातार किया जा रहा है। जैसे कि हमने शुरुआत में इस पर बातचीत की है कि जीवन अवधि एक परिप्रेक्ष्य है, जिसके अंतर्गत मानवीय विकास को समझने की कोशिश की जाती है। जैसे कि माना जाता है दिन-प्रतिदिन मनुष्य में बदलाव आ रहा है। इसे विकासात्मक मनोविज्ञान मानवीय विकास की गत्यात्मकता के रूप में देखता हैं। समकालीन, बदली हुई परिस्थितियों में मानवीय विकास की जांच पड़ताल करने हेतु जीवन अवधि-विकास की अवधारणा का विकास हुआ है। *मनोविज्ञान के क्षेत्र में मानवीय विकास को समग्रता का दृष्टिकोण दिलाने का कार्य जीवन अवधि-विकास परिप्रेक्ष्य के अंतर्गत किया जाता है। इसके लिए मनुष्य के विभिन्न आयाम, जैविकीय, संज्ञानात्मक तथा मनोसामाजिक शामिल हैं*(Boyd & Bee, 2009)।

बोयड एवं बी (Boyd and Bee, 2009) अपनी किताब *Lifespan Development* में लिखते हैं कि जीवन अवधि-विकास मनोविज्ञान क्या है? इसे परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि जीवन अवधि एक परिप्रेक्ष्य है जिसे मनोवैज्ञानिकों ने मानवीय विकास का अध्ययन करने के लिए हाल ही में स्वीकृति प्रदान की है, इस परिप्रेक्ष्य में विकास की प्रत्येक अवस्था के दौरान आने वाले महत्वपूर्ण बदलावों को संपोषित किया जाता है। इसके लिए आवश्यक है कि इन बदलावों को, जिस संदर्भ और संस्कृति में वह घटित हो रहें हैं, उसी की पदावली में उसे व्याख्यायित किया जाए।

बोयड एवं बी (Boyd and Bee, 2009) का कहना है कि जीवन अवधि उपागम के उदय से पहले मानवीय विकास का विषय बचपन तक ही सीमित होता था। इसी स्तर पर यह परिप्रेक्ष्य वयस्कावस्था में आने वाले महत्वपूर्ण बदलावों को समझने का परिप्रेक्ष्य प्रदान करता है, जो इसके पहले तक एकमात्र बचपन के बदलावों पर ही केंद्रित था। इससे यह स्पष्ट होता है कि जीवन अवधि मानवीय विकास के समग्र अध्ययन में रुचि रखता है।

3.5 जीवन अवधि-विकास की विशेषताएं

हाल ही में मानवीय जीवन प्रत्याशा में काफ़ी बढ़ोतरी हो रही है। विद्वानों का मानना है कि यही कारण है कि जीवन अवधि-उपागम को लोकप्रियता मिल रही है। जीवन अवधि-विकास की विशेषताओं पर विभिन्न विद्वानों ने अपनी बात रखी है। पॉल बाल्टस (Poul Baltes, 1987), बोयड एवं बी (Boyd and Bee, 2009) आदि के लेखन में जीवन अवधि-विकास की विशेषताओं का वर्णन मिलता है। इसे हम निम्नलिखित रूप में देख सकते हैं-

- ✓ आजीवन (Lifelong)
- ✓ सुघट्यता (Plasticity)
- ✓ बहुआयामी (Multi-dimentional)
- ✓ बहुदिशात्मक (Multi-directional)
- ✓ बहुअनुशासनिक (Multi-Disciplinary) तथा
- ✓ बहुप्रसंगता (Multi-contextual)

आजीवन (Lifelong) - जीवन अवधि परिप्रेक्ष्य के अंतर्गत प्रारंभिक वयस्कावस्था को ही विकास का चरम नहीं माना गया है। इतना ही नहीं, बल्कि यह परिप्रेक्ष्य विकास में किसी आयु सीमा, कालावधि को मानता ही नहीं हैं। जीवन से मृत्यु तक के अवधि में आने वाली प्रत्येक अवस्था को इसमें महत्वपूर्ण माना गया है।

सुघट्यता (Plasticity) – सुघट्यता से तात्पर्य उस परिवर्तन की क्षमता से है, जिसमें जीवन की कालावधि में किसी भी तरह की रुकावट न हो, इसमें वे सभी आयु के लोग शामिल हैं, जो अपने पर्यावरण के प्रति प्रतिक्रिया तथा उसे स्वीकार करने की योग्यता रखते हों। उदाहरण के लिए एक वृद्ध

ज्ञान शांति मैत्री

व्यक्ति अपने में बौद्धिक कौशल का विकास उस तरह से नहीं कर सकता, जैसे वह तीस की उम्र में करता था। किंतु संज्ञानात्मक मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि उस वृद्ध में वही स्किल बाद में उसी तरह से लाना मुमकिन भले ही न हो किंतु उत्तम नियोजन तथा प्रशिक्षण के माध्यम से उस वृद्ध में संज्ञामात्मक कौशलों को सुधारा जा सकता है।

बहुआयामी (Multi-dimentional)- व्यक्ति की आयु, शरीर, मन, भावनाएं तथा अन्य के साथ संबंध यह सब परिवर्तनीय है तथा इसका एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है। किसी व्यक्ति के विकासके निर्धारण में कोई एक ख़ास घटक या कारक महत्वपूर्ण नहीं होता है। जीवन अवधि उपागम के अनुसार व्यक्ति का विकास जैविकीय, संज्ञानात्मक तथा सामाजिक-भावनात्मक आयाम से होता है। इतना ही नहीं इन आयामों में बहुत सारे घटक शामिल होते हैं, उदाहरण के लिए संज्ञानात्मक आयाम में शामिल घटक हैं - अवधान, सामाजिक बौद्धिकता, मेमरी, संक्षेप विचार, जानकारी पर क्रिया करने की गति आदि।

बहुदिशात्मक (Multi-directional)- जीवन के कालावधि में कुछ आयाम या आयामों के कुछ घटकों का फैलाव होता है तो कुछ संकुचित हो जाते हैं। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि जीवन-कालावधि में विभिन्न दिशानिर्देश होते हैं, जिनमें से कुछ चुनाव कर बाकी की उपेक्षा हो जाती है। उदाहरण के लिए एक बालक/बालिका अपने बचपन में मातृभाषा को सीखते हैं, इसके लिए उनको काफ़ी जद्दोजेहद करनी पड़ती है। ऐसे में जब उसे द्वितीय या तृतीय भाषा सीखनी हो तो उसके विकास की गति निम्नतर हो जाने के कारण उसके लिए यह कार्य कठिन होगा। साथ ही हम देखते हैं कि किशोरावस्था में किशोर/किशोरियां अपने रोमांचकारी संबंधों की ओर ज़्यादा आकर्षित होते हैं ऐसे में बाकी दोस्तों के लिए वे समय कम ही दे पाते हैं। यह उदाहरण दर्शाते हैं कि व्यक्ति के जीवन में बहुत सारी दिशाएं होती है, जिसकी ओर वह आकर्षित होता है, उसका फैलाव होता है तथा जिसकी उपेक्षा होगी उसका सकुंचन। इसलिए विद्वानों का मानना है कि जीवन अवधि बहुदिशात्मक है।

बहुअनुशासनिक (Multi-Disciplinary)- इस विशेषता को इंगित करने वाले विद्वानों का मानना है कि विकासात्मक विज्ञान बहुअनुशासनिक है। मनोवैज्ञानिक, समाजशास्त्री, मानवशास्त्री, तंत्रिकाविज्ञानी, तथा मेडिकल रिसर्चर यह सब एक साथ मिलकर, अपने हितों को साझा करते हुए मानवीय विकास की गुत्थी को जीवन अवधि के माध्यम से सुलझा सकते हैं। अनुवांशिकी क्या है? इसे जानने के लिए मेडिकल साइंस की आवश्यकता होगी। वैसे ही मन क्या है? जानने के लिए मनोविज्ञान तथा व्यक्ति के सामाजिक संबंधों को जानने के लिए समाजशास्त्र की, ऐसे में किसी एक अनुशासन में सीमित रहकर मानवीय विकास को समझना ज़्यादा बेहतर नहीं होगा। इसलिए जीवन अवधि इन सीमाओं के बंधनों से परे बहुअनुशासनिकता की बात करता है।

बहुप्रसंगता (Multi-contextual)- यहाँ संदर्भ से तात्पर्य व्यक्तिगत तौर पर परिवर्तन है। बदलते संसार में व्यक्ति एक परिवर्तनशील प्राणी है। व्यक्ति का विकास किसी-न-किसी प्रसंग/संदर्भ या प्रतिवेश में ही घटित होता है। प्रतिवेश में शामिल है- परिवार, स्कूल, पीयर समूह, धर्मस्थल (मंदिर, मस्जिद, चर्च

आदि), शहर, पड़ोस, विश्वविद्यालय, प्रयोगशाला, देश ऐसे-वैसे बहुत सारे संदर्भ गिनाए जा सकते हैं। इसके बावजूद ऐतिहासिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक आदि कारक इन संदर्भों को प्रभावित करते रहते ही हैं। परिणामत: परिवर्तन आते रहते हैं। इसलिए जीवन अवधि-विकास के विद्वानों का मानना है कि विकास को किसी एक ख़ास संदर्भ/प्रसंग में समझने से बेहतर होगा कि हम उसे बहुसंदर्भों, बहुप्रसंगों में समझे।

इन विशेषताओं के बावजूद ऐसे कई कारक (जैसे- स्वास्थ्य, घरेलू देखभाल, शिक्षण, सामाजिक-सांस्कृतिक संदर्भ एवं विविधता, जेंडर, नृजातियता आदि) हैं, जिनसे संबंध स्थापित करते हुए जीवन अवधि के अंतर्गत विकास का अध्ययन किया जाता है। पॉल बाल्टस (Poul Baltes, 1987) के अनुसार जीवन अवधि परिप्रेक्ष्य के अंतर्गत इन विशेषताओं के बावजूद वृद्धि, संपोषण तथा क्षति का नियमन आदि प्रक्रियाएं भी शामिल है।

3.6 विकास की प्रक्रियाएं: जैविकीय, संज्ञानात्मक तथा सामाजिक-भावनात्मक

जैसे की हमने शुरुआत में ही बात की है कि इस उपागम के अंतर्गत मानवीय विकास को अलग दृष्टिकोण के अंतर्गत देखा जाता है। यहाँ विकास से तात्पर्य जीवन अवधि के अंतर्गत निरंतर परिवर्तन के स्वरूप की अवधारणा से है। परिवर्तन का स्वरूप जटिल होता है, क्योंकि इस अवधारणा के अंतर्गत यह मान्यता है कि मानवीय विकास जैविकीय, संज्ञानात्मक तथा सामाजिक-भावनात्मक प्रक्रियाओं का उत्पाद है।

जैविकीय प्रक्रियाएं- जैविकीय प्रक्रियाएं व्यक्ति के शारीरिक प्रकृति को उत्पादित करती हैं। इसमें शामिल विभिन्न प्रक्रियाएं, जैसे- माता-पिता से प्राप्त जीन्स, मस्तिष्क का विकास, उंचाई, वजन, तंत्र (Motor) कौशलों में परिवर्तन, न्यूट्रीशन, व्यायाम तथा यौवन (Puberty) में आने वाले हार्मोन्स बदलाव आदि, यह सब जैविकीय प्रक्रियाओं के उदाहरण है जो मानवीय विकास को प्रभावित करते हैं।

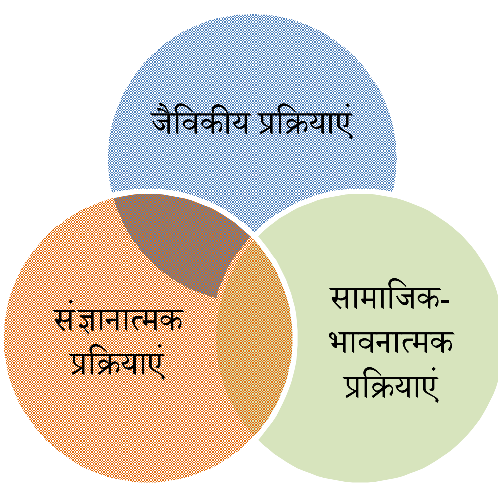

विकासात्मक परिवर्तनों में शामिल प्रक्रियाएं

संज्ञानात्मक प्रक्रियाएं- संज्ञानात्मक प्रक्रियाएं एक व्यक्ति में आने वाले बदलावों को संदर्भित करती हैं, जिसमें विचार, बौद्धिकता, भाषा, आदि शामिल है। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति का एक कविता को याद करना, शब्दों की जटिलता (Puzzle) को सुलझाना आदि कार्यों में व्यक्ति को संज्ञानात्मक प्रक्रियाएं मदद करती हैं।

सामाजिक-भावनात्मक प्रक्रियाएं- सामाजिक-भावनात्मक प्रक्रियाओं में व्यक्ति के अन्य लोगों के साथ संबंध स्थापना के अंतर्गत आने वाले परिवर्तन को शामिल किया जाता है। जैसे भावनाओं में परिवर्तन, व्यक्तित्व में परिवर्तन आदि शामिल है। बालक/बालिका का अभिभावक द्वारा सर से हाथ फेरने के बाद मुस्करा देना, किसी व्यक्ति का अन्य पर आक्रामक होना, आदि इसके उदाहरण हैं। विकास के दौरान बचपन, किशोरावस्था का रिफ्लेक्शन वयस्कावस्था में सामाजिक-भावनात्मक प्रक्रियाओं के अंतर्गत देखा जाता है।

विद्वानों का मानना है कि उक्त तीनों प्रक्रियाएं एक दूसरे में गुथी बंधी हुई है। इसे हम एक उदाहरण से समझ सकते हैं। *एक लड़की अपने अभिभावक के स्पर्श के प्रति मुस्कुरा कर प्रतिक्रिया देती है*। इस पूरे क्रियाकलाप में तीनों प्रक्रियाएं समाहित है।

- लड़की अभिभावक के स्पर्श को प्रतिक्रिया दे रही है, इसके लिए वो उसे अभिभावक के उद्दीपक, जैविकीय स्पर्श के प्रति अनुक्रिया कर रही है।
- संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं के अंतर्गत वह उसके स्पर्श के अभिप्राय को समझ रही है, यह योग्यता संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं के अंतर्गत आती है।
- अंत में उसका मुस्कुराना सामाजिक-भावनात्मक जुड़ाव को दर्शा रहा है। मुस्कुराना एक सकारात्मक भावना है, जो एक दूसरे के संबंध को जोड़ने में महत्वपूर्ण योगदान देती है।

इन प्रक्रियाओं का एक दूसरे पर प्रभाव पड़ता है इसलिए इसे द्विदिशात्मक भी कहा जाता है। साथ में यह भी मान्यता है कि शरीर और मन दोनों अलग-अलग नहीं, बल्कि इसका रूप एकीकृत है, इसलिए वे एक दूसरे पर अंतरसंबंधित है न की अलग। इससे स्पष्ट होता है कि जीवन अवधि उपागम के अंतर्गत किसी एक आयाम, पहलु या प्रक्रिया पर निर्भरता को नकारा गया है। अर्थात मानवीय विकास के समग्र अध्ययन में यह रुचि रखता है।

3.7 विकास की अवस्थाएं

यहाँ विकास की अवस्थाओं से तात्पर्य है जैविकीय, संज्ञानात्मक तथा सामाजिक-भावनात्मक प्रक्रियाओं के मेल-जोल द्वारा उत्पन्न मानवीय जीवन अवधि-विकास की अवस्थाएं। किसी व्यक्ति के जीवन के समय-अवधि (Time Frame) को विकासात्मक अवस्था संदर्भित करती है। साथ ही यह उस व्यक्ति की ऐसी विशेषताओं को इंगित करता है जिसका संबंध लक्षणों से होता है।

मानवीय विकास की अवस्थाओं को विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न अवस्थाओं में बांटकर,वर्गीकृत किया है। इसके बावजूद सामान्य तौर पर समझने के लिए मानवीय विकास को आठ अवस्थाओं में बांटकर समझा जाता है। यह अवस्थाएं सामान्यत: आयु के आधार पर शुरू और ख़त्म होती हैं।

विकास की अवस्थाएं

जन्म पूर्व अवस्था (जन्म)- जन्म पूर्व अवस्था में गर्भाधान के बाद विस्मयकारी वृद्धि के रूप में देखा जाता है, जिसमें एक *सेल* से पूर्ण जीव की निर्माण तथा मस्तिष्क एवं व्यवहार क्षमताओं का विकास शामिल है। इसका अनुमानित समय 9 महीने माना गया है।

शिशु अवस्था (Infancy)- जन्म से 18-24 महीने तक की अवस्था को शिशु अवस्था माना गया है। यह वह समय है जब शिशु एकमात्र वयस्कों पर निर्भर होता है। इस अवस्था के दौरान बहुत से मनोवैज्ञानिक क्रियाकलाप वह सीखता है- जैसे- भाषा, सांकेतिक विचार, सेंसरीमोटर व्यवस्थापन और सामाजिक-सीखना आदि के शुरूआती दौर से वह गुजर रहा होता है।

प्रारंभिक बाल्यावस्था- यह अवस्था 2 से 5 वर्ष तक की मानी गई है। इसे 'स्कूल पूर्व वर्षों' के रूप में भी परिभाषित किया जाता है। इस दौरान बालक/बालिका स्वयंपूर्ति करनासीख रहे होते हैं, साथ ही अपनी देखभाल तथा स्कूली तैयारियों (नियमों का पालन, अक्षरों की पहचान आदि) को सीख रहे होते हैं।

मध्य एवं उत्तर बाल्यावस्था- 6 से 11 वर्ष का समय सामान्यत: प्रारंभिक स्कूलिंग का होता है। इस दौरान बालक/बालिका मुलभूत कौशलों को सीख रहेहोते हैं, जैसे- वाचन, लेखन एवं आंकड़ों का गठ

जोड़ आदि। इस समय में वे एक बृहत दुनिया एवं संस्कृति में प्रवेश करते हैं। इस समय बालक/बालिका के लिए केंद्रीय उद्देश्य उपलब्धि ही होता है तथा वे आत्म-नियंत्रण में वृद्धि करते हैं।

किशोरावस्था- बचपन और प्रारंभिक वयस्कता को जोड़ने वाली अवस्था के रूप में इसे देखा जाता है। यह अवस्था 10-12 वर्ष से शुरू होती है तथा 18-21 वर्ष के अंत तक बनी रहती है। किशोरावस्था में शारीरिक बदलाव बड़ी तेजी से होते हैं, जैसे- उंचाई, वजन, शरीर की आकृति में बदलाव। साथ ही लैंगिक विशेषताओं का विकास भी तेज होता है, जिसमें स्तनों का आकार परिवर्तन, चेहरे पर बालों की वृद्धि और आवाज में परिवर्तन आदि महत्वपूर्ण परिवर्तन हैं। इस अवस्था में आकर किशोर/किशोरी स्वंत्रता प्राप्त करना चाहते हैं और एक पहचान बनाना चाहते हैं जिससे संसार उसे जाने। संज्ञानात्मक विकास के अंतर्गत विचार अधिक तार्किक, संक्षेप तथा आदर्शवादी बन जाते हैं। इस समय में इनका ज़्यादातर समय परिवार से बाहर के परिवेश में बीतता है।

प्रारंभिक वयस्कावस्था – यह अवस्था 20 वर्ष से शुरू होती है जो 30 वर्ष तक बनी रहती है। यह ऐसा समय होता है, जिसमें व्यक्ति व्यक्तिगत तथा आर्थिक स्वतंत्रता स्थापित करना चाहता है, करियर का विकास करता है। इसके बावजूद वह अपने साथी का चुनाव करता है तथा उसके साथ घनिष्टता बनाते हुए जीवन जीना सीख जाता है। पारिवारिक जीवन की शुरुआत करना, बच्चों के लिए तैयारियां करना आदि क्रियाकलाप इस अवस्था में व्यक्ति करता है।

मध्यावस्था – यह अवस्था 40 से 50 वर्ष तक अनुमानित की गई है। इस समय में व्यक्ति अपने व्यक्तिगत, सामाजिक दायरे को बढ़ाते हुए परिवार के अतिरिक्त ज़िम्मेदारियां वहन करना सीखता है। इसके अंतर्गत वह अपने में उन क्षमताओं को लाने की कोशिश करता है, जिससे अगली पीढ़ी को सहयोग मिल सके। वह अपने आप को एक समझदार व्यक्ति के रूप में देखना चाहता है, इसलिए वह अपने करियर से समाधान तथा संपोषण प्राप्त करता है।

वृद्धावस्था – यह अवस्था 60-70 वर्ष से शुरू होकर मृत्यु तक बनी रहती है। यह ऐसा समय होता है, जिसमें व्यक्ति अपने बीते जीवन का पुनरावलोकन, सेवानिवृत्ति, तथा नए जीवन-भूमिका में अपने बल और स्वास्थ्य आदि कारकों के साथ समायोजन बिठाने संबंधी क्रियाकलाप करता है।

जीवन अवधि परिप्रेक्ष्य के अंतर्गत वृद्धावस्था को सबसे लंबी अवधि के रूप में देखा जाता है। इसका एक कारण यह माना जाता है कि आज के समय में इस अवस्था से जुड़े लोगों की संख्या में काफ़ी बढ़ोतरी हुई है। परिणामत: जीवन अवधि-विकास के विद्वान अन्य अवस्थाओं से ज़्यादा वृद्धावस्था की विभिन्नता पर ध्यान केंद्रित करते हैं। इसमें भी पॉल बाल्टस जैसे विद्वानों का मानना है कि हमें अपना ध्यान वृद्धावस्था से ज़्यादा जराजीर्ण अवस्था पर केंद्रित करना चाहिए। उनके द्वारा किए गए अध्ययन का हवाला देते हुए वे कहते हैं कि वृद्धावस्था (youngest old) में व्यक्ति को प्रशिक्षण के अंतर्गत शारीरिक, संज्ञानात्मक, क्षमताओं तथा कुशलताओं को विकसित किया जा सकता है, लेकिन जराजीर्ण (Oldest Old) लोग

अत्याधिक कमज़ोर होने के कारण उनमें संज्ञानात्मक कौशलों की क्षति, अत्यधिक तनाव आदि दिखाई देता है। ऐसे में इन लोगों में समस्याएं अत्यधिक मात्रा में पाई जाती है।

इसलिए *पॉल बाल्टस तथा स्मिथ* (2006) इस नतीजे पर पहुंचाते हैं कि सुघट्यता और स्वीकार्यता की विशेषताओं के बल पर वृद्ध जो साठ वर्ष के होते हुए उनका मन 80 वर्ष की तरह हो गया है, इनको तथा जाराजिर्ण लोगों को उनकी प्रकार्यात्मक क्षमता तक पहुंचाया जा सकता है। उनके जीवन में आने वाली कठिनाइयों में हस्तक्षेप के माध्यम से सुधार लाया जा सकता है। इस आधार पर जीवन अवधि-विकास के विद्वान मानवीय विकास को चार प्रमुख अवस्थाओं में बांटकर अध्ययन करते हैं। हालफिलहाल में जीवन अवधि-विकास को व्याख्यायित करने के लिए '*आयु*' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा है। पॉल बाल्टस (2006) तथा विलिस एवं शाई (Willis & Schaie, 2006) के अनुसार वे चार अवस्थाएं निम्नलिखित हैं-

1. *प्रथम आयु* : बचपन और किशोरावस्था,
2. *द्वितीय आयु* : शुरूआती वयस्कावस्था, 20 वर्ष से 50 वर्ष तक,
3. *तृतीय आयु* : लगभग 60 वर्ष से 79 वर्ष की आयु तक, तथा
4. *चतुर्थ आयु* : लगभग 80 वर्ष से आगे की आयु वर्ग वाले।

उपर्युक्त रूप से आयु के आधार पर जीवन अवधिविकास परिप्रेक्ष्य के अंतर्गत व्यक्ति के विकास का अध्ययन किया जाता है। साथ ही मनुष्य के शारीरिक क्षेत्र, मानसिक क्षेत्र, सामाजिक क्षेत्र आदि में नियोजित हस्तक्षेप करके, उनके विकास-परिवर्तनों का नियमन किया जाता है।

3.8 सारांश

इस इकाई में हमने जीवन अवधि को समझा तथा इसके परिप्रेक्ष्य एवं आयामों पर भी प्रकाश डाला है। जीवन अवधि एक दृष्टिकोण तथा प्रक्रिया है, जो समग्रता में व्यक्ति के विकास का अध्ययन करती है। बढ़ती जीवन प्रत्याशा के कारण मनुष्य के जीवनकाल में काफ़ी बढ़ोतरी हुई है। बढ़ते जीवनकाल ने विद्वानों को सोचने पर मजबूर किया, यही कारण है कि इस उपागम का उदय हो पाया है। भारत जैसे देशों में भी हम देखते हैं कि वृद्ध लोगों की जनसंख्या में काफ़ी बढ़ोतरी हुई है। बदले हुए सामाजिकआर्थिक परिवेश में इस आयु वर्ग के लोगों के समायोजन तथा उनके व्यवस्थापन के लिए जीवन अवधि एक दृष्टिकोण प्रदान करती है। वर्तमान में व्यक्तित्व की अवधारणा के साथ-साथ जीवन अवधि परिप्रेक्ष्य भी महत्वपूर्ण परिघटना बनी हुई है।

भारत जैसे देशों में जीवन अवधि की अवधारणा पर बातचीत कमज़ोर रूप में होती है, बावजूद इसके समाज कार्य में जराविज्ञानी समाज कार्य के अंतर्गत वृद्धावस्था में लोगों को सेवाएं मुहैया करने की पहल की जाती है। वृद्ध तथा जराजीर्ण लोगों के विकास को समझने तथा उनमें कौशलों का विकास करने हेतु जीवन अवधि-उपागम काफ़ी मददगार हो सकता है। सामाजिक कार्यकर्ता को वृद्ध लोगों के विकास तथा प्रशिक्षण हेतु हस्तक्षेप नीति के निर्धारण में जीवन अवधि-उपागम महत्वपूर्ण सहयोग प्रदान करेगा।

3.9 बोध प्रश्न

1. जीवन अवधि क्या है? समझाएं।
2. जीवन अवधि-विकास को स्पष्ट करें।
3. जीवन अवधि-विकास की विशेषताओं को रेखांकित करें।
4. जीवन अवधि-विकास की प्रक्रिया को विश्लेषित कीजिए।
5. मानवीय विकास की अवस्थाओं को जीवन अवधिविकास के परिप्रेक्ष्य में समझाएं।

3.10 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

Berk, E. L. (2007). *Development Through The Life Span.* Bostan: Pearso, Allyn & Bacon.

Boyd, D. and Bee, H. (2009). *Lifespan Development* (5th ed.). Retrieved from the University of Phoenix eBook Collection database.

Baltes, P. B. (1987). *Theoretical propositions of life-span developmental psychology: On the dynamics between growth and decline. Developmental Psychology,* 23, 611–626.

Baltes, P. B. (2003). *On the incomplete architecture of human ontogeny: Selection, optimization, and compensation as foundation of developmental theory.* In U. M. Staudinger & U. Lindenberger (Eds.), *Understanding human development*. Boston: Kluwer.

Baltes, P. B. (2006). *Facing our limits*: *The very old and the future of aging.* Unpublished manuscript, Max Planck Institute, Berlin.

Baltes, P. B., & Smith, J. (2003). *New frontiers in the future of aging: From successful aging of the young old to the dilemmas of the fourth age.Gerontology, 49, 123–135.*

Heath, S. (2005). *Strategic Thinking, Learning Environments, and Real Roles: Suggestions for Future Work. Human Development* (0018716X), 48(6), 350-355. doi:10.1159/000088252.

Luckey, A., & Fabes, R. (2005). *Understanding Nonsocial Play in Early Childhood. Early Childhood Education Journal*, 33(2), 67-72. doi:10.1007/s10643-006-0054-6.

"life span". *Encyclopædia Britannica. Encyclopædia Britannica Online.* Encyclopædia Britannica Inc., 2016. Web. 21 Jun. 2016<http://www.britannica.com/science/life-span>.

Santrock, J. W. (2011). *Life Span Development* (13th ed.). New York: McGraw Hill.

Willis, S. L., & Schaie, K. W. (2006). A *coconstructionist view of the third age: The case of cognition. Annual Review of Gerontology and Geriatrics, 26,* 131–152.

https://owlcation.com/social-sciences/What-is-Lifespan-Development-Psychology-Exploring-Development-Through-Lifespan Retrived on june 21, 2016.

http://lib.mpib-berlin.mpg.de/ft/pb/PB_Life_2006.pdf Retrived dated on june 21, 2016.

http://catalogue.pearsoned.co.uk/samplechapter/0205491251.pdf Retrived dated on june 21, 2016.

http://www.oxfordbibliographies.com/view/document/obo-9780195389678/obo-9780195389678-0089.xml Retrived dated on june 21, 2016.

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई 4

व्यक्तित्व और व्यवहार

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 मानव व्यवहार की अवधारणा
4.3 मानव व्यवहार के निर्धारक
4.4 व्यक्तित्व का मापन
4.5 सारांश
4.6 बोध प्रश्न
4.7 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप –

- मानव व्यवहार की अवधारणा को जान पाने में सक्षम हो सकेंगे।
- मानव व्यवहार के निर्धारकों को समझ सकेंगे।
- व्यक्तित्व के मापन के बारे में समझ विकसित पाएंगे।

ज्ञान शांति मैत्री

4.1 प्रस्तावना

इस इकाई में मानव व्यवहार की अवधारणा के बारे में चर्चा प्रस्तुत की गई है। विश्वास, सहयोग, सहानुभूति अनुकरण आदि व्यवहार के ही पक्ष होते हैं। मानव व्यवहार पर जैविकीय और सामाजिक संप्रेरकों का प्रभाव पड़ता है और ये संप्रेषक मानव को विशिष्ट व्यवहार करने हेतु प्रोत्साहित करते हैं। इसके अलावा इस इकाई में मानव व्यवहार के मापन पर भी प्रकाश डाला गया है। व्यक्तित्व विकास की सोपानगत समस्याओं और व्यक्तित्व के मापन पर भी विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

4.2 मानव व्यवहार की अवधारणा

मानव व्यवहार एक जटिल व्यवस्था है जो मानव के संपूर्ण सामाजिक वातावरण को प्रभावित करता है। समाज द्वारा मानव को व्यवहारिक शिक्षा प्रदान की जाती है और यह शिक्षा व्यक्ति द्वारा अगली पीढ़ी को हस्तांतरित कर दी जाती है। इस प्रकार से व्यवहार को सीखने की प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है। मानव

शरीर के विविध अंग व भाग होते हैं जो स्नायु संस्थान से संगठित होकर कार्य करते हैं। यदि वे शरीर में अलग-अलग रहें तो उनका कोई अस्तित्व नहीं है, परंतु इसके विपरीत यदि वे संगठित हों तो कार्यात्मकता, विशिष्टता और उपयोगिता प्रत्यक्ष तौर पर दिखाई पड़ती है। इस प्रकार से मानव शरीर अपनी अपनी व्यावहारिकता का उचित समायोजन प्रस्तुत कर पाता है। व्यवहार अवयवों के शारीरिक और मानसिक पक्षों की अभिव्यक्ति का परिणाम होते हैं। इसकी अभिव्यक्ति प्रयोजनों और विषयों के संबंध में होती है तथा इसके तहत व्यक्ति के विश्वास, मनोवृत्ति तथा अन्य मनोवैज्ञानिक व जैविकीय तत्व सम्मिलित होते हैं।

4.3 मानव व्यवहार के निर्धारक

एक शिशु जन्म के उपरांत ही कोई व्यवहार करने नहीं लग जाता है। उसे व्यवहारों की शिक्षा-दीक्षा दी जाती है। पहले वह किसी भी बाहरी व्यक्ति के समक्ष अपने व्यवहारों को अभिव्यक्त नहीं करता है, फिर धीरे-धीरे वह समाज के प्रति व्यवहारों का निष्पादन करना आरंभ कर देता है। व्यक्ति के व्यवहार में चरणबद्ध तरीके से परिवर्तन आते हैं और वह जैसे-जैसे परिपक्व होता जाता है उसके व्यवहारों में उतनी ही प्रखरता दिखाई देने लगती है। मानव का व्यवहार कई कारकों द्वारा प्रभावित, निर्देशित और नियंत्रित होता है। हालांकि दो कारकों के आधार पर सार्वभौमिक तौर पर इसकी व्याख्या की जाती है – पहला, शारीरिक और दूसरा सामाजिक। इनके अलावा मानव व्यवहार पर्यावरणीय कारकों द्वारा भी प्रभावित होता है। यहाँ व्यवहार को प्रभावित करने वाले दो कारकों के बारे में विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है–

क) जैविक निर्धारक तत्व

व्यक्ति के सामाजिक व्यवहार के बारे में संज्ञान करने हेतु निम्न कारकों की ओर ध्यान आकृष्ट करने की आवश्यकता है –

1. वंशानुक्रम एवं वातावरण

वंशानुकरण और वातावरण दोनों में से कौन सा कारक अधिक महत्वपूर्ण है, इस बारे में मनोवैज्ञानिकों में मतभेद पाया जाता है। हालांकि सामाजिक व्यवहार की निर्मिति की दृष्टि से दोनों ही कारक महत्वपूर्ण हैं। विद्वानों के अनुसार वंशानुक्रम, जन्मजात वैयक्तिक गुणों का योगदान है। गर्भावस्था में ही भ्रूण की रचना होती है और प्राथमिक अवस्था में वह एक कोशकीय होती है। इसे ही जाइगोट के नाम से जाना जाता है। इसका निर्माण पुरुष के शुक्राणु और स्त्री के अंड के संयोग होता है। इस संयोजन की क्रिया को निषेचन क्रिया कहते हैं। इस प्रकार से पुरुष और स्त्री दोनों के गुण भ्रूण में आ जाते हैं। एक निषिक्त खंड में कुल 23 जोड़े गुणसूत्र विद्यमान होते हैं जिसमें से आधे स्त्री और आधे पुरुष के होते हैं। ये गुणसूत्र ही शिशु के गुणों के वाहक होते हैं। इस प्रकार से शिशु में गुणसूत्रों के आधार पर जीन्स निर्मित होते हैं, जो उसके व्यवहार पर नियंत्रण स्थापित करते हैं। यद्यपि ये वंशानुक्रम बालक के व्यवहार की

ज्ञान शांति मैत्री

निर्मिति और निर्धारण में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं, तथापि बालक के बड़े होने पर वातावरण का प्रभाव उसके व्यवहारों पर अवश्य पड़ता है।

सामान्य तौर पर वातावरण के तहत वह सब कुछ सम्मिलित होता है जो बालक के मानसिक, नैतिक जीवन से जुड़ा हुआ होता है। समाज द्वारा बालक को अपनी संस्कृति, व्यवहार, परंपरा आदि विरासत के तौर पर प्रदान की जाती है और यह विरासत बालक के व्यवहारों को निर्मित करता है। परिवार द्वारा अपने रीति-रिवाज, परंपराएँ, भाषा, आदर्श, मूल्य, मान्यताएँ, शिष्टाचार आदि बालक को हस्तांतरित किया जाता है और यह प्रक्रिया पीढ़ी-दर-पीढ़ी निरंतर चलती रहती है। हालांकि प्रत्येक पीढ़ी इन तत्वों में कुछ-न-कुछ नवीन आयामों को जोड़ देता है अथवा कुछ पुराने आयामों को नष्ट कर देता है, परंतु इसके बावजूद इन तत्वों का अस्तित्व बना रहता है और ये व्यवहार के निर्धारण में उल्लेखनीय भूमिका निभाते हैं।

2. स्नायुविक-ग्रंथीय संस्थान

मानव का जैविक तंत्र बहुत जटिल होता है। यहाँ पर संक्षेप में इसके बारे में विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है –

i) ग्राहक

बाहरी दुनिया से उत्तेजनाओं को ग्रहण करने का काम ग्राहक करता है। मानव ज्ञानेंद्रियाँ (आँख, नाक, कान, मुंह, त्वचा) ग्राहक ही होती हैं। सभी जीवों में ग्राहक पाए जाते हैं। एक कोशिकीय जीवो में भी ग्राहक (ज्ञानेंद्रियाँ) विद्यमान रहती हैं।

ii) स्नायु-संस्थान

यह स्नायुओं का एक समुच्च होता है जो मानसिक क्रियाओं को आधार प्रदान करता है। यह स्नायु भाव जीव के पूरे शरीर में जाल की तरह फैला रहता है। इनके प्रमुखतः दो कार्य होते हैं– पहला, ग्राहक और प्रभावक अंगों को मिलाना (अभियोजक) और दूसरा, उत्तेजनाओं से उत्पन्न आवेगों को शरीर के अलग-अलग हिस्सों में पहुंचाना (वाहक)। अनयू संस्थान एक ऐसा साधन है, जिसमें प्रवाहों को अतिशीघ्र से ग्राहकों से प्रभावकों तक पहुंचा दिया जाताहै। इसे तीन भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है –

a. **केंद्रीय नाड़ी-मंडल:** केंद्रीय नाड़ी-मंडल उच्च मानसिक क्रियाओं का केंद्र होता है और इसे दो भागों में बांटा जा सकता है– पहला, मस्तिष्क और दूसरा, सुषुम्ना नाड़ी (मेरुदंड)।
b. **स्वयं संचालित नाड़ी-मंडल:** इसके तहत किए जाने वाले कार्य सुषुम्ना से संचालित होते हैं तथा इन कार्यों में बृहत मस्तिष्क की कोई भूमिका नहीं होता है। इसे सक्रिय बनाने के लिए बाहरी उत्तेजना की आवश्यकता नहीं होती है। इसका

क्रियान्वयन आंतरिक अंगों से ही होता है और यह आंतरिक अंगों का संचालन और नियंत्रण करता है। उदाहरणस्वरूप– फेफड़ों के कार्य, श्वसन क्रिया, पाचन क्रिया, रक्त संचार आदि स्वतंत्र नाड़ी-मंडल की क्रियाएँ होती हैं।

c. **संयोजक नाड़ी-मंडल:** संयोजक नाड़ी-मंडल बाह्य संस्थान और मस्तिष्क को जोड़ने का काम करता है। इस संस्थान से दो कार्य संपन्न होते हैं– एक ओर तो यह मस्तिष्क का संबंध ज्ञानेंद्रियों के साथ स्थापित करता है और दूसरी ओर यह मस्तिष्क का संबंध बाहरी ग्रंथियों और मांसपेशियों के साथ स्थापित करता है। इस संस्थान का काम संदेशवाहन का होता है। यह ज्ञानेंद्रियों से प्राप्त संदेश को केंद्रीय नाड़ी-मंडल तक और केंद्र से प्राप्त संदेश को प्रभावक तक पहुंचाता है।

iii) प्रभावक

ग्राहक ज्ञान को प्राप्त करके नाड़ियों द्वारा सुषुम्ना केंद्र अथवा मस्तिष्क को भेजते हैं और वहाँ से ही शारीरिक क्रिया का आदेश प्राप्त होता है। यह आदेश कार्यवाही नाड़ियों द्वारा ग्रंथियों अथवा मांसपेशियाँ तक पहुंचा दिया जाता है और ये ग्रंथियां अथवा मांसपेशियाँ उस आदेश के अनुरूप गतिशील होती हैं। इन ग्रंथियों को ही प्रभावक कहा जाता है। इनके कारण ही शरीर की एच्छिक-अनैच्छिक क्रियाएँ संपन्न हो पाती हैं। यहाँ दो प्रकार के प्रभावकों के बारे में चर्चा प्रस्तुत की जा रही है –

a. **ग्रंथियां:** ग्रंथियां शरीर में अनेक प्रकार के रसों का स्राव करती हैं। यह स्राव मानव व्यवहार को नियंत्रित और परिवर्तित करने में उल्लेखनीय भूमिका निभाता है। ये ग्रंथियां दो प्रकार की होती हैं–

अ) **प्रणालीयुक्त ग्रंथियां:** इन ग्रंथियों में सभी के साथ एक नलिका जुड़ी होती है। इनके द्वारा उनका रस-स्राव शरीर के ऊपरी सतह पर पड़ता है। लार ग्रंथियां, अश्रु ग्रंथियां, प्रस्वेद ग्रंथियां आदि इस प्रकार की ग्रंथियों के उदाहरण हैं।

आ) **प्रणालीहीन ग्रंथियां:** इन ग्रंथियों का मनोवैज्ञानिक प्रभाव बहुत महत्वपूर्ण होता है। इन ग्रंथियों के सही तरीके से काम करने के कारण व्यक्तित्व कम प्रभावित होता है, परंतु इसके विपरीत जब ये ग्रंथियां उचित ढंग से कार्य नहीं कर पाती हैं तो व्यक्तित्व पर बुरा प्रभाव पड़ता है। इनका रस-स्राव शरीर के रक्त-प्रवाह से मिल जाता है। एड्रीनल ग्रंथि, गोनेड्स, पिट्यूटरी ग्रंथियां, पैराथायराइड ग्रंथियां, पीनियाल ग्रंथियां, थायराइड ग्रंथियां आदि इस प्रकार की ग्रंथियों के उदाहरण हैं।

b. **मांसपेशियाँ:** मांसपेशियाँ मानव शरीर के लिए अत्यंत सहायक प्रकृति की होती हैं। उठाना, बैठना, चलना, घूमना, दौड़ना, कूदना आदि क्रियाएँ मांसपेशियों की सहायता से ही की जाती है। मांसपेशियों के कारण ही अंगों की विभिन्न गतिविधियां संपन्न हो पाती हैं। यहाँ मांसपेशियों के तीन प्रकारों के बारे में संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है–

- **धारीदार मांसपेशियों** को एच्छिक कार्य संपन्न करने होते हैं, जैसे – नाचना, पीटना आदि।
- **चिकनी मांसपेशियों** को काम अनैच्छिक कार्य संपन्न करने होते हैं, जैसे – खाना पचाना, श्वास ग्रहण करना आदि।
- **हृदिक मांसपेशियों** का काम हृदय की धड़कन का संचालन कार्य करना होता है।

ख)सामाजिक-सांस्कृतिक निर्धारक तत्व

प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी परिवार और सामाजिक समूह का अंग होता है और उसकी देखरेख का कार्यभार तथा लालन-पालन का उत्तरदायित्व संबंधित परिवार अथवा समाज का होता है। बालक का संबंध सबसे पहले अपनी माता के साथ स्थापित होता है और धीरे-धीरे परिवार के सभी सदस्यों के साथ भी स्थापित होने लगता है। बालक जैसे-जैसे बड़ा होता है, उसका संबंध परिवार की परिधि से बाहर समाज के साथ भी स्थापित होने लगता है। उसके सामाजिक संबंध धीरे-धीरे बृहत समूह तक फैल जाते हैं और उसके व्यवहारों के निर्देशन, परिवर्तन और निर्माण आदि में ये सामाजिक समूह महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगते हैं। प्रत्येक समाज अथवा समूह की अपनी संस्कृति होती है और संबंधित बालक उसी के अनुरूप अपने व्यवहार, व्यक्तित्व आदि को स्वरूप प्रदान करता है। समाज द्वारा उसे सामाजिक विरासत के तौर पर अपने समाज के तौर-तरीकों, संस्कृति, परंपरा आदि से अवगत कराया जाता है और बालक उसी के अनुरूप स्वयं की अभिव्यक्ति प्रस्तुत करता है। बालक को माता द्वारा भोजन, पिता द्वारा सुरक्षा और समाज द्वारा मूल्य, आदर्श प्रदान किए जाते हैं। इस प्रकार से यह कहा जा सकता है कि बालक के सामाजिक व्यवहार को प्रभावित करने हेतु तीन कारक महत्वपूर्ण होते हैं – पहला, व्यक्ति की शारीरिक संरचना, दूसरा, समाज और तीसरी, संस्कृति।

4.4 व्यक्तित्व का मापन

हम सभी अपने जीवन में अनेक लोगों से मिलते हैं, उनमें कुछ को बस यूं ही भूल जाते हैं और कुछ को समझने का प्रयास भी करते हैं। किसी व्यक्ति से अंतरक्रिया करने से पूर्व ही हम एक कल्पना बना लेते हैं कि वह फलां काम कर सकता है अथवा नहीं। सामान्य तौर पर हम अपने जीवन में पूर्व के अनुभवों

वार्तालापों, प्रेक्षणों और अन्य से प्राप्त सूचनाओं पर विश्वास करते हैं। व्यक्तित्व मापन का उद्देश्य व्यक्तित्व में निहित शीलगुण की कमी, शक्ति और उसके समायोजन के बारे में संज्ञान करना होता है। मनोवैज्ञानिकों द्वारा कई मापन विधियों के बारे में चर्चा की गई है, परंतु यहाँ प्रमुख विधियों को तीन भागों में वर्गीकृत करके प्रस्तुत किया जा रहा है –

1. व्यक्तित्व आविष्कारिका

यह व्यक्तित्व मापन की अत्यंत प्रचलित विधि है। इसमें व्यक्तित्व से संबंधित खास प्रश्नों की सूची बनाई जाती है और इनके उत्तर हाँ-नहीं अथवा सही-गलत में दिए रहते हैं। इसे आत्म-रिपोर्ट आविष्कारिका भी कहा जाता है, क्योंकि इसे संबंधित व्यक्ति द्वारा स्वयं पढ़ कर रिपोर्ट के रूप में तैयार करना होता है। एक ही प्रश्न का सही और उचित उत्तर भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के लिए भिन्न-भिन्न हो सकता है। प्रथम विश्व युद्ध के दौरान इसका प्रथम वैज्ञानिक प्रयोग किया गया था। सांवेगिक रूप से अस्थित व्यक्तियों के निष्कासन के संदर्भ में इसका प्रयोग किया गया था। इसके बाद अमेरिका और इंग्लैंड में अनेकों शोध इसी आविष्कारिका के आधार पर किए गए। समकालीन समय में व्यक्तित्व आविष्कारिका की संख्या हजारों में पहुँच गई है।

2. प्रक्षेपीय विधियाँ

प्रक्षेपीय विधियों की सहायता से व्यक्तित्व मापन परोक्ष रूप से की जाती है। इसमें व्यक्ति के समक्ष कुछ अस्पष्ट और असंगठित परिस्थितियाँ अथवा उद्दीपक प्रस्तुत किए जाते हैं और व्यक्ति परिणामस्वरूप कुछ क्रिया करता है। इन क्रियाओं के आधार पर ही व्यक्ति की इच्छाओं, मानसिक परेशानियों के बारे में संज्ञान किया जाता है। प्रक्षेपी परीक्षण ऐसा परीक्षण है जो एकांश स्पष्ट एवं असंगठित होते हैं और इसके प्रति अनुक्रिया करके व्यक्ति अपने अलग-अलग प्रकार के शीलगुणों को परोक्ष रूप से प्रस्तुत करता है। विद्वानों का मत है कि लियोनार्डो डा विंसी द्वारा 1400 A.D. में इस विधि के आधार पर कुछ बच्चों के व्यक्तित्व का अध्ययन किया था।

लिंडजे ने इस विधि के स्वरूप को सही ढंग से समझने के लिए कुछ कसौटियों की चर्चा की है जो इस प्रकार हैं –

i) ये ऐसे पद होते हैं, जिनमें बहुत अनुक्रियाएँ पैदा हो पाती हैं।

ii) इससे व्यक्तित्व के अनेक पहलुओं का मापन करना संभव होता है।

iii) अचेतन व्यक्तित्व विमाओं को प्रक्षेपी विधियों के माध्यम से अधिक तेज़ी से उत्तेजित किया जाता है।

iv) इस प्रकार के परीक्षणों में तुलनात्मक रूप से अस्पष्ट उद्दीपकों का प्रयोग किया जाता है।

v) प्रक्षेपी विधियों की सहायता से अधिक मात्रा में जटिल मूल्यांकन तथ्य पैदा किए जाते हैं।

vi) इन परीक्षणों में संबंधित व्यक्ति अपने द्वारा की गई अनुक्रियाओं के बारे में संज्ञान नहीं कर पता है अर्थात वह उनका अर्थ नहीं समझ पाता है।

vii) इसकी सहायता से व्यक्तित्व की एक संगठित और संपूर्ण तस्वीर प्राप्त होती है।

viii) व्यक्तित्व में फंतासी उत्पन्न करने में यह परीक्षण सहायक होता है।

ix) इसमें कोई सही अथवा गलत अनुक्रिया नहीं होती है।

3. प्रेक्षण विधियाँ

इस विधि में प्रेक्षक/अवलोकनकर्ता व्यक्तियों की अनुक्रियाओं का किसी वास्तविक अथवा नियंत्रित परिस्थिति में ध्यानपूर्वक और सावधानीपूर्वक प्रेक्षण करता है तथा उनकी क्रियाओं के बारे में संपूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है। इस विवरण के आधार पर ही प्रेक्षक विश्लेषण करता है और किसी निष्कर्ष का प्रतिपादन करता है। एटकिंसन, एटकिंसन, स्मिथ और हिलगार्ड द्वारा प्रेक्षण विधि के अंतर्गत दो उपप्रविधियों की चर्चा की गई है–

i) **रेटिंग मापनी:** यह एक ऐसी मापनी जिसकी सहायता से व्यक्तित्व के शीलगुणों के बारे में लिए गए निर्णयों को कुछ वर्गीकृत श्रेणियों में रिकॉर्ड कर लिया जाता है। इसमें कुछ संख्यात्मक श्रेणियाँ (+3,+2,+1,0,-1,-2,-3) होती हैं अथवा कुछ आलेखीय श्रेणियाँ सम्मिलित होती हैं। इन श्रेणियों की सहायता से प्रेक्षक शीलगुणों से संबंधित निर्णयों पर अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है। इसके बाद इन निर्णयों के आधार पर सांख्यिकीय विश्लेषण कर व्यक्तित्व के बारे में एक निश्चित निष्कर्ष प्रतिपादित किया जाता है।

ii) **साक्षात्कार:** साक्षात्कार का प्रयोग व्यक्तित्व मापन में सबसे अधिक मात्रा में किया जाता है। इसमें साक्षात्कारकर्ता संबंधित व्यक्ति के आमने-सामने की स्थिति में बैठकर कुछ प्रश्नों को पूछता है और उस दौरान व्यक्ति द्वारा की गई गतिविधियों का अवलोकन करता है। इस आधार पर साक्षात्कारकर्ता द्वारा व्यक्ति के व्यक्तित्व के बारे में संज्ञान किया जाता है। समान्यतः साक्षात्कार दो प्रकार के होते हैं– पहला, संगठित साक्षात्कार और दूसरा, असंगठित साक्षात्कार। संगठित साक्षात्कार में साक्षात्कारकर्ता संबंधित व्यक्ति से पूछे जाने वाले प्रश्नों की एक सूची को पहले से ही तैयार कर लेता है, जबकि असंगठित साक्षात्कार में साक्षात्कारकर्ता पूछे जाने वाले प्रश्नों की सूची नहीं बनाता है और वह अपनी इच्छा के अनुसार प्रश्न पूछता है।

4.5 सारांश

इस इकाई में मानव के व्यवहार के बारे में विवरण प्रस्तुत किया गया है। मानव का व्यवहार उसकी सामाजिक पृष्ठभूमि द्वारा निर्देशित, नियंत्रित और प्रभावित होता है। इसकी निर्मिति और पुनर्निर्मिति में समाज और परिवार का बहुमूल्य योगदान होता है। इस इकाई में व्यक्ति के व्यवहार को निर्धारित करने वाले कारकों के बारे में चर्चा की गई है और अंत में मानव व्यक्तित्व के मापन के बारे में संक्षिप्त विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। व्यक्तित्व मापन को अर्थपूर्ण स्वरूप प्रदान करने की दृष्टि से यह आवश्यक है कि इस इकाई में वर्णित परीक्षणों को एक-साथ इस्तेमाल में लाया जाए।

4.6 बोध प्रश्न

बोध प्रश्न 1: मानव व्यवहार की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।

बोध प्रश्न 2: मानव व्यवहार के निर्धारकों के बारे में विवरण दीजिए।

बोध प्रश्न 3: मानव व्यक्तित्व के मापन पर प्रकाश डालिए।

4.7 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

बैरोन, आर.ए. (2006). *साइकोलोजी. (पाँचवाँ संस्करण)*. नई दिल्ली: पियर्सन एजुकेशन

कून, डी. एवं मित्तरर, *जे.ओ. (2007).* ईं ब्रोक्शन तो साइकोलोजी: गेटवे टू माइंड एंड बिहैवियर, नई दिल्ली: सेंगेज

होनिंग, डबल्यू.के. (1966). *आपरेंट बिहैवियर.* न्यूयॉर्क: एप्लेटन सेंचुरी क्राफ्ट्स

हॉल, जी.सी., लिंडजे, *जी. एवं कैम्पबेल* जे.सी. (1998). थियरिज ऑफ पर्सनालिटी. (चौथा संस्करण). न्यूयॉर्क: विले

मॉर्गन, सी.टी., किंग, आर.ए., *विस्ज, जे.आर. एवं स्कोपलर.* जे. (1986). इंट्रोडक्शन टू साइकोलोजी (सातवाँ संस्करण). बॉम्बे: टाटा मैग्रा हिल एजुकेशन

सिंह, ए.के. (2009). *उच्चतर सामान्य मनोविज्ञान.* वाराणसी: मोतीलाल बनारसीदास

मिश्रा, पी.डी. एवं मिश्रा, बी. (1982). *असामान्य व्यवहार.* लखनऊ: उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान

सुलेमान, म. एवं तौबाब, म. (2004). *असामान्य मनोविज्ञान.* नई दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास

श्रीवास्तव, आर. (2008). *व्यक्तित्व मानिविज्ञान.* वाराणसी: मोतीलाल बनारसीदास

वर्मा, र.स. (1981). *नैदानिक मनोविज्ञान.* आगरा: विनो पुस्तक मंदिर

ज्ञान शांति मैत्री

खंड - 2

मानव व्यवहार

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई : 1 मानव व्यवहार : अवधारणा और निर्धारक

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य

1.1 प्रस्तावना

1.2 मानव व्यवहार : परिचय

1.3 मानव व्यवहार प्रक्रिया

1.4 मानव व्यवहार के निर्धारक

1.5 मानव व्यवहार के दैहिक निर्धारक

1.6 संग्राहक तंत्र

1.7 तंत्रिका तंत्र

- **अ)** केंद्रीय तंत्रिका तंत्र
  - **1.** मस्तिष्क
  - **2.** मेरुरज्जु
- **ब)** परिधीय तंत्रिका तंत्र
  - **i)** कायिक तंत्रिका तंत्र
  - **ii)** स्वायत्त तंत्रिका तंत्र

1.8 प्रभावक तंत्र

1.9 आनुवांशिकता

1.10 पर्यावरण

1.11 सारांश

1.12 बोध प्रश्न

1.13 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

ज्ञान शांति मैत्री

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप -

1. मानव व्यवहार की अवधारणा को समझा सकेंगे।
2. मानव व्यवहार प्रक्रिया की व्याख्या कर सकेंगे।
3. व्यवहार के निर्धारण में आनुवांशिकी की भूमिका को विश्लेषित कर सकेंगे।
4. मानव व्यवहार के विभिन्न निर्धारक, जैविकीय एवं समाज-संस्कृति की व्याख्या कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

व्यक्ति समाज की महत्वपूर्ण इकाई है, जिसके ताने-बाने से समाज का चित्र तैयार होता है। समाज में व्यक्ति जन्म से मृत्यु तक विभिन्न मनो-सामाजिक प्रक्रियाओं, सामाजिक संस्थाओं से गुजरता है। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करने एवं समाज में अपना स्थान निश्चित करने के लिए व्यक्ति पहले से समाज में निर्धारित नियमों, मानकों का अवलोकन एवं अनुसरण करता है। जॉर्ज केल्ली(George Kelley) के शब्दों में कहें, तो व्यक्ति एक वैज्ञानिक के रूप में जीवन जीता है। सभी व्यक्ति सामाजिक वास्तविकता के बारे में पहले एक परिकल्पना बनाते हैं, जिसके सहारे वे अपनी जिंदगी की घटनाओं के बारे में एक अनुमान लगाते हैं और उसे नियंत्रित करते हैं। इन परिकल्पनाओं के वैधता की जाँच वे अपनी मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के आधार पर करते हैं जिससे वे अपने भूत, वर्तमान और भविष्य के बारे में समझ बनाने लगते हैं। व्यक्ति अपनी आवश्यकताओं (एरिक फ्रोम की अवधारणा के अनुसार), जिसमें कुछ दैहिक जैसे- भोजन,पानी, यौन, निवास, सुरक्षा आदि और कुछ मनोवैज्ञानिक आवश्यकताएँ, जो सुरक्षा प्रणोद (Drive Security), स्वतंत्रता का प्रणोद (Drive For Freedom)के बीच हुई अंतःक्रिया से उत्पन्न होती है जैसे- संबद्धता की आवश्यकता, श्रेष्ठता की आवश्यकता, गहरापन की आवश्यकता, पहचान की आवश्यकता, उन्मुखता प्रारूप की आवश्यकता तथा उत्तेजन की आवश्यकता आदि की पूर्ति के लिए वह व्यवहार करता है। अन्य मनोवैज्ञानिक भी मानवीय आवश्यकताओं को महत्वपूर्ण बताते हुए इस मत के प्रति सहमति दर्ज करते हैं।

इस पूरी इकाई में हम मानवीय व्यवहार के प्रति समझ को विकसित करेंगे। इसलिए हमें यह जानना बहुत ही जरूरी है कि मानवीय व्यवहार असल में है क्या? मनोविज्ञान में एक पूरा संप्रदाय ही चला है, जिसे व्यवहारवाद के नाम से जाना जाता है। व्यवहारवाद के शुरुआती प्रणेताओं में सबसे पहले ज़ेबी. वाटसन का नाम लिया जाता है इनके अनुसार व्यवहार का अर्थ विस्तृत है, जिसमें शाब्दिक अभिव्यक्ति (Verbalization) भी सम्मिलित है। इनका स्पष्ट कहना था कि मनोविज्ञान प्राकृतिक विज्ञानों की एक शाखा है, जो मानव व्यवहार का अध्ययन करता है। अत: किसी व्यक्ति द्वारा कुछ 'कहना' या 'बोलना' को भी व्यवहार में सम्मिलित किया जाए।

मानवीय व्यवहार को समझने के लिए उन व्यावहारिक श्रेणी संदर्भों को समझना पड़ेगा, जिसके द्वारा मानव व्यवहार प्रदर्शित होते होता है, इस श्रेणी संदर्भों में, भावनाएँ, संस्कृति, अनुनय (Rapport), सम्मोहन, आनुवांशिकी, मूल्य, नैतिकता, अभिवृत्ति, प्राधिकार, आदि का प्रभाव व्यवहार पर दिखाई देता है। इसलिए व्यवहार कभी भी, कहीं भी इन व्यवहारिक श्रेणी संदर्भों के साथ जुड़कर ही आएगा। इसे स्वतंत्र कर नहीं समझा जा सकता। अब हमारे सामने और भी सवाल उठते हैं कि व्यवहार की प्रक्रिया क्या है? उसे निर्धारित करने वाले निर्धारक कौन-कौन से हैं और इसका मानवीय जीवन से कैसे संबंध बनता है। इस पूरी इकाई में हम इन संबंधों को जानने के साथसाथ मानवीय व्यवहारों के सभी पहलुओं, निर्धारकों को समझने की कोशिश करेंगे।

1.2 मानव व्यवहार : परिचय

मानव 'विकास' के प्रत्येक चरण में कुछ-न-कुछ क्रिया-कलाप (Movement) जरुर करता रहता है, जिससे मानव और समाज के बीच अंतर्संबंध निर्माण होता है बावजूद इसके कुछ व्यवहार वैयक्तिक व्यवहार कहलातें है और कुछ सामाजिक व्यवहार। समाज को चार स्तरों- व्यक्ति, समूह, समुदाय एवं समाज के रूप में हम व्यक्ति के विभिन्न क्रिया-कलापों को अब तक देखतें हुए आ रहें है। आज के समय में व्यक्तिवादिता का बोलबाला है, इसलिए व्यक्ति के हितों में भी बदलाव दिखाई देतें है। अत: व्यक्ति ज़्यादा-से-ज़्यादा उन्हीं चीजों को जानने, समझने एवं अनुभव करने कीकोशिश करता है, जिसमें उसका स्वहित हो। बावजूद इसके मनुष्य एक समाजशील प्राणी है और वह समाज सेअलग होकर जीवन व्यतीत नहीं कर सकता, इसलिए उसके प्रत्येक व्यवहार के निर्धारण में सामाजिक कारकों का हस्तक्षेप जरूर होता है।

ब्रिटनिका विश्वकोश के अनुसार मानव व्यवहार को 'मानव जीवन में शारीरिक, मानसिक, एवं सामाजिक स्थितियों में किए जानेवाले क्रिया-कलापों की अभिव्यक्ति क्षमता' के रूप में परिभाषित किया गया है।

एम. एस. भाटिया (2009) *डिक्शनरी ऑफ सायकोलोजी एंड अलाएड* में व्यवहार को परिभाषित करते हुए लिखते हैं"व्यक्ति या प्राणी द्वारा प्रदर्शित की जाने वाली कोई भी क्रिया (Act) या क्रिया-कलाप (Movement) है। व्यवहार का ऐसे तो कोई अर्थ नहीं निकाला जा सकता किंतु किसी के साथ संबंधित कर वास्तविक व्यवहार को समझा जा सकता है। उदाहरण के लिए प्रदर्शन का कोई भी संज्ञानात्मक पहलू व्यवहार हो सकता है।"

मानव व्यवहार का महत्त्वपूर्ण कार्य है व्यक्ति का संज्ञान, भावना एवं सामाजिक योग्यताओं को बढ़ाना या उसमें परिवर्तन लाना। जीवन के प्रवेश से लेकर जीवन विस्तार तक, जिसमें शैशवावस्था एवं बाल्यावस्था, किशोरावस्था के साथ प्रौढ़ा-अवस्था भी निहित है। सामान्यत: शरीर के अंतर्गत बदलाव नियमित बाल्यावस्था से वृद्धावस्था तक रहतें है। इसलिए यह कहना मुश्किल है कि किस स्थिति में या अवस्था में मानव व्यवहार का आगमन होता है। क्योंकि मानव व्यवहार एक अभिव्यक्ति क्षमता है और कौन व्यक्ति किस अवस्था से अपने आप को अभिव्यक्त करने की क्षमता को अर्जित कर सकता है, इसका कोई ठोस सिद्धांत नहीं है। इसमें बहुतेरे कारक कार्यरत होते है, इसलिए इस पर सीधे टिप्पणी करना भी मुश्किल है। मनोविज्ञान में मानवीय व्यवहार पर जो बाते होती दिखाई देती हैं उसमें भी शुरुआती मनोवैज्ञानिकों ने प्राणी मनोविज्ञान आधारित प्रयोगों के आधार पर मानवीय व्यवहार को समझने की कोशिश की थी, जो बाद में मानवीय व्यवहारों में तब्दील हुई। मानव विकास या विकासात्मक मनोविज्ञान ऐसे क्षेत्र हैं, जिसके अंतर्गत मानवीय जीवन विस्तार (Life Expansioon) से अंत तक मानवीय व्यवहारों में आनेवाले बदलावों को विश्लेषित व वर्णन करना शामिल है।(Encyclopedia of Britannica, Vol-25,P.133)

जब हम समाज कार्य के अंतर्गत मानव व्यवहार की अवधारणा को समझने की कोशिश करते हैं तब मनोविज्ञान के क्षेत्र से मानवीय व्यवहारों को समझने के लिए उपयुक्त सिद्धांत हमारे लिए काफ़ी उपयुक्त प्रतीत होते हैं।

1.3 मानव व्यवहार की प्रक्रिया (process of human behavior)

मानव व्यवहार को अब तक अलग-अलग विचारकों ने विश्लेषित किया है, जैसे कि मानव के उद्विकास, दर्शनशास्त्र आदि विषयों ने मानव व्यवहार को आम तौर पर देखने की कोशिश की है। वर्त्तमान में मानव व्यवहारों को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जानने की कोशिश मनोविज्ञान ने की है, इसलिए हम मानव व्यवहारों को मनोविज्ञान के परिदृश्य में जानने की कोशिश करेंगे।

मनोविज्ञान, मानव के मानसिक अध्ययन से संबंध रखता है और यह मान्यता है कि मानव के व्यवहार लगभग मानसिक स्तर पर होतें है, इसलिए मानव व्यवहार प्रकटीकरण के पूर्व मस्तिष्क में व्यवहार का ढाँचा बना लेता है, जिसमें यह निहित होता है कि किसके साथ कैसा व्यवहार करना है। मनोविज्ञान में एक दौर चला, जिसमें मानव व्यवहार को अलग सोच के अंतर्गत देखा जाने लगाइसे व्यवहारवाद के नाम से जाना जाने लगा इसमें अग्रणी विद्वान वाटसन,पावलाव, स्किनर आदि थे। इन्होंने कुछ तथ्यों एवं तर्कों के आधार पर मानवीय व्यवहार को समझाने की कोशिश की है। उक्त सभी विद्वानों के सिद्धांतों में मानवीय व्यवहार पर अलग-अलग चर्चा मिलती है। बावजूद इसके, मानव व्यवहार को समझने के लिए इन सभी विद्वानों को समग्र रूप से देखें तो मानव व्यवहार की प्रक्रिया समझने में आसान हो जाएगी।

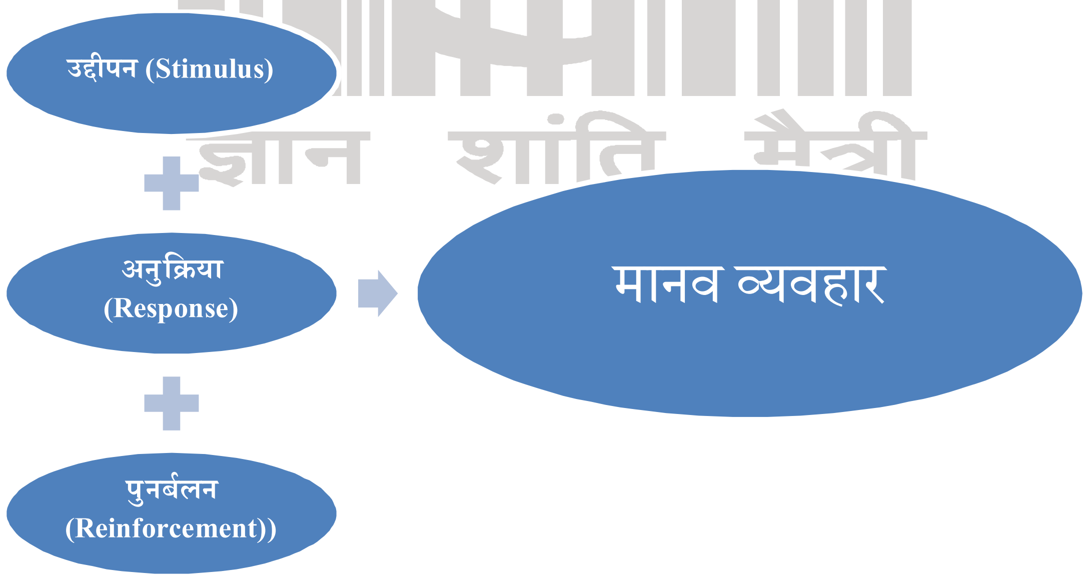

चित्र : 01 मानव व्यवहार प्रक्रिया

मानव, जीवन से मृत्यु तक व्यवहार करता है और हर बार उसका कोईन-कोई उद्देश्य जरूर होता है। उदाहरण- अलग-अलग धर्मों में मोक्ष को प्राप्त करना मानव जाति का मूल उद्देश्य माना गया है, यह एक

'अंतहीन' उद्देश्य है किंतु व्यक्ति रोज प्रात:काल से सोने तक नए-नए उद्देश्य के प्राप्ति के लिए व्यवहार करता रहता है। उक्त आकृति में मनुष्य द्वारा किए जानेवाले व्यवहारों को समझाने की कोशिश की है। उद्दीपक, अनुक्रिया एवं पुनर्बलन इस तीन स्तरों से गुजरकर मा**व** व्यवहार की प्रक्रिया को पूर्णत्व प्राप्त होता है, जिसे उपर्युक्त आकृति में दर्शाया गया है। को दर्शाया गया है। उक्त तीन प्रक्रिया को संक्षिप्त में जानने की कोशिश करेंगे।

उद्दीपन (Stimulus) – उद्दीपन से तात्पर्य एक प्रक्रिया से है, जिसमें एक उद्दीपक कर्ता के रूप में होता है वह उद्दीपक एक वस्तु, घटना, क्रिया, भौतिक एवं अभौतिक आदि कुछ भी हो सकता है।

अनुक्रिया (Response) – अनुक्रिया से तात्पर्य किसी भी उद्दीपक के प्रति उद्दोलित होना अनुक्रिया माना जायेगा।किसी वस्तु, घटना, क्रिया आदि में से किसी भी उद्दीपक से उद्दीपित होना ही अनुक्रिया कहलाता है।

पुनर्बलन (Reinforcement) - उद्दीपक के प्रति अनुक्रिया के बाद अगर कोई व्यक्ति कुछ बल लगा रहा है और वह क्रिया पूर्ण कर रहा है, तो बह पुनर्बलन कहलाता है।

उक्त तीनों को एक साथ एक प्रक्रिया के रूप में हम एक उदाहरण से समझ सकते हैं। फोन की घंटी बजी(उद्दीपन), घंटी का बजना एक आवाज और लय के साथ बजना मानवीय संवेदनाओं को जागृत

बी. एफ. स्किनर तथा बिहेवियरल इंजीनियरिंग

वैश्विक धरातल पर द्वितीय विश्व युद्ध के बाद *बी. एफ. स्किनर* का आगमन होता है, जो व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक है. द्वितीय विश्व युद्ध के बाद इसने अमेरिकन सरकार पर सवाल उठाया और अपनी किताब *वाल्डेन* टू में बताया कि अमेरिका जितना खर्च कल्याण, शिक्षा, रक्षा, स्वास्थ्य आदि पर कर रही है। यह सब गैरजरूरी है, इस पर जितने विभाग चल रहें है और कितने लोग काम कर रहे हैं। बडी मात्रा में बजट भी खर्च हो रहा है। निर्णय प्रक्रिया में सामान्य बोध या बुद्धि के बदले ज्ञान स्थानापन्न नहीं होगा. ("knowledge is no substitute for wisdom or common sense in making decisions.")(Skinner,1976,p.vii) इससे बचने के लिए उनका कहना था कि नीति निर्माताओं के समिति में **व्यवहारवादी विज्ञान** सदस्य हो। उन्होंने यह संभावना जताए हुए लिखा है कि "मैं सुझाव दूंगा कि यह सब हम कर सकते है और वह भी इसके बिना।"(Am I suggesting that we can get along without that?) (Skinner, 1976, p. xiv) "एक राजनैतिक नेता या एक नई तर ह की सरकार क्या जरूरी है? शायद नहीं। लेकिन, आने वाले समय में जरूरी है मानव व्यवहार का ज्ञान ज्ञान और उस ज्ञान के सांस्कृति व्यवहार कुशलता के प्रारूप को लागू करने के नए तरीके।" (Skinner, 1976, पृ. xvi) यह वह तरीके हैं जिससे मानवीय मन पर नियंत्रण स्थापित किया जास कता है और मानवीय मन पर नियंत्रण ही विजय का सबसे बड़ा हथियार है। आगे चलकर स्किनर इस मानव व्यवहार प्रक्रिया को उद्योग और तकनीक के साथ जोड़ देते हैं जिसके लिए वह शब्द गढ़ते है ***'बिहे बियरल इंजीनियरिग'***।

करता है। मनोविज्ञान की भाषा में कहें तो घंटी की आवाज का कान पर पड़ना, उस आवाज से व्यक्ति का

मन विचलित होना, इस प्रक्रिया को संवेदित होना के वर्ग में रखा जाता है, क्योंकि इस समय तक व्यक्ति को केवल प्राथमिक ज्ञान हो रहा होता है कि कुछ आवाज आ रही है। यह आवाज क्या है? किसकी है? कहाँ से आ रही है इसको जानने की जिज्ञासा से अपने दूसरे पंच इंद्रियों का सहयोग लेकर मस्तिष्क में एक चित्र या घटना का बनना **प्रत्यक्षीकरण** होता है। जैसे- व्यक्ति को समझ में आना कि जो आवाज सुनाई दे रही थी वह फोन की घंटी है और वो टेबल पर रखे फोन से आ रही है। इस समय तक व्यक्ति को उस घटना का पूरा ज्ञान हो चुका होता है। कभी-कभी ऐसे स्थितियों में संभ्रम की स्थितियाँ भी पैदा होती है, जिसके लिए विभिन्न कारक ज़िम्मेदार हैं। इन कारकों के कारण व्यक्ति को स्थिति का सही ज्ञान नहीं हो पाता है। बहरहाल, जब पता चल गया है कि फोन की घंटी बजी है, तो व्यक्ति द्वारा आकर्षण के साथ फोन को देखने(अनुक्रिया) की क्रिया आ जाती है। कुछ मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि यहाँ तक आ कर व्यवहार पूर्ण हो जाता है, किंतु कुछ मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि क्रिया को पूर्ण करने के लिए व्यक्ति द्वारा बल लगाना जरूरी है, तभी व्यवहार पूर्णता को प्राप्त करेगा। इसलिए व्यक्ति का फोन रिसीव कर बातचीत करना, या देख कर काट देना या वैसेही फोन को बजनेदेना यह सारी क्रियाएँ, जो उस व्यक्ति द्वारा की जाएगी, पुनर्बलन कहलाती है। मनोविज्ञान में व्यवहारवादी परंपरा से जुड़े मनोवैज्ञानिकोंनेमानव व्यवहार को इसी रूप में दर्शाया है। लेकिन मानवीय व्यवहार को समझना इतना भी सरल नहीं है, क्योंकि मानवीय व्यवहार सबसे जटिल अवधारणा है। बहुत बार जैविकीय कारकों से ज़्यादा वातावरणीय या सामाजिक कारकों का व्यक्ति के व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है। जैसे कि आम तौर पर समाज में देखते हैं, दो लोगों के झगड़े में प्रत्यक्षदर्शी व्यक्ति के स्थिर (Constant) प्रवृत्ति को विभिन्न सामाजिक कारकों के प्रभाव के अंतर्गत अर्थ प्रदान किया जाता है। जैसे राम और श्याम के बीच झगड़ा हो रहा हो और वहाँ गणेश प्रत्यक्षदर्शी है वो न तो झगड़े को बढ़ा रहा है न ही रोकने की कोशिश कर रहा है। इस मामले को किसी तृतीय के सामने रखेंगे, तो एक निष्कर्ष यह निकाला जाता है कि गणेश या तो राम के साथ था या श्याम के, या वह इस झमेले से बचना चाहता था, इसलिए कुछ नहीं कर रहा था। वास्तविक कारण चाहे कुछ भी हो, यह तो तय हो जाता है कि गणेश इस पूरे मामले का प्रत्यक्षदर्शी था। हालांकि गणेश द्वारा कोई भी क्रिया नहीं हुई है, वह स्थिर था, बावजूद इसके गणेश के स्थिर रहने की क्रिया को भी एक व्यवहार ही कहा जाएगें। क्योंकि अगर राम श्याम को पीट रहा था, तो गणेश की इस बात के लिए रजामंदी मानी जाएगी या तो इस पूरे मामले को बलवान का न्याय के रूप में, जो जितेगा उसके साथ हो जाने की मानवीय प्रवृती के माप को लगाया जाएगा। न्यायालय में वकीलों की इसी बात पर बहसें होती रहेंगी कि गणेश किसका साथी था। इस मामले को उस सामाजिक-सांस्कृतिक वातावरण के अंतर्गत देखा-मापा जाएगा, जो जाति, धर्म जैसे विभिन्न स्तरीकरणों से बना है तब जाकर गणेश की इस झगड़े में भूमिका को तय किया जाएगा। कुल मिलाकर कहने का तात्पर्य यह है कि मानवीय व्यवहार कोई नियत घटना नहीं है न ही इसके कुछ नियम कि जिसके आधार पर यह कहा जाए कि फ़ला स्थिति में व्यक्ति निश्चित रूप से ऐसा ही व्यवहार करेगा। मानव अपने मूल गुणों, व्यक्तित्व, प्रकृति, मनोसामाजिक प्रक्रियाएँ

आदि के साथ-साथ समाज में अपने स्थान, गरिमा, सम्मान, भूमिका आदि के आधार पर भी व्यवहार करता है।

अत: मानवीय व्यवहार में जैविकीय एवं वातावरणीय दोनों कारक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। भूख लगना जैविकीय आवश्यकता है, किंतु आहार का स्वरूप मांसाहार या शाकाहार का निर्धारण सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों द्वारा होता है। इन दोनों के बावजूद आज कल शाकाहार में भी केवल अंडा खाने वालों की संख्या बढ़ती जा रही है। भारतीय परिदृश्य को समझाते हुए फ्रायडियन विचारधारा के मनोवैज्ञानिक सुधीर कक्कड़ लिखते हैं कि हो सकता है कि भारत में एक हिंदू गोमांस खाने से कतराए और वही परदेस में जाकर वहाँ गोमांस खाए। अपने इस आहार परिवर्तन के लिए वह इस तर्क से अपना बचाव कर सकता है कि केवल भारत की गायें पवित्र होती हैं। इस तरह स्टीरियोटाइप व्यवहार से अलग भी व्यवहार कभी-कभी व्यक्ति करने लगता है। कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति की सोच पर निर्भर करता है कि वह कैसा व्यवहार करेगा। कभी-कभी समाज में आदर्श व्यवहार भी समाज विरोधी बन जाता है या समाज विरोधी व्यवहार भी एक मानक, सम्मान का प्रतीक बन जाता है। उदाहरण के तौर पर स्वतंत्रता पूर्व भारत में सती-प्रथा महिलाओं के लिए एक सम्मानजनक व्यवहार माना जाता था, किंतु बाद में वही व्यवहार अंग्रेज़ी शासन द्वारा हस्तक्षेप के बाद समाज विरोधी बन गया, जिसे एक सामाजिक समस्या के रूप में देखा जाने लगा। अत: इस सामाजिक समस्या के निर्मूलन हेतु अधिनियम बनाए गए। दूसरी ओर हम देखते हैं कि स्वतंत्रतापूर्व समय की ही बात है कि उस समय में भारतीय प्राचीन धर्मग्रंथ समुद्र पार करने की अनुमति नहीं देते थे, इसलिए ऐसा करना समाज विरोधी माना जाता रहा। वही आज समुद्र पार करने वाले लोगों को 'फ़ोरेन रिटर्न' के नाम से मान-सम्मान दिया जा रहा है। इस उदाहरण से इस बात को पुष्टि मिल जाती है कि मनुष्य के व्यवहार पर उस समय के देशकाल का प्रभाव दिखता है, जिसके अंतर्गत सामाजिक मानकों में परिवर्तन आता है और जिसके कारण समाज में परिवर्तन की माँग उठती है। इस माँग को मानव अपने व्यवहार में परिवर्तन लाकर इसकी पूर्ति करता है।

1.4 मानव व्यवहार के निर्धारक

मानव सबसे पहले एक प्राणी है, इसलिए वह अपनी दैहिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही व्यवहार करेगा। यही कारण है कि कुछ हद तक मनुष्य के दैहिक आवश्यकताओं से संबंधी व्यवहार को स्टीरियोटाइप व्यवहार के रूप में देखा जाता है। किंतु इसका दूसरा पक्ष यह भी है कि आवश्यकता पूर्ति के लिए किए गए कार्य एक खास संस्कृति से जुड़े होते हैं, इसलिए उसका असर भी प्रत्यक्ष रूप से व्यक्ति के व्यवहार पर दिखाई देता है। विकासात्मक मनोविज्ञान में मानवीय व्यवहार की प्रक्रिया में सहयोग करने वाले दैहिक आधारों पर विस्तार से चर्चा मिलती है, वही समाजशास्त्र, मानवशास्त्र एवं सामाजिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में मानवीय व्यवहार के पर्यावरणीय कारकों पर चर्चा मिलती है। इन दोनों कारकों को विस्तार से समझने की कोशिश हम यहाँ करेंगे।

1.5 मानव व्यवहार के दैहिक निर्धारक

खेत में मज़दूरी करनी हो या बौद्धिक विचार-विमर्श करना हो इन दोनों ही क्रिया में शरीर के अनेक अवयवों, अंगों की भूमिका होती है। अर्थात् व्यक्ति द्वारा किया जाने वाले प्रत्येक व्यवहार का निर्धारण शारीरिक प्रतिक्रियाओं के द्वारा होता है। अगर कार्य को पूर्ण करने वाले किसी अवयव याअंग में विकृति हो जाती है, तब व्यवहार का प्रदर्शन पूर्ण रूप से नहीं हो पाएगा। जैसे कि हम देखते हैं सामान्य व्यक्ति का किसी अपघात में विकलांग होना उसके दैनंदिन व्यवहार को इतना प्रभावित करता है कि उसे एक सहयोगी की आवश्यकता पड़ने लगती है। उसी प्रकार जन्मजात रूप से कुछ व्यक्तियों में खास तरह की विकलांगता पाई जाती है, जिससे उनका व्यवहार आसमान्य बन जाता है। समान्यत: व्यक्ति को विभिन्न व्यवहारों को पूर्ण करने के लिए शरीर में निहित तंत्र का सहयोग लेना पड़ता है। मानवीयशरीर में तीन तंत्र निहित होते हैं-

संग्राहक (Receptor)

तंत्रिका तंत्र(Nervous System)

प्रभावक तंत्र (Effectors System)

इन तीनों का निर्माण विभिन्न इकाइयों से होता है। मानव व्यवहार को समुचित रूप में प्रदर्शन के लिए इन तीनों तंत्रों का एकत्रित होना बहुत जरूरी होता है। इसलिए इन्हेंमानवीय व्यवहार के प्रमुख निर्धारक माना जाता है। तंत्रिका तंत्र को केंद्रीय तंत्रिका तंत्र और सीमांत तंत्रिका तंत्र में विभाजित कर समझा जा सकता है। इसे चित्र : 03 में स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है तथा इसके संचालन को समझने के लिए चित्र02 देखें.

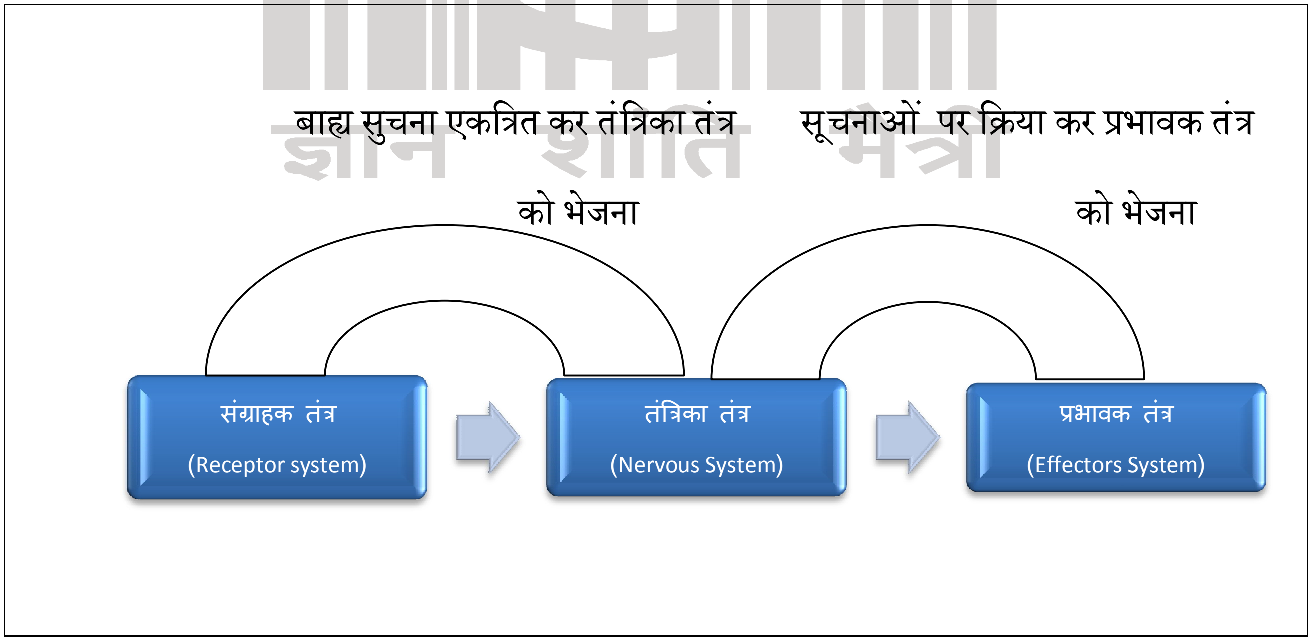

चित्र: 2 मानव व्यवहार के दैहिक निर्धारकों का संचालन

1.6 संग्राहक तंत्र (Receptor System): मानव व्यवहार के प्रदर्शन में संग्राहक तंत्र की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। संग्राहकों से तात्पर्य ऐसे अंगो से है जिनके द्वारा व्यक्ति को बाह्य या आंतरिक बारे में ज्ञान या सूचनाएँ प्राप्त होती है, व्यक्ति के पास पाँच इंद्रियाँ मुख्य हैं कान, नाक, आँख, त्वचा, जीभ इनके सहभागिता से विशिष्ट कार्य संपन्न होते हैं, जैसे-नेत्रों द्वारा देखना या कान द्वारा सुनना आदि। इन ज्ञानेंद्रियों के माध्यम से प्राप्त संवेदनाएँ संवेदी स्नायुओं द्वारा तंत्रिका तंत्र तक पहुँचती है। तंत्रिका तंत्र से मस्तिष्क में संचारण हो जाता है, तब जाकर एक आवेग तैयार हो जाता है, जिससे आगे मांसपेशियां ग्रहण करती हैं। मांसपेशियों के ग्रहण करने के बाद ही उद्दीपक के प्रति कोई अनुक्रिया उत्पन्न होती है। इस पूरी प्रक्रिया में संग्राहकों की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। इन संग्राहकों को तीन प्रकारों में बांटकर अध्ययन किया जाता है।

- बाह्य संग्राहक
- अंत: संग्राहक
- संयोजी संग्राहक

जिन संग्राहकों द्वारा व्यक्ति को बाह्य पर्यावरण के बारे में संवेदना होती है उसे बाह्य संग्राहक के रूप में विभाजित किया जाता है, जैसे- घ्राण संग्राहक जो जीभ पर होते है। जीभ का कार्य है स्वाद बताना इसके लिए जीभ पर विभिन्न संग्राहक काम कर रहे होते है। जैसे- कुछ खट्टा खाने के बाद खट्टेपन का एहसास जीभ के निश्चित जगह पर होता है। वैसेही मीठेपन और तीखे के स्वाद को प्रेषित करने के लिए जीभ पर खास जगह पर इन संग्राहकों का झुंड होता है जो स्वाद को बताता है। **अंत: संग्राहक**, ऐसे संग्राहकों को कहा जाता है, जिनके द्वारा आंतरिक शारीरिक दशाओं, घटनाओं की अनुभूति व्यक्ति को हो जाती है। जैसे- पाचन तंत्र, रक्त संचारा प्रणाली, हृदय गति, श्वसन एवं विसर्जन आदि कार्यों के बारे में जानकार्य इन संग्राहकों द्वारा व्यक्ति को मिलती है। उदाहरण के तौर पर समझे तो आम तौर पर व्यक्ति को भूख लगने के बाद पेट की आंतों में सकुंचन होता है। इसे आम भाषा में 'पेट में चूहे दौड़ना' जैसे जुमले में परिभाषित किया जाता है। असल में व्यक्ति के शरीर में अन्न की कमी के कारण पेट की आंतों में सकुंचन पैदा होता है, जिसका अर्थ होता है कि पेट में आहार की कमी है। संयोजी संग्राहक, इन संग्राहकों से शरीर की गतियों, संस्थितियों एवं जोड़ आदि से संबंधित संवेदना होती है। शरीर के मांसपेशियों में इस तरह के संग्राहक पाए जाते है। शरीर के जोड़ो (Joints) में होने वाली हर वेदना का एहसास इन संग्राहकों द्वारा व्यक्ति को होता है। समझने के लिए हम इन संग्राहकों को अलग से देखा जाता है, परंतु संग्राहकों, तंत्रिका तंत्र एवं प्रभावक संयुक्त रूप से कार्य करते है, जिससे अनुक्रिया का प्रगटन होता है।

1.7 तंत्रिका तंत्र (Nervous System) : तंत्रिका तंत्र से तात्पर्य तंत्रिका कोशिकाओं के व्यापक नेटवर्क से है, जिसका कार्य मस्तिष्क को तथा मस्तिष्क से शरीर के अन्य भागों को संदेश प्रेषित करना है। माना

जाता है कि सभी प्राणियों में मनुष्य का तंत्रिका तंत्र सर्वाधिक जटिल और विकसित है। वैसे तो तंत्रिका तंत्र समग्र रूप में कार्य करता है किंतु समझने के लिए इसे प्रमुख दो भागों में बांटा जा सकता है

अ) केंद्रीय तंत्रिका तंत्र(Central Nervous System)

ब) परिधीय तंत्रिका तंत्र(Peripheral Nervous System)

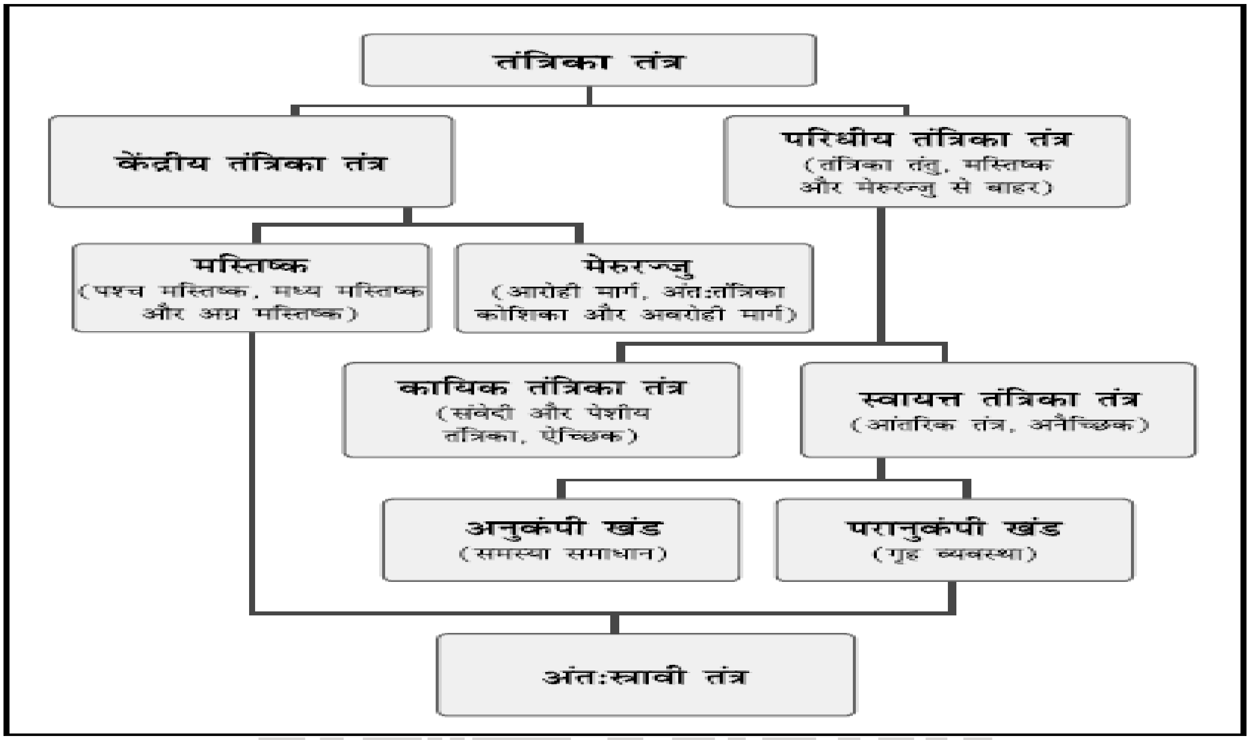

चित्र : 02* तंत्रिका तंत्र

अ) केंद्रीय तंत्रिका तंत्र (central Nervous System) : केंद्रीय तंत्रिका तंत्र का निर्माण मस्तिष्क और मेरुरज्जु से मिलकर होता है। संक्षेप में केंद्रीय तंत्रिका तंत्रतंत्रिका तंत्र का उपतंत्र है जो मस्तिष्क और मेरुरज्जु से बना होता है। केंद्रीय तंत्रिका तंत्र को समझने के लिए मस्तिष्क और मेरुरज्जु को समझना होगा, जो निम्नलिखित है-

1. मस्तिष्क (Brain) : उद्विकासवादियों के अनुसार मानवीय मस्तिष्क करोड़ों वर्षों में पशुओं के मस्तिष्क से विकसित हुआ है, जिसकी प्रक्रिया अभी भी जारी है। मस्तिष्क मानव की समस्त प्रक्रियाओं का संचालक है। मानव के मस्तिष्क एवं शरीर का अनुपात1: 60 है। एक वयस्क मस्तिष्क का भार लगभग 1.36 kg होता है और इसमें लगभग 100 अरब तंत्रिका कोशिकाएँ होती है। मानवीय मस्तिष्क के संबंध में महत्वपूर्ण बात यह है कि इसकी सभी कोशिकाएँ मानव के जन्म के समय से ही विद्यमान होती है, बाद में उनकी संख्या में कोई वृद्धि नहीं होती। केवल कोशिका और न्यूरोन के आकार में वृद्धि होती है। मस्तिष्क के बारे में महत्वपूर्ण बात यह है कि मस्तिष्क मानव के व्यवहार एवं विचारोंको दिशा देने का कार्य करता है। आम तौर पर मस्तिष्क एक गहरी खाई के आधार पर दो समान गोलार्धो

(Hemispheres) में बंटा दिखता है। परंतु समझने एवं अध्ययन की सुविधा के लिए इसे तीन बड़े भागों में बांटा गया है-

- पश्च मस्तिष्क
- मध्य मस्तिष्क
- अग्र मस्तिष्क

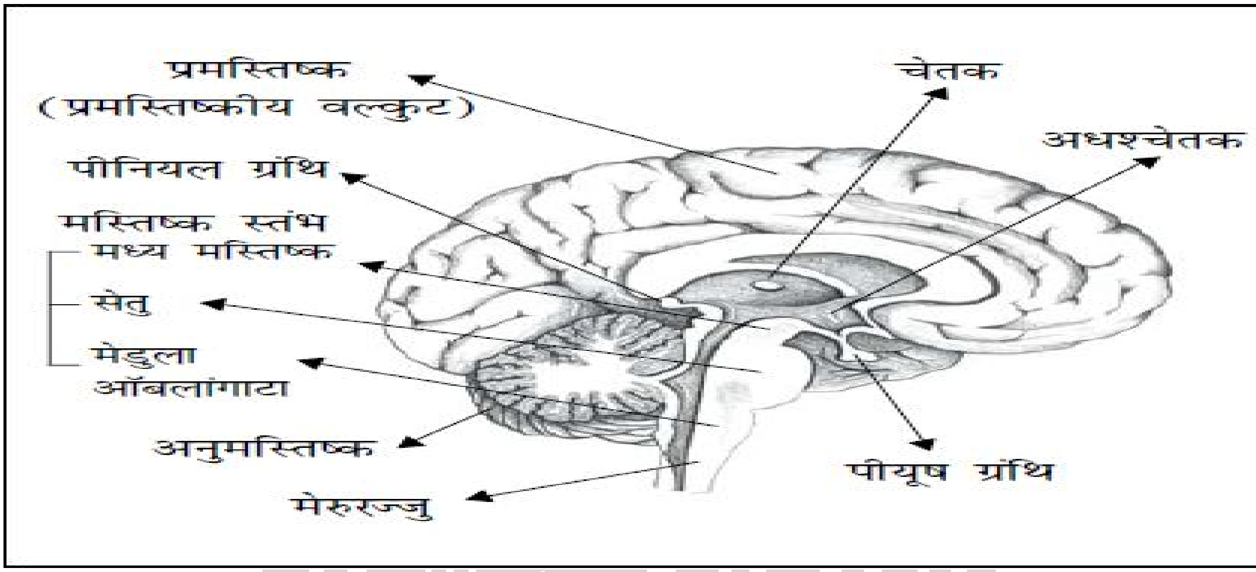

चित्र : 03* मस्तिष्क की रचना

मस्तिष्क की रचना को समझने के लिए हमें निम्नलिखित बिंदुओं को समझना होगा-

मेडुला ऑब्लांगाटा (Medulla Oblongata): मस्तिष्क की तरफ मेरुरज्जु का यह अंतिम छोर है। मेरुरज्जु से मस्तिष्क को जाने वाले सभी तंतु इसी मेरुरज्जु शीर्ष से होकर गुजरते हैं। जिस तरह की चित्र: 03 में दिखाया गया है कि इसका स्थान मस्तिष्क के दो गोलार्धों के बीच में होता है। इसमें तंत्रिकीय केंद्र होते हैं, जो मानव की मूलभूत जीवन सहायक गतिविधियों को नियमित करती है जैसे- श्वास लेना हृदयगति और रक्तचाप आदि। इसलिए इसे मानव मस्तिष्क का मूल आधार माना जाता है।

सेतु और मध्य मस्तिष्क (Pons and Mind Brain): मेरुरज्जु के ऊपर सेतु और सेतु से थोड़ा ऊपर मध्य मस्तिष्क होता है। सेतु का एक केंद्रक मानव के कानों द्वारा संचारित श्रवणात्मक संकेतों को ग्रहण करता है। सेतु निद्रा रचनातंत्र से जुड़ा होता है, विशेषत: स्वप्ननिद्रा से। मध्य मस्तिष्क छोटे आकार का होता है और इसका जुड़ाव अग्र मस्तिष्क तथा पश्च मस्तिष्क से होता है। मध्य मस्तिष्क का एक महत्वपूर्ण हिस्सा, जिसे रेटिक्युलर एक्टिवेटिंग सिस्टम के रूप में जाना जाता है वह मानवीय भाव प्रबोधन के लिए जिम्मेदार होता है। साथ ही पर्यावरण द्वारा प्राप्त सूचनाओं के चयन में भी यह मनुष्य को मदद करता है।

अनुमस्तिष्क (Cerebellum): अनुमस्तिष्क को अपने लघु आकार के कारण लघुमस्तिष्क के रूप में भी जाना जाता है। अनुमस्तिष्क भी मस्तिष्क की तरह दो भागों में बंटा होता है। मस्तिष्क का यह भाग मांसपेशियों में स्फूर्ति बनाए रखता है और शारीरिक संतुलन बनाए रखने में मदद करता है। यह क्रियाकलापों की विधियों की स्मृति भी संचित करता है, जिसके कारण मनुष्य को व्यवहार करते समय भिन्न-भिन्न मुद्राओं पर ध्यान केंद्रित नहीं करना पड़ता है।

अग्र मस्तिष्क: सभी प्रकार की संज्ञानात्मक, संवेगात्मक एवं प्रेरक क्रियाकलापों को अग्र मस्तिष्क संपादित करता है, इसलिए इसे मस्तिष्क का सर्वाधिक महत्वपूर्ण हिस्सा माना जाता है। शरीरविज्ञान में अग्र मस्तिष्क को चार हिस्सों में बांटकर समझा जाता है, अधश्चेतक (Hypothalamus), चेतक (Thalamus), उप-वल्कुटीय तंत्र (Limbic System) और प्रमस्तिष्क (Cerebral)। इसे विस्तार से यहाँ हम समझेंगे-

अ) अधश्चेतक (Hypothalamus) : अधश्चेतक चेतक के नीचे स्थित होता है। मस्तिष्क के सबसे छोटे भागों में से यह एक है, किंतु इसका कार्य महत्वपूर्ण है। अधश्चेतक भोजन एवं ताप नियंत्रित करता है इसके अतिरिक्त सुख-दुख तथा यौन संबंधों का कार्य संचालन भी इसी भाग द्वारा होता है। संवेगों के नियंत्रण के साथ-साथ विभिन्न अंतःस्त्रावी ग्रंथियों से निकलने वाले हार्मोन को भी यह नियंत्रित करता है।

आ) चेतक (Thalamus) : मध्य मस्तिष्क के ठीक ऊपर अंडाकार रूप में स्थित होता है। इसमें तंत्रिका कोशिकाओं के गुच्छे होते हैं। चेतक एक प्रकार का प्रसारण केंद्र है जो ज्ञानेंद्रियों से प्राप्त सभी संवेदी संकेतो को ग्रहण कर वल्कुट (Cortex) के उपयुक्त हिस्सों में भेजता है। साथ ही वल्कुट से निकलने वाले सभी बाह्य प्रेरक संकेतों को ग्रहण कर शरीर के उपयुक्त हिस्सों में भेजता है।

इ) उप-वल्कुटीय तंत्र (Limbic System) : उप-वल्कुटीय तंत्र से तात्पर्य ऐसे मस्तिष्क तंत्र से है जो अभिप्रेरित व्यवहार, संवेगात्मक स्थितियाँ और स्मृति के कुछ प्रकारों को प्रक्रमित करता है। शरीर में रक्तशर्करा के स्तर का नियमन करते हुए आंतरिक स्थिति को कायम रखने में मदद करता है। इसका अधश्चेतक से गहरा रिश्ता है और इसमें हिप्पोकेम्पस और गलतुंडिका भी समाविष्ट है। हिप्पोकेम्पस का संबंध दीर्घकालिक स्मृति से है और गलतुंडिका का संबंध संवेगात्मक व्यवहारों से हैं।

ई) प्रमस्तिष्क (Cerebral) : प्रमस्तिष्क दो बराबर भागों में विभक्त है, जिन्हें प्रमस्तिष्कीय गोलार्ध कहते हैं। दिखने में यह दोनों गोलार्ध एक समान है। बावजूद इसके, कार्य के आधार पर एक गोलार्ध दूसरे गोलार्ध से अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली होता है। उदाहरण के तौर पर देखे तो बायाँ गोलार्ध समान्यत: भाषा संबंधी व्यवहारों को नियंत्रित करता है और दायाँ गोलार्ध समान्यत प्रतिमाएँ, दैहिक संबंध, प्रारूप जैसे विशिष्ट कार्यों को संभालता है। यह दोनों गोलार्ध सफ़ेद माइलिन आच्छादित तंतुओं के समूह से जुड़े होते हैं जिसे महासंयोजक पिंड या कार्पस कोलोसम कहा जाता है। दोनों

गोलार्धों के बीच संदेश लाने- ले जाने का कार्य कार्पस कोलोसम का है। प्रमस्तिष्क उच्चस्तरीय संज्ञानात्मक प्रकार्यों, जैसे- सीखना, प्रत्यक्षण, अवधान, स्मृति, भाषा- व्यवहार, तर्क और समस्या समाधान को नियमित करता है। प्रमस्तिष्क को चार खंडों; अग्र खंड (Frontal Lobe), पार्श्विक खंड (Parietal Lobe), पश्चकपाल खंड (Occipital Lobe), शंख खंड(Temporal Lobe) में विभक्त कर समझा जा सकता है। यह खंड अलग-अलग होते हुए भी एक दूसरे के साथ आपस में संबंधित होते हैं।

A) अग्र खंड (Frontal Lobe) : केंद्रीय दरार के अतिरिक्त एक दूसरी दरार मस्तिष्क की लंबाई में होती है, जिसे पार्श्विक दरार अथवा सिलवियस (Sylvius) दरार कहते हैं। केंद्रीय दरार से आगे का हिस्सा अग्र खंड है। इसका कार्य मुख्यत संज्ञानात्मक कार्यों जैसे- अवधान, चिंतन, स्मृति, सीखना एवं तर्कना से संबंधित है; बावजूद इसके यह स्वायत्त और संवेगात्मक अनुक्रियाओं पर भी अवरोधात्मक प्रभाव डालता है।

B) पार्श्विक खंड (Parietal Lobe): यह भाग पार्श्विक दरार से सर के पृष्टभाग तक फैला होता है। इसका कार्य मुख्यत: त्वचीय संवेदना और उनका चाक्षुष और श्रवण संवेदनाओं के समन्वय से संबंधित है।

C) पश्चकपाल खंड (Occipital Lobe): यह सर के बिलकुल पीछे का भाग है। इसका मुख्य कार्य चाक्षुष सूचनाओं से संबंधित है। ऐसा माना जाता है कि चाक्षुष आवेगों की व्याख्या, चाक्षुष उद्दीपकों की स्मृति और रंग चाक्षुष उन्मुखता इसी खंड द्वारा संपादित होती है।

D) शंख खंड (Temporal Lobe): यह मस्तिष्क के नीचे तना है। मुख्यत: इसका कार्य श्रवणात्मक सूचनाओं के परक्रामण से संबंधित है। प्रतीकात्मक शब्दों और ध्वनियों की स्मृति यहाँ स्थित होती है। लिखित भाषा और वाणी को समझना इस खंड पर निर्भर करता है।

2.मेरुरज्जु (Spinal Card) : मेरुरज्जु मानव की रीढ़ की हड्डी के अंदर स्थित होती है। यह रस्सी के समान तंत्रिका तंतुओं का एक समूह है, जो मेरूदण्ड के अंदर पूरी लंबाई तक जाता है। इसका एक हिस्सा मस्तिष्क से मेडुला तक जुड़ा होता है और दूसरा हिस्सा एक पूँछ की अंतिम हिस्से की तरह मुक्त रहता है। पूरी लंबाई तक इसकी रचना एक जैसी है। इसकी औसतन लंबाई18 इंच होती है और मोटाई लगभग 1 सेमी.होती है। बाहर से देखने में इसका रंग श्वेत होता है तथा अंदर का रंग भूरा होता है। रीढ़ की हड्डी में 31 टुकड़े होते हैं। प्रत्येक जोड़ पर शरीर के दोनों ओर से एक तंत्रिका मेरुरज्जु में प्रवेश करती है।

मेरुरज्जु द्वारा **प्रतिवर्त क्रियाओं (Reflex Actions)**का संचालन होता है। इसके अतिरिक्त मेरुरज्जु का कार्य गर्दन के नीचे के सभी अंगों से आई हुई संवेदी तंत्रिकाओं को मस्तिष्क से संबंधित करना तथा मस्तिष्क से आई हुई गति तंत्रिकाओं को शरीर के विभिन्न हिस्सों में भेजना है। यह संपूर्ण क्रिया इतनी तेजी से होती है कि इसमें नहीं के बराबर समय लगता है। इस प्रकार मेरुरज्जु द्वारा शरीर के बाहरी भागों (हाथ, पैर) के द्वारा संचालित क्रियाएँ, जैसे- लिखना, पढ़ना, गाड़ी चलाना, चलना-फिरना आदि का

नियंत्रण तथा संचालन होता है। बिना सीखी हुई क्रियाएँ सहज क्रियाएँ होती हैं जैसे- पलके उठाना, छींकना आदि। इन प्रक्रियाओं को प्रतिवर्ती क्रिया के रूप में जाना जाता है। प्रतिवर्ती क्रिया एक ऐसी अनैच्छिक क्रिया है, जो एक विशेष प्रकार के उद्दीपन के तुरंत बाद घटित होती है। प्रतिवर्ती क्रियाओं में मस्तिष्क का कोई नियंत्रण नहीं होता यह केवल मेरुरज्जु द्वारा ही संचालित होती है।

ब) परिधीय तंत्रिका तंत्र (Peripheral Nervous System): परिधीय तांत्रिका तंत्र अत्यंत महत्वपूर्ण नाड़ी संस्थान है। यदि इसके कार्य में अवरोध उत्पन्न हो जाता है, तो मनुष्य का वातावरण के साथ संपर्क खत्म हो जाता है। इसमें वह समस्त तंत्रिका कोशिकाएँ पाई जाती हैं, जिनसे केंद्रीय तंत्रिका तंत्र पूरे शरीर को जोड़ता है। परिधीय तंत्रिका तंत्र के मुख्य दो भाग हैं-

i) कायिक तंत्रिका तंत्र(Somatic Nervous System)

ii) स्वायत्त तंत्रिका तंत्र(Automatic Nervous System)

i) कायिक तंत्रिका तंत्र(Somatic Nervous System): इस तंत्र में दो प्रकार की तंत्रिकाएँ होती हैं इसे कपालीय और मेरु तंत्रिका कहा जाता है। कपालीय तंत्रिका के 12 समुच्चय होते हैं। यह मस्तिष्क के विभिन्न हिस्से से निकलते एवं वहाँ तक पहुँचते हैं। तीन प्रकार की कपालीय तंत्रिका होती हैं

- संवेदी
- पेशीय
- मिश्रित

संवेदी तंत्रिकाएँ सिर के क्षेत्र में स्थित संग्राहकों(दृष्टि, घ्राण, स्वाद, त्वचा आदि) से संवेदी सूचनाएँ एकत्रित करती हैं और उन्हें मस्तिष्क तक ले जाती हैं। पेशीय तंत्रिकाएँ मस्तिष्क से निकलने वाले पेशीय आवेगों को सिर के क्षेत्र में स्थित मांसपेशियों तक ले जाती हैं। मिश्रित तंत्रिकाओं में संवेदी और पेशीय दोनों प्रकार के तंतु होते हैं। मस्तिष्क से निकलने और मस्तिष्क तक पहुँचाने वाली संवेदी पेशीय सूचनाओं का संवहन कार्य मिश्रित तंत्रिकाओं द्वारा किया जाता है।

मेरु तंत्रिका के 31 समुच्चय होते हैं, यह मेरुरज्जु से निकलते और वही पहुँचते हैं। प्रत्येक तंत्रिका में संवेदी और पेशीय तंत्रिका होती है। मेरु तंत्रिका के दो प्रमूख कार्य होते हैं। पहला, मेरु तंत्रिका के संवेदी तंतु शरीर के सभी भागों (सर के हिस्से को छोड़कर) से संवेदी सूचनाएँ एकत्रित करते हैं औरमेरुरज्जु तक भेजते हैं जहाँ से फिर संवेदी सूचनाएँ मस्तिष्कतक भेजी जाती हैं। दूसरा, मस्मिष्क से नीचे आने वाली पेशीय आवेग मेरू तंत्रिकाओं के पेशीय तंतुओं द्वारा माँसपेशियों तक भेजे जाते हैं।

ii) स्वायत्त तंत्रिका तंत्र (Automatic Nervous System): यह तंत्र उन क्रियाओं का संचालन करता है, जो सामान्यत:मानव के प्रत्यक्ष नियंत्रण में नहीं होती है। इसके आंतरिक प्रकार्य हैं साँस लेना, रक्त संचार, लार स्राव, उदर संकुचन और सांवेगिक प्रक्रियाओं का नियंत्रण। स्वायत्त तांत्रिका तंत्र की ये

क्रियाएँ मस्तिष्क के विभिन्न हिस्सों के नियंत्रण में होती हैं। स्वायत्त तंत्रिका तंत्रदो भागों में विभक्त होता है-

i) अनुकंपी खंड(Sympathetic Nervous System)

ii) परानुकंपी खंड(Parasympathetic Nervous System)

i) अनुकंपी खंड (Sympathetic Nervous System): अनुकंपी खंड आपातकालीन स्थितियों को संभालने का कार्य करता है। ऐसे समय में प्रबल और शीघ्र कार्यवाही की जरूरत होती है, जैसे संघर्ष या पलायन की स्थिति। इस आपातकाल स्थिति में पाचन प्रक्रिया रूक जाती है, रक्त आंतरिक अंगों से माँसपेशियों की ओर दौड़ने लगता है तथा श्वास गति, ऑक्सीज़न की आपूर्ति, हृदय गति और रक्तशर्करा की मात्रा बढ़ जाती है।

ii) परानुकंपी खंड (Parasympathetic Nervous System): यह खंड मुख्यतः ऊर्जा के संरक्षण से संबंध है यह शरीर के आंतरिक तंत्र के नियमित प्रकार्यों का संचालन करता है। आपातकाल स्थिति के समाप्ति के बाद परानुकंपी खंड कार्यभार सँभाल लेता है मनुष्य को शांत कर उसे सामान्य स्थिति में लाता है।

अनुकंपी खंड और परानुकंपी खंड दोनों के प्रभाव एकदूसरे के विपरीत हैं बावजूद इसके दोनों भी मनुष्य के शरीर में संतुलन की स्थिति बनाए रखने के लिए मिलकर कार्य करते हैं।

1.8 प्रभावक तंत्र (Effectors System) - मानव व्यवहार में प्रभावक तंत्र की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। प्रभावकों की सूची में माँसपेशियाँ एवं ग्रंथियाँ सम्मिलित है। माँसपेशियाँ में चिकनी माँसपेशियाँ (Smooth Muscles), धारीदार माँसपेशियाँ (Striated Muscles) तथा हृदय संबंधित माँसपेशियाँ (Cardiac Muscles) होती हैं। यह माँसपेशियाँ विभिन्न प्रकार के शारीरिक व्यवहारों कोसंपादन करती है, जैसे-टहलना, दौड़ना, किसी वस्तू को उठाना-फेंकना आदि। चिकनी माँसपेशियाँ का संबंध पलक झपकने, श्वसन जैसे कार्यों से होता है। तथा धारीदार माँसपेशियाँ स्वायत्त तंत्रिका तंत्र से संबंधित रहकर हृदय की गतिशीलता का नियंत्रण करती है।

माँसपेशियाँ के अलावा प्रभावक तंत्र में विभिन्न तरह की ग्रंथियाँ पाई जाती हैं। इन ग्रंथियों को तंत्र के रूप में भी जाना जाता है। इसे अंतःस्रावी तथा बहिर्स्रावी के रूप में वर्गीकृत किया जाता है। बहिर्स्रावी तंत्र में नलिकाएँ(Ducts)पाई जाती हैं।इनके द्वारा स्राव शरीर के बाहर निकलता है, जैसे - लार ग्रंथि (Salivary Gland) एवं अश्रु ग्रंथि (Tear Gland) आदि। अंतःस्रावी ग्रंथि की अपेक्षा इनका महत्व सिमित होता है।

अंतःस्रावी तंत्र (Endocrine Glands): मानव के विकास और व्यवहार में अंतःस्रावी गंथियों की प्रमुख भूमिका होती है। वह विशेष रासायनिक द्रव्य प्रावाहित करती है जिन्हें अंतः स्राव कहते हैं, जो मानव के कुछ व्यवहारों को नियंत्रित करते हैं। यह ग्रंथियाँ नलिका विहीन या अंतःस्रावी ग्रंथियाँ कहलाती

है। यह ग्रंथियाँ सीधे रक्त में हारमोन का स्राव करती हैं, इसलिए इन्हें नलिका विहीन ग्रंथियाँ कहा जाता है। अंतःस्रावी ग्रंथियाँ शरीर में एक अंतःस्रावी तंत्र बना लेती हैं। यह तंत्र तंत्रिका तंत्र के अन्य हिस्सों के संयोजन का कार्य करता है। इनमें से कुछ मुख्य अंतःस्रावी ग्रंथियों को हम निम्नानुसार समझेंगे-

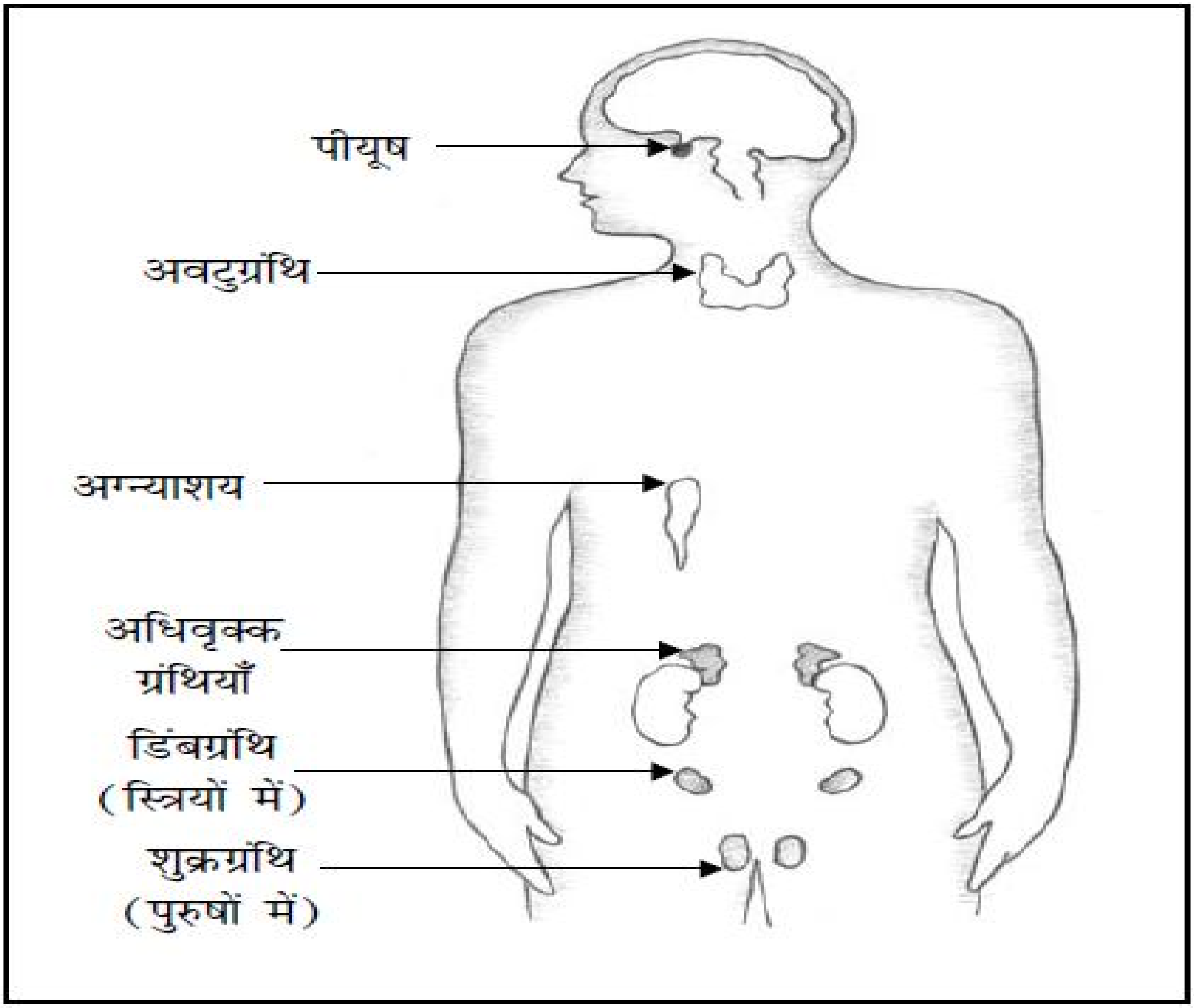

चित्र : 04*प्रमुख अंतःस्रावी ग्रंथियाँ

अ. पीयूष ग्रंथि(Pituitary Gland) : इसे मास्टर ग्लैंड भी कहा जाता है। यह ग्रंथि मस्तिष्क में स्थित होती है। पीयूष ग्रंथि अग्रपीयूष और पश्चपीयूष में विभक्त है। पीयूष ग्रंथि व्यक्ति के शारीरिक विकास को नियंत्रित करती है। यह देखा गया है कि पीयूष ग्रंथि की क्रियाशीलता यदि बढ़ जाए,तो व्यक्ति अधिक लंबा हो जाता है और इसकी क्रियाशीलता कम हो जाए तो व्यक्ति का शारीरिक विकास अवरुद्ध हो जाता है। अग्रपीयूष से निकलने वाला हारमोन विभिन्न नलिका विहीन ग्रंथियोंसे निकलने वाले हार्मोन्स को नियंत्रित करता है तथा पश्चपीयूष से निकलने वाला स्राव(हार्मोन्स) माँसपेशियों को उद्दीप्त करता है।

आ. अवटुग्रंथि (Thyroid Gland) : यह ग्रंथि गले में स्थित है। यह थायरोक्सिन (Thyroxin) नामक अंत:स्राव उत्पन्न करती है। इस हार्मोन्स में लगभग 65 प्रतिशत आयोडीन होता है। यह ग्रंथि व्यक्ति के विकास को प्रभावित करती है तथा चयापचय (Metabolic) प्रक्रिया को प्रभावित करती है। थायरोक्सिन हार्मोन का स्थिर स्राव शरीर कोशिकाओं में ऊर्जा के उत्पादन को, ऑक्सीज़न की खपत को और बेकार पदार्थ के विलोपन को बनाए रखता है। दूसरी ओर इसके कमी से शारीरिक और मानसिक सुस्ती आती है।

इ. अग्न्याशय (Pancreas Gland) : अग्न्याशय आमाशय के नीचे स्थित होता है। प्रथम भाग नलिकामय ग्रंथि का कार्य करता है। यह खाना पचाने में मुख्य भूमिका निभाता है। अग्न्याशय अपना काम बंद कर दे तो इसका विपरीत परिणाम पाचन प्रक्रिया पर पड़ता है। इस ग्रंथि का दूसरा भाग नलिका विहीन ग्रंथि का कार्य करता है। इससे ग्लूकागोन (Glucagon) तथा इन्सुलिन (Insulin) नामक हार्मोन्स का स्राव होता है। इन्सुलिन महत्वपूर्ण हार्मोन है। इसकी अधिकता या कमी से शरीर में रक्तशर्करा (Sugar) की मात्रा भी कम-ज़्यादा होती है। यदि पर्याप्त मात्रा में इन्सुलिन का स्राव नहीं होता है, तो शरीर में शर्करा की मात्रा बढ़ जाती है और मानव मधुमेह का शिकार हो जाता है। और यदि इन्सुलिन की मात्रा अधिकतम स्रवित होती है, तो शरीर में शर्करा की मात्रा में सामान्य मात्रा से कम होती है। ऐसी अवस्था में मनुष्य में उदासीनता, चिड़चिड़ापन, थकान बढ़ जाती है।

ई. अधिवृक्क ग्रंथियाँ (Adrenal Gland) : मानवीय शरीर में दो अधिवृक्क होते हैं। यह दोनों ग्रंथियाँ प्रत्येक गुर्दे के ऊपर स्थित होती हैं। इसके दो भागहोते हैं- अधिवृक्क वल्कुट (Adrenal Gland) और अधिवृक्क मेडुला (Adrenal Medulla)। बाहरी भाग को अधिवृक्क वल्कुट और भीतरी भाग को अधिवृक्क मेडुला के रूप से जाना जाता है। अधिवृक्क वल्कुट हार्मोन के एक समूह को स्रवित करता है, जिसे कोर्टिकोयड (Corticoids) कहा जाता है। शरीर के द्वारा इनका उपयोग कई शरीरक्रियात्मक उद्देश्यों, शरीर में खनिज विशेष रूप से सोडियम, पोटैशियम और क्लोराइड्स के नियमन के लिए किया जाता है। इस ग्रंथि के कार्यों में किसी भी प्रकार की बाधा तंत्रिका तंत्र के प्रकार्यों को गंभीर रूप से प्रभावित करती है। अधिवृक्क मेडुला दो प्रकार के अंतस्राव स्रवित करता है, एपाइन्फ्राइन (Epinephrine) तथा नॉर-एपाइन्फ्राइन (Norepinephrine) इन्हें क्रमश: एड्रीनलिन (Adrenaline) और नॉर-एड्रीनलिन (Noradrenaline) के नाम से भी जाना जाता है। अनुकंपी सक्रियता; जैसे- हृदय गति में वृद्धि, ऑक्सीज़न की खपत, चयापचय दर, पेशीय शक्ति इत्यादि, इन्हीं दो हार्मोन के स्राव के द्वारा घटित होती है।

उ. जननग्रंथियाँ (Gonads or Sex Gland) : जननग्रंथि से यहाँ तात्पर्य पुरुषों में शुक्र ग्रंथि और महिलाओं में डिंब ग्रंथि से है। इन ग्रंथियों सेस्रवित होने वाला अंत:स्राव स्त्री-पुरुषों के काम व्यवहार और प्रजनन क्षमता को नियंत्रित करता है। इस अंतस्राव को शुरू करना, उसे बनाए रखना और उसका नियमन करने का कार्य जननग्रंथि पोषक हार्मोन (Gonadotrophic Hormone) करते हैं,

यह अग्रपीयूष से निकलते हैं। महिलाओं में डिंबग्रंथियाँ एस्ट्रोजेन और प्रोजेस्ट्रोन उत्पन्न करती है। एस्ट्रोजेन से महिला शरीर का लैंगिक विकास होता है। लैंगिक रूप से परिपक्व एक महिला की डिंबग्रंथी में प्रजनन से संबंधित मूल लैंगिक लक्षण प्रकट होते हैं, जैसे- प्रत्येक 28 दिनों के पश्चात माहावारी का आना, जिसमें अंडाणु का निकलना। साथ ही कुछ गौण लैंगिक लक्षण, जैसे- वृक्षस्थल का विकास, शरीर की बाह्य सीमा का गोल होना इत्यादि इसी अंतःस्राव पर निर्भर करता है। प्रोजेस्ट्रोन का लैंगिक विकास में कोई योगदान नहीं होता है, इसका कार्य गर्भाशय को निषेचित अंडाणु ग्रहण करने के लिए तैयार करना होता है। पुरुषों में प्रजनन संबंधी व्यवहार महिलाओं की अपेक्षा अधिक सरल होता है, क्योंकि इसमें कोई चक्रीय प्रारूप नहीं होता। पुरुषों में शुक्रग्रंथि शुक्राणुओं को निरंतर उत्पन्न करती है और एंड्रोजन नामक पुरुष यौन अंतःस्रावित करती है। पुरुषों में प्रमुख यौन हार्मोन टेस्टोस्ट्रोन है। इस हार्मोन से पुरुष में गौण लैंगिक परिवर्तन आते है, जैसे- दाढ़ी-मुछें आना, आवाज का भारीपन और लैंगिक उन्मुख व्यवहार में वृद्धि। आक्रामकता में वृद्धि और दूसरे अन्य व्यवहार भी टेस्टोस्ट्रोन की उत्पत्ति से संबंधित है।

1.9 आनुवांशिकता (Heredity): मानव व्यवहार के विकास को प्रभावित करने वाले असंख्य कारक हैं। इनके कारण ही मानव का शारीरिक एवं मानसिक विकास होता है। साथ ही एक-दूसरे के शारीरिक और मानसिक विकास में अंतर इन्हीं कारकों के आधार पर दिखाई देता है। मानव शरीर असंख्य कोषों का योग होता है। यह कोष दो उत्पादक कोषों का योग होता है। इनमें से एक कोष पिता का होता है। पिता से संबंधित कोष को स्पर्म एवं माता से संबंधित कोष को ओवम कहते हैं। स्त्री-पुरुष के प्रत्येक कोष में क्रमश: 23-23 गुणसूत्र (Chromosomes) होते हैं। साधारणत: पुरुषों में XY तथा स्त्रियों में XX गुणसूत्र पाया जाता है। माता द्वारा X और पुरुष द्वारा Y गुणसूत्र के मिलान के पश्चात पुरुष (XY) भ्रूण होता है और माता द्वारा X और पिता द्वारा भी X गुणसूत्र के मिलान से स्त्री (XX) भ्रूण होता है। एक बच्चा जन्म के समय अपने माता और पिता से प्राप्त जीन्स के विशिष्ट संयोजन का धारक होता है। यह उत्तराधिकार मनुष्य के विकास को जैविक नक्शा प्रदान और समय-सारणी प्रदान करता है। अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार में प्राप्त शारीरिक और मनोवैज्ञानिक विशेषताओं का अध्ययन आनुवंशिकी (Genetics) कहलाता है।

माता-पिता के प्रत्येक गुणसूत्र में जीन्स की संख्या अलग-अलग होती है। प्रत्येक कोष में लगभग 2,00,000 जीन्स होते हैं। प्रत्येक जीन में कई प्रकार के रासायनिक पदार्थ होते हैं, जिसमें डीएनए (DeoxyribonucleicAcid) तथा अन्य प्रकार के प्रोटीन भरे होते हैं। मनुष्य के विकास का अधिकांश भाग जीन निर्धारित करते हैं। जीन में विशिष्ट प्रकार के प्रोटीन उत्पन्न करने के निर्देश होते हैं, जो शरीरक्रियात्मक प्रक्रियाएँ और जीव के दृश्य प्रारूप गुणों की अभिव्यक्ति को निर्धारित करता है। इन प्रक्रियाओं के फलस्वरूप संपूर्ण शरीर की हड्डियाँ, माँसपेशियाँ, तंत्रिकाओं, ग्रंथियों का विकास होता है। एक निश्चित जीन कई भिन्न रूप में जीवित रह सकता है। एक रूप से दूसरे रूप में बदलने की जीन की

क्रिया को उत्परिवर्तन (Mutation) कहा जाता है। जिस प्रकार का उत्परिवर्तन प्रकृति में स्वाभाविक रूप से पाया जाता है, उसी से जीन में भिन्नता आती है और नयी प्रजातियों की उत्पत्ति होती है। उत्परिवर्तन की प्रक्रिया नए जीन को पुराने उपस्थित जीन से पुन: संयोजन के अवसर प्रदान करती है। जीन संरचना का यह पुन: संयोजन पर्यावरण में परीक्षण के लिए रखा जाता है। जो जीन प्रारूप पर्यावरण में सर्वोपयुक्त पाया होता हैं, उन्हें छाँट लिया जाता है।

1.10 पर्यावरण (Environment): पर्यावरण मानवीय विकास और उसके व्यवहारों को प्रभावित करनेवाला महत्वपूर्ण कारक है। इसके अंतर्गत सामाजिक पर्यावरण, भौगोलिक पर्यावरण तथा संस्कृति महत्वपूर्ण होते है। बावजूद इसके माता-पिता, परिवार, विद्यालय, मीडिया, आर्थिक व्यवस्था, मानक, नियम आदि मनुष्य के व्यवहार को सीधे प्रभावित करने वाले तथा उसके व्यवहार निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। व्यवहारवादी विचारधारा से संबंधित विद्वान वाटसन का सुप्रसिद्ध उद्धरण है, जिसमें वह पर्यावरण की भूमिका को महत्वपूर्ण मानता है। उसका कहना था कि तुम मेरे पास एक दर्जन नवजात शिशुओं को लाओ, उनके उचित विकास के लिए मेरे अनुसार मनचाहा वातावरण उपस्थित करो। मैं दावे के साथ कहता हूँ कि उनमें से किसी एक बालक को चुनकर मैं उसे डॉक्टर, वकील, कलाकार, सौदागर, नेता ही नहीं भिखारी या चोर भी बना सकता हूँ। चाहे उसके भीतर किसी भी प्रकार योग्यता क्यों न हो। मानवीय व्यवहार पर गहरा असर डालने वाले इस महत्वपूर्ण कारक के अंतर्गत आने वाले निर्धारकों पर हम निम्नानुसार चर्चा करेंगे-

1. **माता-पिता :** बच्चा शुरुआत में अपने परिवार में माता-पिता पर अत्याधिक निर्भर होता है। अभिभावकों द्वारा की जाने वाली प्रत्येक हरकत का उस पर प्रभाव पड़ता है। इन सब को वह आने वाले समय में अपने व्यवहार निर्धारण में उपयोग करता है। अभिभावकों द्वारा बच्चे के किसी क्रिया-कलाप को टोकना, रोकना, प्रेरित करना निरुत्साहित करना, हतोत्साहित करना, ज़िम्मेदारी देना आदि क्रियाओं का काफ़ी असर पड़ता है जिससे वह बच्चा गलत-सही का निर्धारण सीखने लगता है। साथ ही माता-पिता के व्यवहारों का अनुकरण करके संतान बहुत कुछ सीखने का प्रयास भी करता है। ऐसे में माता-पिता के सही-गलत दोनों व्यवहारों का प्रभाव उस पर देखने को मिलता है। बच्चा इस दुनिया को अपने माता-पिता के नज़रिए से देखता है। इसलिए हो सकता है कि उनके लिए जो सही है या गलत है, उसके लिए उन क्रियाकलापों का अर्थ वही हो।
2. **द्वितीयक समूह :** लगभग 5 वर्षों के बाद बच्चा अपने परिवार, माता-पिता से अलग होकर समाज के विभिन्न समूहों में सम्मिलित होने लगता है। जैसे- पड़ोस, मित्र, विद्यालय आदि। इन्हें द्वितीयक समूह के रूप में भी हम जानते हैं। इन कारकों का भी उस पर काफ़ी असर देखने को मिलता है। जैसे की विद्यालय का वातावरण, पड़ोसियों का व्यवहार, मित्रों की संगति के प्रभाव का असर उस पर देखने को मिलता है। विद्यालय का वातावरण, शिक्षक और साथी विद्यार्थियों के बीच बच्चा अपना बहुत सा समय बिताता है ऐसे में वह उनका अवलोकन भी करता रहता है,

गलत-सही का निर्धारण कर वह कभी-कभी अपने अनुसार मित्र भी चुनता है। विद्यालय में बच्चों के साथ शिक्षकों का आदान-प्रदान उनके संज्ञानात्मक कौशल और सामाजीकरन की प्रक्रिया को परिचालित करता है, जिससे उनमें किसी खास रुचि, अरुचि का निर्माण होने लगता है। साथ ही विद्यालय में होने वाली अनुशासनात्मक कार्रवाईयाँ उन्हें गलत कारकों के प्रभाव में आने से रोकती है। किंतु ऐसा भी देखा जाता है कि मित्र समूह के अत्याधिक प्रभाव में रहने वाले बच्चे असामाजिक व्यवहारों की गिरफ्त में फंस जाते हैं, जिससे उनके समायोजन में गड़बड़ियाँ होती हैं। इसलिए अच्छे मित्र समूह का होना भी बहुत महत्वपूर्ण होता है। बच्चा अपने परिवार की तुलना ज़्यादातर पड़ोसियों के परिवार से करता है। उनके बीच होने वाली हरकते, भाषा आदि का भी बखूबी अवलोकन करता है और इसके माध्यम से भी बहुत कुछ सीखने का प्रयास करता है। इसलिए एक अच्छा पड़ोस भी व्यक्ति के व्यवहार पर काफी प्रभाव डालता है।

3. **संचार माध्यम :** प्राथमिक एवं द्वितीयक समूह के बाद या आज के समय में सबसेज़्यादा मनुष्य के व्यवहार को प्रभावित कारकों में संचार माध्यम प्रमुख है। जैसे टीवी, समाचार पत्र, विज्ञापन, मोबाइल फोन आदि प्रमुख है। आज कल ब्रांड के ज़माने में व्यक्ति क्या पहनता है कैसे पहनता है, किस कंपनी का उत्पाद पहनता है आदि के आधार पर उसकी प्रस्थिति (Status) का आंकलन किया जाता है। हम ऐसे समाज में रह रहें हैं जहाँ व्यक्ति को केवल एक उपभोक्ता के रूप में देखा जाता है। यहाँ तक कि सौंदर्य की नव-नवीन परिभाषा भी इन प्रसार माध्यमों के माध्यम से समाज में प्रसारित किया जाता है। साथ ही सामाजिक दायरे में हम न्यूज चैनलों पर मीडिया ट्रायल देखते ही है, जिसमें एक आम सहमति का निर्माण किया जाता है। कुल मिलाकर आज के समय में मनुष्य के आचार-विचार, भाषा, रहन-सहन, खाना-पीना, सोना यहाँ तक कि सेक्स भी इससे अछूता नहीं हैं। इस पर आज भी सवाल है कि यह सही है या गलत, किंतु माना जाता रहा है कि संचार माध्यम समाज का आईना है। अब यह किस के लिए सही और किस के लिए गलत इस बात के लिए मनुष्य को खुद के तर्कों का आधार लेना पड़ेगा। बावजूद इसकेमनुष्य के व्यवहार निर्धारण करने में इसकी भूमिका महत्वपूर्ण है।

4. **सामाजिक व्यवस्था (Social System) :** मनुष्य जन्म के साथ ही एक सामाजिक व्यवस्था के साथ जुड़ा होता है, जैसे- अर्थ व्यवस्था, प्रशासन, नियम-कानून, सामाजिक संस्थाएँ, सामाजिक नीतियाँ आदि महत्वपूर्ण होतीहै। इन सबका मानवीय जीवन पर काफ़ी असर देखने को मिलता है। मनुष्य लगातार जिस समाज में रहता है उस समाज के नियम क़ानूनों को अपनाने की कोशिश करता रहता है, किंतु सामाजिक व्यवस्था अगर सर्वसमावेशक नहीं हैं तो उसमें समायोजन के लिए उसको अतिरिक्त प्रयासों की आवश्यकता पड़ती है, जिसका सीधा असर उसके दैनंदिन जीवन पर देखा जाता है। ऐसे में उसके व्यवहार में अचानक परिवर्तन आने लगता है। हिंदी फिल्मों

में इसके कई सारे उदाहरण मिलेंगे, जिसमें प्रमुख पात्र किस तरह व्यवस्था के दबाव में गलत कदम उठाने पर मजबूर हो जाता है।

5. **संस्कृति (Culture) :** मनुष्य अन्य पशुओं से अलग क्यों है इस सवाल का जवाब केवल संस्कृति ही हो सकता है। क्योंकि आम तौर पर संस्कृति का अर्थ 'पर्यावरण का मानवनिर्मित भाग' से लगाया जाता है। इसमें मनुष्य के अपने व्यवहार के विभिन्न उत्पाद शामिल होते हैं। यह उत्पादन, भौतिक वस्तुएँ, विचार, सामाजिक संस्था आदि हो सकते हैं। समाजशास्त्र एवं मानवशास्त्र में हम पढ़ते हैं कि संस्कृति मनुष्य को जीवन जीने के साधन मुहैया कराती है। प्रत्येक समाज की संस्कृति दूसरे से अलग होती है। इसका एक अच्छा उदाहरण भारतीय संदर्भों में देखा जा सकता है। भारत एक विविधता वाला देश है यहाँ हिंदू मुस्लिम, सिक्ख, ईसाई, बौद्ध, जैन आदि धर्म से जुड़े लोग पाए जाते है। इन सबके आचार, विचार, वेषभूषा, कला, साहित्य में अलगाव दिखता है इतनी सांस्कृतिक बहुलता ने बहुसंस्कृतिकरण की प्रक्रिया का स्थान ग्रहण कर लिया है और एक दूसरेके आचार-विचारों का प्रभाव एक-दूसरे पर दिखाई पड़ता है।

कुल मिलाकर मानवीय व्यवहार को प्रभावित करने वाले कारकों में आनुवांशिकी और पर्यावरण का महत्वपूर्ण हिस्सा होता हैं। कुछ विद्वान आनुवांशिकी को महत्वपूर्ण मानते है और कुछ विद्वानों का मानना है कि पर्यावरण महत्वपूर्ण है। किंतु इस बहस के बावजूद आनुवांशिकी और पर्यावरण दोनों ही मानवीय व्यवहार के निर्धारण में अपनी भूमिका निभाते हैं। इसे R॰ S॰Woodworth (1954) अपनी किताब Experimental Psychology में इस तरह लिखते हैं "आनुवांशिकता विकास की प्रथम अवस्था में जितनी भी शक्तिशाली रही हो, यह विकास में वृद्धि के साथ और व्यक्ति में पर्यावरणीय प्रभावों के संचय से अपेक्षाकृत अप्रभावी हो जाती है।" साधारण शब्दों में कहें तो आनुवांशिकता बीज का काम करता है और पर्यावरण को मिट्टी, जल, खाद के रूप में देखा जा सकता है। बीज की अपनी गुणवत्ताहोती है, किंतु उचित जल, खाद, जमीन के वह बेकार है। वैसे ही कभी-कभी कमज़ोर बीच भी अच्छी खाद, उचित सिंचाई और मिट्टी की उर्वरता के कारण काफ़ी अच्छे से फलता-फूलता है। इसलिए मनुष्य आनुवांशिकता और पर्यावरण का योग नहीं, बल्कि गुणनफल है, जोड़ नहीं, बल्कि उत्पाद या परिणाम हैं।

1.11 सारांश

उक्त इकाई में हमने मानवीय व्यवहार की अवधारणा को समझते हुए उसके निर्धारकों, जैसे- दैहिक आधार, आनुवांशिकता एवं पर्यावरण को समझा। मानवीय व्यवहार क्या है? कैसे है? इसकी पूरी प्रक्रिया को हमने समझा। साथ ही हमने उसके निर्धारकों पर बात करते हुए व्यवहार के दैहिक निर्धारकों, जैसे- तंत्रिका तंत्र, मस्तिष्क, अंतःस्रावी ग्रंथियाँ, मेरुरज्जु आदि को विस्तार से समझा है। दैहिक निर्धारकों के साथ ही मानवीय व्यवहार एवं उसके विकास पर प्रभाव डालने वाले प्रमुख प्रभावक, आनुवांशिकता और पर्यावरणीय कारकों पर भी चर्चा की है, जिसमें- माता-पिता, विद्यालय, पड़ोस, मित्र समूह, सामाजिक

व्यवस्था, संचार माध्यम एवं संस्कृति आदि पर प्रकाश डाला गया है। अंत में पर्यावरण बनाम आनुवांशिकता की बहस और सापेक्षितता पर भी बात की है।

अत: इस निष्कर्ष पर पहुँचा जा सकता है कि सम्झने के तौर पर तो हम मानवीय व्यवहार के निर्धारकों की बात करते हुए उसके दैहिक निर्धारकों, आनुवांशिकता एवं पर्यावरण पर बात करते हैं। बावजूद इसके मानवीय व्यवहार को एक बृहत अवधारणा में देखें तो व्यवहार कालसापेक्ष अवधारणा है जो किसी खास समय में उचित होती है या घटित होती है। इसको समझने के लिए हमें मनुष्य पर प्रभाव डालने वाले कारकों का अध्ययन करना पड़ेगा। इसके लिए किताबों से ज़्यादा हमको हमारे आस-पड़ोस के लोगों का अध्ययन अधिक सटीक निष्कर्ष पर पहुँचाएगा। अत: अध्ययन कर्ताओं से अनुरोध है कि मानवीय व्यवहार को समझने के लिए वह अपने आस-पास के लोगों का लगातार अवलोकन कर उसे रेखांकित कर अपने ज्ञान को परिष्कृत करते रहें।

1.12 बोध प्रश्न

1. मानव व्यवहार की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए उसकी प्रक्रिया को सोदाहरण स्पष्ट करें।
2. मानवीय व्यवहार के निर्धारण में दैहिक आधारों की चर्चा करें।
3. आनुवांशिकता को व्याख्यायित करते हुए मानवीय व्यवहार के निर्धारण में उसकी भूमिका पर प्रकाश डाले।
4. मानवीय व्यवहार में पर्यावरण के महत्व को दर्शाते हुए उसके विभिन्न कारकों पर चर्चा करें।
5. तंत्रिका तंत्र की कार्य प्रणाली पर प्रकाश डाले।

1.13 संदर्भ एवं उपयोगीग्रंथ

Bhatia, M. S. (2009). *Dictionary Of Psychology And Allied.* New Delhi: New Age International.

MURTHY, R. S. (2011). Mental health initiatives in India (1947–2010). *THE NATIONAL MEDICAL JOURNAL OF INDIA, 24*(02), 98. Retrieved 01 01, 2013

Pyle, W. H. (1917). *The Science Of human Nature : A Psychology For Beginners.* Bostan : SILVER, BURDETT & COMPANY. Retrieved from Project Gutenberg's.

Woodworth, R. S., & Schlosberg, H. (1954). *Experimental Psychology.* Holt Pub.: New York.

कुप्पुस्वामी, बी. (2003). *समाज मनोविज्ञान* (पंचम ed.). (श. श्यामसिंह, अ. वर्मा, &धर्मपाल, Trans.) पंचकुला: हरियाणा साहित्य अकादमी.

ज्ञान शांति मैत्री

त्यागी, म. (2009). *आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान*.जयपूर: पोइंटर पब्लिशर्स.

त्रिपाठी, आ., &म., त्यागी . (2014). विकासात्मक मनोविज्ञान .नई दिल्ली : ओमेगा पब्लिकेशन्स .

सिंह, अ. कु., &कुमार, स. आ. (2014). व्यक्तित्व का मनोविज्ञान (आठवाँ ed.). दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास.

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् कक्षा 11 वी की मनोविज्ञान की पाठ्य सामग्री।

*आकृति क्रं. 3, 4 व 5 राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान औरप्रशिक्षण परिषद, कक्षा 11 वी की मनोविज्ञान की पाठ्य सामग्रीसे साभार।

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई : 2 समायोजन : अवधारणा विशेषताएँ और निर्धारक

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य
2.1 प्रस्तावना
2.2 समायोजन की अवधारणा
2.3 समायोजन की आवश्यकता
2.4 समायोजन की विशेषताएँ तथा निर्धारक
2.5 समायोजन की प्रक्रिया
2.6 समायोजन एवं बचाव तंत्र
2.7 समायोजन की समस्या और समाज कार्य
2.8 सारांश
2.9 बोध प्रश्न
2.10 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

2.0उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप -

1. समायोजन के प्रति बेहतर समझ विकसित कर पाएँगे
2. समायोजित व्यक्तित्व की विशेषता तथा निर्धारकों को रेखांकित कर सकेंगे
3. समायोजन की प्रक्रिया का विश्लेषण कर पाएँगे।
4. समाज कार्य के अंतर्गत व्यक्ति समायोजन को स्पष्ट कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

व्यक्ति का संपूर्ण जीवन समस्याओं से व्याप्त है। जीवन के हर पड़ाव सव्यक्ति के सामने अनेक कठिनाईयाँ आती है, जिनका सामना करते हुए व्यक्ति आगे बढ़ता है। सभी व्यक्ति समान नहीं होते इस नियम के आधार पर सभी व्यक्ति अपनी समस्याओं से निबटने की क्षमता रखते हो ऐसा नहीं होता। इसके लिए विभिन्न कारक ज़िम्मेदार होते हैं, जैसे- सिखा हुआ व्यवहार, समाजीकरण, विकृत व्यक्तित्व, मनो-विकृति तथा शारीरिक दुर्बलता आदि।शारीरिक, मानसिक तथा विभिन्न सामाजिक कारकों के संतुलन में गड़बड़ी होने के कारण समस्याओं से निबटने में व्यक्ति को कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है। ऐसे में

कुछ लोग असामाजिक व्यवहार की ओर आकर्षित हो जाते है, जिससे वे असमायोजित होने लगते हैं। वह असमायोजन ही है, जो व्यक्ति की आवश्यकता पूर्ति में अवरोध खड़ा करता है।

आधुनिक समय में विभिन्न तरह के परिवर्तनों के कारण बदली जीवन शैली में अपना समायोजन करना लोगों के लिए काफ़ी तकलीफदेह है। सामाजिक मानकों, नीति-नियमों के अंतर्गत बंधे रहने की विवशता से मुक्त होकर स्वच्छंदता की ओर जनमानस का रुख है। ऐसे में असमायोजन की समस्याओं में काफ़ी वृद्धि हो रही है। जीवन के प्रत्येक पड़ाव, शिशु, बाल्य, किशोर, युवा, प्रौढ़ तथा वृद्ध इन सभी अवस्थाओं में उचित समायोजन की समस्या बनी हुई है। असमायोजन (Maladjustment) की समस्या में शुरुआत से ही समाज कार्य क्रियाशील रूप से काम करता रहा है। समाज के विभिन्न वर्गों, आयु वर्गों, जो असमायोजन की समस्या से ग्रस्त हैं, के लिए सेवा कार्य तथा सहयोग प्रदान करता आया है। सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य के अंतर्गत असमायोजित व्यक्ति के समायोजन के लिए सीधे जुड़कर कार्य किया जाता है, जो आज भी जारी है। साथ ही बाकी अप्रत्यक्ष विधियों के अंतर्गत समाजिक कार्यकर्ता व्यक्ति को समायोजन स्थापना में सहयोग देता है।

समायोजन से तात्पर्य किसी परिस्थिति में सामंजस्य बनाए रखने के लिए उचित हो, ऐसा व्यवहार करना समायोजन कहलाता है। असंतुलन की समस्या अनेक कारणों से पैदा होती हैं। इन समस्याओं का समाधान प्राप्त करना ही समायोजन कहलाता है। एक स्वस्थ जीवन के लिए यह बहुत ही आवश्यक होता है। अगर कोई व्यक्ति समायोजन स्थापित करने में अक्षम पाया जाता है, तो वह कुसमायोजित हो जाता है। सामंजस्य स्थापित न होने की दशा में व्यक्ति तनाव, कुंठा, चिंता आदि से ग्रस्त होकर असमायोजित होने लगता है। इससे न केवल समाज में उसकी प्रभाविता घटेगी, बल्कि उसका निजी जीवन भी अस्त-व्यस्त हो जाएगा। इसलिए जीवन को खुशहाल बनाने के लिए समायोजित व्यवहार बहुत ही आवश्यक है।अत: इस इकाई में हम समायोजन के विभिन्न आयामों को समझेंगे। जीवन को खुशहाल बनाने के लिए समायोजित व्यवहार बहुत ही आवश्यक है। रोज़मर्रा के जीवन में एक सामान्य व्यक्ति संतुलन बनाते हुए चलता है, एक ख़ास तरह के समायोजन तरीकों से वह अपना जीवन सुरक्षित करने की लगातार चेष्टा करता दिखता है। व्यक्ति द्वारा दिन-प्रतिदिन बदलती सामाजिक संरचना में अपने आप को ढ़ालने की कोशिश ही समायोजन है। समाज में जितनी भी संस्थाएँ है, वे व्यक्ति के समायोजन में सहयोग करती दिखती है। उदाहरण के लिए कोई पीड़ित व्यक्ति अपने हिस्से के न्याय की माँग को लेकर पुलिस या न्यायपालिका के पास पहुँचता है। ऐसे में उसे अगर न्याय प्राप्त होता है, तो वह सफलतापूर्वक समाज में समायोजित हो जाता है अन्यथा कई मामलों में न्याय न मिलने के कारण व्यक्ति असंवैधानिक तरीकों से समायोजन स्थापित करने का प्रयत्न करता है, नतीजतन वह कुसमायोजित हो जाता है।

इस इकाई में हम व्यक्ति के विभिन्न समायोजन और समायोजन के तरीकों और आवश्यकता के बारे में बात करेंगे। चूँकि एक सजग सामाजिक कार्यकर्ता के लिए यह जरुरी है कि वह व्यक्ति की समस्या को

जानने से पहले उसके समायोजन के तरीकों को टटोले, ताकि उसकी समस्या का समाधान उचित प्रकार से किया जाए।

2.2 समायोजन की अवधारणा

ब्रिटेनिका विश्वकोश (2016) के अनुसार "समायोजन, मनोविज्ञान में, एक व्यवहार प्रक्रिया है, जिसके द्वारा मनुष्य एवं अन्य प्राणी अपनी विभिन्न आवश्यकताओं और उनके अपने पर्यावरण में उन आवश्यकताओं के बीच आने वाले अवरोधों में संतुलन बनाए रखता है। समायोजन का एक अनुक्रम,है जिसकी शुरुआत ज़रूरत महसूस होने से होती है और उसकी संतुष्टि के बाद वह समाप्त हो जाती है। उदाहरण के लिए एक भूखे लोग, वे अपनी शारीरिक दशाओं से उद्दीप्त होकर खाना ढूँढते हैं। उन्हें जब खाना मिल जाता है, तब उनके इस उद्दीप्त स्थिति में कमी आती है, जिसे वे अपनी इस विशेष आवश्यकता पूर्ति में लगाते है। कुल मिलाकर वह अपनी ख़ास आवश्यकता पर काबू कर समायोजन स्थापित कर लेते हैं।"

साधारणत: समायोजन की प्रक्रिया में **चार** हिस्से शामिल होते हैं:

1. एक आवश्यकता या एक लगातार उद्दीपन के स्वरूप में मजबूत प्रोत्साहन,
2. उस आवश्यकता की असंतुष्टि या विफल होना,
3. विविध गतिविधि, या समस्या समाधान द्वारा व्यवहार परक अन्वेषण, और
4. कुछ प्रतिक्रियाओं को बाहर करना या कम-से-कम शुरूआती उद्दीपन को कम करते हुए समायोजन स्थापना क्रिया को पूर्ण करना।

मेरी जहोड़ा (1953) के अनुसार "जब हम किसी व्यक्ति को संबोधित करते हुए कहते हैं कि वह अच्छी प्रकार से समायोजित, मनोवैज्ञानिक रूप से स्वस्थ तथा सुखमय जीवन व्यतीत कर रहा है, तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि वह या उसकी परिस्थितियाँ किसी एक प्रकार की निलंबित उत्कृष्टता (Suspended perfection) में स्थिर हो गई हैं। इसका तात्पर्य यह है कि वास्तविक समस्याएँ, जिनसे वह संघर्ष करता है, वे न तो संख्या में अधिक हैं और न ही अधिक शक्तिशाली, बल्कि वे उसके प्रबंध की सीमा में है तथा दिन-प्रतिदिन की समस्याओं से निपटने के लिए उसकी प्रणाली यथोचित तथा अल्पव्ययी है।"

जे. एफ. लेहनर एवं इला क्यूबे (1956) के अनुसार "समायोजन एक सार्वभौमिक तथा निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है। जीवित अवयव साधारण से जटिल अवस्था में निरंतर समायोजन का प्रयास करता है। इस समायोजन का संबंध प्राणीशास्त्रीय आवश्यकताओं, जैसे भूख तथा प्यास की संतुष्टि से संबंधित होती है अथवा मानवीय स्तर पर मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं जैसे संबंध स्थापना की इच्छा, प्रेम तथा वात्सल्य प्राप्त करने की इच्छा या रचनात्मक आत्म प्रदर्शन के अवसर प्राप्त करने की इच्छा की पूर्ति से होता है।"

ब्रिटेनिका विश्वकोश (2016) का मानना है कि व्यक्ति का **सामाजिक और सांस्कृतिक समायोजन** शारीरिक समायोजन की तरह ही होता है। लोग जिस परिवेश में सहज महसूस कर रहें हैं, उसी सामाजिक दायरे से वह अपनी मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं को प्राप्त करने का प्रयास करते हैं। जब आवश्यकताएँ पैदा होती है, ख़ास कर तब, जब नए परिवेश में हो, ऐसे में वे आगे आकर अंतर्वैयक्तिक क्रियाकलापों के अंतर्गत अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि कर लेता है। इस तरह से लोग पर्यावरण में अपने लिए सहज वातावरण पैदा करते हैं, जिससे भविष्य में वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति उस सामाजिक दायरे के माध्यम से कर सकते हैं। अगर इस तरह कोई व्यक्ति अपने सामाजिक सांस्कृतिक परिवेश में समायोजन नहीं प्राप्त कर पातेहु तब अवसाद और चिंता जैसी समस्याओं का उन्हेंसामना करना पड़ता है।

हम पर्यावरण के तत्वों को अपनी आवश्यकताओं तथा रूचियों को प्राप्तकरने के लिए समायोजित करने का निरंतर प्रयत्न करते रहते हैं। परंतु इस कार्य के साथसाथ हम अपनी मनोवृत्तियों तथा व्यवहारों को भी समय के अनुसार बदलते रहते हैं जिससे अधिक-से-अधिक व्यक्तिगत समास्याओं के समाधान संतोष प्राप्त करते हुए सामाजिक संबंधोंको सुदृढ़ बनाते हैं। पर्यावरण का समायोजन तथा आत्म का समायोजन दोनों ही व्यक्तित्व विकास के मूलाधार हैं। व्यक्ति का इन परिवर्तनों से संबंध प्रत्यक्ष, चेतन तथा अचेतन रूप से जन्म के समय से ही प्रारंभ हो जाता है और आजीवन चलता रहता है। उसका व्यवहार इन शक्तियों एवं कारकों के उचित परिवर्तन एवं समायोजन पर निर्भर होता है।

पी. डी. मिश्र (1985) अपनी पुस्तक *सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य* में कहते हैं समायोजन प्रक्रिया में **तीन** तत्व मुख्यरूप से विद्यमान होते हैं-

1. कुंठित करने वाली परिस्थितियाँ,
2. विविध प्रत्युत्तर तथा प्रेरणाएँ।
3. यदि आवश्यकताओं की पूर्ति में पर्यावरणीय परिस्थितियाँ बाधा नहीं उत्पन्न करती हैं, तो समायोजन स्वत: हो जाता है। अन्यथा इसके लिए प्रयास करना पड़ता है, जिसके कारण वह अनेक प्रक्रियाएँ तथा प्रत्युत्तर करता है, जिसके पीछे प्रेरणा शक्ति विद्यमान रहती हैं।

पी. डी. मिश्र (1985) के अनुसार व्यक्ति किस सीमा तक सफल समायोजन स्थापित करेगा, प्राय: दो बातों पर निर्भर होता है-

1. पर्यावरण संबंधी उद्दीपक (Stimuli) - जिनसे वह संपूर्ण जीवन में विशेषकर बचपन तथा युवा अवस्था में आरक्षित रहा है।
2. जन्मजात तथा अर्जित शक्ति-जिनसे वह अपने में परिवर्तन करता है तथा रचनात्मक विचारों, भावनाओं तथा क्रियाओं का विकास होता है।

पर्यावरणीय दशाएँ तथा व्यक्ति की अपूर्ण एवं दोषयुक्तक्षमताएँ प्राय: असमायोजन के विकास में सहयोग प्रदान करती हैं, जिनसे न केवल संबंधित व्यक्ति को हानि होती है, बल्कि उन व्यक्तियों को भी क्षति पहुँचती हैं। जिनके प्रति व्यवहार एवं मनोवृत्तियाँ प्रदर्शित कीजाती हैं-

ज्ञान शांति मैत्री

2.3 समायोजन की आवश्यकता

व्यावहारिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में समायोजन मानवीय व्यवहार के रूप में देखा जाता है। मानवीय अस्तित्व के लिए जिस प्रकार विभिन्न व्यवहार अपेक्षित है, उसमें से समायोजन एक महत्वपूर्ण व्यवहार है। विद्यमान समय में हम देखते हैं कि व्यक्तियों में व्यवहार से संबंधित विभिन्न विकार उत्पन्न हो रहे हैं। उचित समायोजन के अभाव में व्यक्ति किसी विकृति, रोग, सामाजिक समस्या, संवैधानिक दंड अपराध आदि की गिरफ्त में फंस सकता है। एक सफल जीवन व्यतीत करने के लिए जिस प्रकार एक अच्छा व्यक्तित्व महत्वपूर्ण होता है, वैसे ही बाह्य एवं आतंरिक पर्यावरण में समायोजन स्थापित कर पाना भी महत्वपूर्ण हैं। समाज कार्य में हम देखते हैं कि वैयक्तिक सेवा कार्य के अंतर्गत व्यक्ति के समायोजन पर कार्यकर्ता अपना संपूर्ण ध्यान लगाता है। ऐसे मेंव्यक्ति की सबसे महत्वपूर्ण आवश्यकता समायोजन को प्राप्त करने की आवश्यकता है, क्योंकि यह वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा व्यक्ति जीवन रक्षा के अवसर प्राप्त करता है। इस मूल उद्देश्यके अतिरिक्त *पी. डी. मिश्र (1985)* के अनुसार निम्नलिखित कारणों से समायोजन की आवश्यकता होती है

1) स्वयं को भलीभाँति समझना।
2) दूसरों को भलीभाँति समझना।
3) आस-पास की दुनियाँ को भलीभाँति जानना।

सामान्य शब्दों में समझे तो व्यक्ति जिस समाज में रहता है उसी से अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। उसकी शारीरिक, मानसिक, सामाजिक, आर्थिक तथा भावनात्मक आदि आवश्यकताओं की पूर्ति वह उसी समाज में से संसाधन जुटाकर करता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक अपनी विभिन्न आवश्यकताओं के लिए वो अपने सिवाय दूसरों पर भी निर्भर होता है। इसलिए स्वयं के साथसाथ दूसरे व्यक्ति तथा आस-पास के परिवेश की अच्छी समझ उसे आवश्यकता पूर्ति के साथसाथ समायोजन में मदद करेगी।

2.4 समायोजित व्यक्ति की विशेषताएँ तथा निर्धारक

समायोजित व्यक्ति से तात्पर्य है वह व्यक्ति, जो अपने दैनंदिन जीवन में आने वाली समस्याओं को खुद सुलझा सकता हो, अपनी भावनाएँ तथा अभिप्रेरणाओं पर नियंत्रण के साथ वह समायोजित व्यवहार करता हो। समायोजित व्यक्ति कैसा होना चाहिए इसका निर्धारण करने के लिए हमें उसकी विशेषताओं को समझना पड़ेगा। *पी. डी. मिश्र (1985)* के अनुसार संतोषजनक समायोजन के लिए व्यक्ति में निम्नलिखित विशेषताएँ आवश्यक होती हैं :-

वैयक्तिकता की भावना (Sense of Individuality)

बालक प्रारंभ से ही यह जान लेता है कि उसका अस्तित्व दूसरों से भिन्नहै। जैसे-जैसे वह बड़ा होता है, वैसे-वैसे उसमें अहं ज्ञान की योग्यता बढ़ती जाती है। एक समायोजित व्यक्ति समाज के आदर्शों के

अनुरूप अपने आप को परिवर्तित कर लेता है और यह निश्चित करने में समर्थ होता है कि वह कौन-सी परिस्थिति होगी, जब समाज की माँगों को पूरा करना अनुचित होगा।

समायोजित व्यक्ति में अपने अधिकारों तथा कर्तव्यों के ज्ञान के साथ ही दूसरे के प्रति उत्तरदायित्व की चेतना भी होती है।

आत्मनिर्भरता (Independence)

समायोजित व्यक्ति समस्याओं के समाधान के लिए स्वयं आत्मनिर्भर होता है। अपने उद्देश्यों एवं इच्छाओं की पूर्ति स्वयं कर लेता है।

विश्वास (Confidence)

विश्वास के आधार पर ही एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों से घनिष्ठ संबंध स्थापित करता है। वह अपनी शक्तियों एवं कमियों को समझता है तथा उसके अनुसार कार्यकरता है।

स्वयं तथा अन्य व्यक्तियों की स्वीकृति (Acceptance of himself and others)

समायोजित व्यक्ति अपनी स्थिति को सही-सही समझता है तथा अपना स्थान समाज में निश्चित करता है। वह अन्य व्यक्तियों को स्वीकार करता है तथा उनके अधिकारों की रक्षा करता है।

सुरक्षा की भावना (Feeling of security)

समायोजित व्यक्ति अपने को आंतरिक एवं बाह्य रूप से सुरक्षित महसूस करता है।

उत्तरदायित्व की भावना (Sense of Responsibility)

समायोजित व्यक्ति अपने कार्यों का उत्तरदायित्व ग्रहण करता है और कार्यों के परिणामों को स्वीकार करता है तथा दूसरों की आवश्यकताओं का ध्यान रखता है। वह उन उत्तरदायित्वों को पूरा करता है जो परिवार, समूह तथा समाज द्वारा निश्चित किए जाते हैं।

अभिस्थापन (Orientation)

समायोजित व्यक्ति नए ज्ञान की खोज के लिए सदैव तत्पर रहता है। वह अपनी प्रेरणाशक्ति को अपनी योग्यताओं एवं क्षमताओं को विकसित करने के लिए अधिकाधिक उपयोग करता है। उसके निश्चित उद्देश्य होते हैं तथा लक्षण की दिशा भी निश्चित होती हैं।

अनुभव का उचित उपयोग (Proper use of Experience)

एक समायोजित व्यक्ति वर्तमान समस्याओं को निपटानेतथा क्रियाओं के संपादन में अपने पूर्व अनुभव का समुचित उपयोग करता है।

समस्या समाधान की मनोवृत्ति (Problem solving attitude)

समायोजित व्यक्ति की मनोवृत्ति सदैव परिस्थिति का सामना करने के लिए तैयार रहती है। वह समस्याका सामना करने के लिए अपने व्यवहार में परिवर्तन लाता है तथा परिस्थिति में भी परिवर्तन करना जानता है।

व्यक्तिगत मूल्य एवं जीवन दर्शन (Personal values and philosophy of life)

समायोजित व्यक्ति के मूल्य सामाजिक मूल्यों के समान विकसित होते हैं। उसके जीवन का दर्शन व्यक्तिगत एवं सामाजिक कल्याण करना होता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि समायोजित व्यक्ति में विश्वास, सुरक्षा, उत्तरदायित्व, अनुभव से सीखने की क्षमता, व्यक्तिगत मूल्य एवं आदर्शों की उपयुक्तता आदि विशेषताएँ पाई जाती हैं। व्यक्ति के व्यवहार के तरीके तथा मनोवृत्तियाँ प्राय: उसके समायोजन प्रस्थिति (Status) का प्रतिनिधित्व करते हैं। परंतु प्रत्येक व्यवहार का तरीका तथा मनोवृत्ति समायोजन प्रक्रिया में समान महत्व रखते हैं। समायोजित व्यवहार के निम्नलिखित तत्व होते हैं-

1. जीवन के प्रति संपूर्ण दृष्टिकोण।
2. जीवन का वास्तविक प्रत्यक्षीकरण।
3. सांवेगिक तथा सामाजिक परिक्वता।
4. आंतरिक एवं बाह्य परिस्थितियों में, जो मानव व्यवहार को प्रभावित करती हैं, अच्छा संतुलन।

2.5 समायोजन की प्रक्रिया

व्यक्ति समाज में रहकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। आवश्यकता पूर्ति मेंउसे अपने व्यक्तिगत अनुभव, अभिप्रेरणा, अभिवृत्ति तथा आवश्यकताओं का अनुक्रम आदि कारक सहयोग प्रदान करते हैं। इन सब कारकों से व्यक्ति अपने आप पर नियंत्रण रखने में समाजीकरण की प्रक्रिया के अंतर्गत योग्य बनता है। इससे अलग बाह्य वातावरण में समूह, संस्थाएँ, विचारधारा और आज के समय में कहे तो आभासी दुनिया आदि कारक उसे अपने में समेटने तथा बाहर करने के लिए संगठित बल तैयार रखते हैं ऐसे में व्यक्ति के सामने अपने व्यक्तिगत व्यवहार प्रणाली के आधार पर बाह्य वातावरण से तारतम्य बिठाना आवश्यक होता है। इसे ही हम समायोजन की प्रक्रिया के रूप में जानते हैं। पी॰ डी॰ मिश्र (1985) समायोजन प्रक्रिया को दो प्रकारों में विभाजित कर समझाते हैं-

1. व्यक्तित्व समायोजन तथा
2. अंतरवैयक्तिक संबंध समायोजन

मानवीय व्यवहार के अनेक आयाम है। व्यक्तित्व एक महत्वपूर्ण आयाम है। व्यक्ति का व्यक्तित्व उसके व्यवहारों का संगठित ढाँचा होता है, जिसके बगैर व्यक्ति को समझना मुश्किल है। **व्यक्तिगत समायोजन** का अर्थ है मानवीय व्यवहार के अंतर्गत उसके मूल्य एवं अभिवृत्ति में एकीकरण एवं संतुलन बनाए रखना। इस प्रक्रिया में कार्यकर्ता को यह ध्यान रखना होता है कि व्यक्ति काइगो मजबूत हो। इगो जितना शक्तिशाली होगा उतना ही अच्छा संतुलन बनाए रखने में मदद होगी।

व्यक्ति अगर एक ओर व्यक्तित्व धारण करता है, तो दूसरी ओर वह सामाजिक नीति, नियमों के अधीन रहकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता हैइसलिए उसे सामाजिक प्राणी भी कहा जाता

है। **अंतरवैयक्तिक संबंध समायोजन** से तात्पर्य यह है कि एक व्यक्ति का अन्य व्यक्ति के मध्य संबंध हैं। अर्थात समाज में व्यक्ति द्वारा अर्जित भूमिका तथा प्रस्थिति की कुछ आकांक्षाएँ होती ,है जिनको सामाजिक संबंधों के आधार पर पूर्ण किया जा सकता है। संबंधों और आकांक्षाओं में दूरी बढ़ने के कारण समस्याएँ प्रकट होने लगती है। इन समस्याओं का निवारण समाज कार्य में किया जाता है, जिसके लिए कार्यकर्ता को गैप को ढूँढना पड़ता है। इसके लिए व्यक्ति की भूमिका तथा प्रस्थिति की माँग तथा उसके समाज में संबंध आदि का मेल बिठाना पड़ता है। ऐसे मेंव्यक्ति को अंतरवैयक्तिक संबंध समायोजन बिठाने में कार्यकर्ता उसे सहयोग प्रदान करता है।

पी० डी० मिश्र (1985) आगे लिखते हैं कि समायोजन के संबंध में एक मुख्य बात यह है कि यह प्रक्रिया द्विमुखी है। अत: केवल व्यक्ति के व्यक्तित्व में ही परिवर्तन की आवश्यकता नहीं होती, बल्कि वह व्यक्ति जिस पर्यावरण में रह रहा होता है, उसमें भी परिवर्तन आवश्यक है।

वैयक्तिक समाज कार्य से संबंध रखने वाले विचारकों का यह मानना है कि समाज कार्य में समायोजन की अवधारणा से तात्पर्य यह है कि सेवार्थी को इस बात के लिए तैयार करना कि वह समाज की परंपराओं को स्वीकार करे अथवा स्वयं को उसके अनुकूल बनाए। लेकिन व्यक्तिवादिता के आलोक में यह विचार धुंधले पड़ गए और इन्हें नकारा गया। इसकी जगह यह विचार प्रबल हुआ कि सामाजिक कार्यकर्ता को सेवार्थी की सहायता इस प्रकार करनी चाहिए कि वह बाह्य वातावरण की वास्तविकता को समझे, किंतु इसके लिए यह आवश्यक नहीं है कि उस वास्तविकता को स्वीकार भी करे। वैयक्तिक सेवा कार्य करते समय एक कार्यकर्ता को समस्या ग्रस्त व्यक्ति की समस्या का समाधान करते हुए उसके व्यक्तित्व तथा बाह्य पर्यावरण में परिवर्तन लाने का प्रयास करना चाहिए। पी० डी० मिश्र (1985) के अनुसार वैयक्तिक सेवा कार्य का इस संबंध में निम्नलिखित उद्देश्य प्रमुख है

1. वैयक्तिक संबंधों में सुधार
2. मनोवृत्तियों तथा मूल्यों के बीच समायोजन स्थापित करना
3. सामाजिक प्रकार्यात्मकता को पुनर्स्थापित करना
4. व्यक्ति के अनुभवों को संतोषप्रद बनाना
5. आत्म-निर्देशन तथा सामाजिक योगदान की योग्यता में वृद्धि करना तथा
6. सेवार्थी के अनुकूल पर्यावरण में परिवर्तन।

जब हम समायोजन संबंधी प्रक्रिया का वास्तविक जीवन में विश्लेषण करते हैं, तो यह सर्वथा निश्चित होता है कि व्यक्ति में समायोजन की क्षमता पूर्व अनुभवों, बाह्य पर्यावरणीय दशाओं तथा व्यक्तगत शक्तियों पर निर्भर होती है।

ज्ञान शांति मैत्री

समायोजन समस्या या विकृति

समायोजन को एक समस्या के रूप में देखें, तो इसका तात्पर्य व्यक्ति की आंतरिक माँगों तथा बाह्य माँगों के बीच असंतुलन से है। यह व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत इच्छाओं या आवेगों तथा अपने वातावरण के आवेगों के बीच संतुलन बनाए रखने में विफल करती है। इसे समायोजन समस्या या कुसमायोजन कहा जाता है।

DSM-IV (1994) में समायोजन विकृतियों को एक अलग श्रेणी में रखा हैं। इस मैनुअल में कहागया है कि यह वह स्थिति है जब कोई व्यक्ति किसी प्रतिबलक (Stressor) से प्रभावित होकर तनावपूर्ण स्थितियों के प्रति कुसमायोजी व्यवहार करने लगता है। सामान्यत: प्रबलक के घटित होने के तीन माह या उससे कम ही समय में व्यक्ति कुसमायोजी बन जाता है। परिणामत: वह नई परिस्थितियों में समायोजित होने में असफल हो जाता है। लेकिन् यह विकृति अस्थायी होती है। प्रतिबलक को हटा देने के बाद अथवा व्यक्ति के समायोजन के तरीके में परिवर्तन कर देने के बाद यह यह विकृति समाप्त हो जाती है।

स्रोत: मुहम्मद सुलैमान् एवं दिनेश कुमार(2010) *मनोविज्ञान और सामाजिक समस्याएँ.* पृ० 150

समायोजन की प्रक्रिया कार्य **कारण संबंध** पर स्थित होती है। यह सिद्धांतों का भी उपयोग अपनी कार्यप्रणाली में करती है। इसके लिए **अंत:क्रिया** का होना आवश्यक होता है।

जब व्यक्ति पर्यावरणीय तत्वों से अंत:क्रिया में समायोजन करने का प्रयत्न करता है, उस समय या तो वह उनको अपने व्यवहार का अंग बना लेता है या अपनी रूचियों एवं आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्तित कर देता है। अंतरवैयक्तिक संबंधों को इस प्रकार से समायोजित करने का प्रयत्न करता है, जिससे समूह अथवा समूहोंमें आदरणीय स्थान प्राप्त हो सके। अंत:क्रिया की प्रक्रिया में बिना ज्ञात हुए कि हम क्या करने जा रहे हैं, उन तरीकों का प्रयोग करते हैं, जिनका दूसरों में अवलोकन किया है इस प्रक्रिया से व्यवहार के तरीके में विकास होता है, जो कि समायोजन के वैयक्तिगत तरीके की संरचना बनाता है।

2.6 समायोजन एवं बचाव तंत्र

किसी परिस्थिति में सामंजस्य बनाए रखने के लिए उचित हो, ऐसा व्यवहार करना समायोजन कहलाता है। समायोजन की समस्या अनेक कारणों से पैदा होती है। इन समस्याओं का समाधान प्राप्तकरना ही समायोजन कहलाता है। एक स्वस्थ जीवन के लिए यह बहुत ही आवश्यक होता है। अगर कोई व्यक्ति समायोजन स्थापित करने में अक्षम पाया जाता है तो वह कुसमयोजित हो जाता है। सामंजस्य स्थापित न होने की दशा में व्यक्ति तनाव, कुंठा, चिंता आदि से ग्रस्त होकर कुसमयोजित होने लगता है। इससे न केवल समाज में उसकी प्रभाविता घटेगी, बल्कि उसका निजी जीवन भी अस्त-व्यस्त हो जाएगा। इसलिए जीवन को खुशहाल बनाने के लिए समायोजित व्यवहार बहुत ही आवश्यक है।एक व्यक्ति विभिन्न प्रकार से समायोजन कर सकता है जैसे-

1. ***रचनात्मक समायोजन*:-** लक्ष्य प्राप्ति के प्रयत्नों में वृद्धि करना, समस्या पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार करना, अन्य लोगों से सलाह लेना तथा समाधान का प्रयास करना आदि।
2. ***प्रतिस्थापित समायोजन* :-** जिस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति प्रयत्नरत हो वह लक्ष्य प्राप्त नहीं हो रहा हो तो संबधित लक्ष्य का प्रतिस्थापन कर, उसके बदले विकल्प का चयन कर, खुद को समायोजित करता है।
3. ***मानसिक तंत्र*:-** कठिनाईयों से बचने के लिए इच्छा का दमन, क्षतिपूर्ति, उदात्तीकरण आदि का उपयोग कर व्यक्ति समायोजन स्थापित कर लेता है।
4. ***प्रत्यक्ष बचाव* :-** लक्ष्य प्राप्त न होने पर क्रोधित होकर आक्रमण कर देना, उदासीन हो जाना या प्रतिगमन व्यवहार करना आदि।

तनाव, कुंठा, निराशा आदि के चलते या इनसे बचने के लिए कुछ बचाव के तरीके व्यक्ति अपनाता है, जो समायोजन में उसको मदद करते है। फ्रायड की अवधारणा में इसे बचाव तंत्र (Coping Mechanism)के रूप में परिभाषित किया जाता है। व्यक्ति रोज़मर्रा के जीवन में आने वाली समस्याओं, आवश्यकताओं की पूर्ति न होने के कारण या आत्मसंतुष्टि प्राप्त न होने की दशा मेंऐसे बचाव तंत्रों का उपयोग करता है। यहाँ हम उसमें से कुछ तंत्रों का उल्लेख करेंगे जो निम्नवत है-

1. ***दमन*:-** दमन से तात्पर्य है ऐसा कोई विचार, इच्छा, आवश्यकता, अनुभव को चेतना में से निकाल देना जो दुखद या कष्टकर है। साथ ही इससे बचने के लिए अपना ध्यान अन्य पर केंद्रित करता है।
2. ***उदात्तीकरण*:-** एक लक्ष्य प्राप्त करने में असफल हो जाने के बाद उसी तरह के किसी दूसरे लक्ष्य का चयन कर अपनी इच्छा पूर्ति करने का प्रयास उदात्तीकरण कहलाता है।
3. ***क्षतिपूर्ति* :-** वंचित लक्ष्य प्राप्ति न होने के कारण व्यक्ति में हीन भावना विकसित होती है उसकी क्षतिपूर्ति के लिए वह किसी अन्य लक्ष्य को प्राप्त कर संतुष्टि करेगा।
4. ***तादात्मीकरण*:-** इस मानसिक तंत्र के आधार पर व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति या आदर्श की विशेषताओं के अनुरूप अपने अंदर विशेषताएँ विकसित करने का प्रयास करेगा। तादात्मीकरण अपनी कमज़ोरी छिपाने का एक तरह का प्रयास भी माना गया है। कभी-कभी व्यक्ति संभावित कष्ट से बचने के लिए उस व्यक्ति के अनुसार कार्य करने लगता है, जो उसे कष्ट देने में सक्षम है।
5. ***युक्तिकरण*:-** जब व्यक्ति अपनी असफलताओं को छुपाने के लिए वास्तविक कारण की जगह अवास्तविक कारणों के आधार पर किसी बात का औचित्य सिद्ध करने लगता है, इस प्रक्रिया को युक्तिकरण कहते हैं।
6. ***प्रक्षेपण*:-** इस तंत्र के अंतर्गत व्यक्ति अपने असफल परिणामों, कमज़ोरियों को दूसरों पर आरोपित करता है या उसको माध्यम बनाता है।

7. ***बौद्धिकीकरण*:-** व्यक्ति भयपूर्ण, दुखद या कष्टकर परिस्थितियों के प्रति विमुखता या तटस्थता की भावना विकसित करता है ताकि उसका कार्य-व्यवहार समस्या से संबंधित संवेगात्मक दशाओं से प्रभावित न हो सके।
8. ***अकृतन* (Undoing):-** जब कोई व्यक्ति गलत काम करता है या उसका आभास होता है, तो वह उसका प्रायश्चित करता है, जिससे उसे यह लगता है कि मैं वहीं हूँ जहाँ यह गलत काम करने से पहले था।
9. ***प्रतिक्रिया संरचना*:-** व्यक्ति अपनी किसी तीव्र इच्छा को छुपाने के प्रयास में एकदम उसके विपरीत व्यवहार करने लगता है। जैसे-कोई व्यक्ति अवांछित कार्यों में लिप्त है और वह अचानक समाज सेवा का कार्य शुरू कर देगा।
10. ***विस्थापन*:-** समस्या, तनाव, कुंठा को नियंत्रित या कम करने के लिए इस तंत्र को उपयोग में लाया जाता है। जैसे- ऑफिस में बॉस का गुस्सा चपरासी पर उतारना।

उपर्युक्त तंत्रों के बावजूद और कई सारे बचाव तंत्र एवं सुरक्षा तंत्रों का उपयोग व्यक्ति अपने आप को समाज में समायोजित करने के लिए करता है। किंतु महत्वपूर्ण बात यह है कि इनमें से कई सारे ऐसे तंत्र है, जिनका बार-बार, आवश्यकता से ज़्यादा उपयोग व्यक्तित्व में गड़बड़ी पैदा कर सकता है या व्यक्ति के सामाजिक मूल्य को कम कर सकता है। इसलिए यह राय दी जाती है कि व्यक्ति को सदैव वास्तविकता को महत्व देना चाहिए।

2.7 समायोजन की समस्या और समाज कार्य

भारत आज भी तीसरी दुनिया का हिस्सा माना जाता है। यहाँ विभिन्न समस्याएँ हैं। गरीबी, भुखमरी, बेरोज़गारी जैसी सामाजिक समस्याएँ तथा इनके कारण व्यक्ति के मानसिक स्वास्थ्य पर भी पड़ रहा है। इसके कारण यहाँ के लोगों में शारीरिक स्वास्थ्य की समस्या भी बड़ी मात्रा में देखी जाती है।

ग्रेस मैथ्यू (Grace Mathew) ने भारत में 200 वैयक्तिक अध्ययन (Case Study) दस्तावेजों को आधार बनाकर सर्वे किया, जिसमें उसने दर्शाया कि भारत में किस तरह की समस्याएँ है। इसे हेमा मेहता ने निम्नांकित रूप से वर्गीकृत कर दिया है-

1. बीमारी (illness) और असमर्थता से संबंधित समस्याएँ
2. भौतिक संसाधनों की कमी के कारण उत्पन्न समस्याएँ
3. स्कूल संबंधी समस्याएँ
4. संस्थानीकरण से संबंधित समस्याएँ
5. व्यवहार समस्याएँ
6. वैवाहिक मतभेद संबंधी समस्याएँ
7. समस्याजन्य परिस्थितियों में उत्तर कार्य-(Follow Up) सेवा की आवश्यकता संबंधी समस्याएँ
8. असमर्थता के कारण दिव्यांग लोगों के पुनर्वास से संबंधित आवश्यकता

9. सामाजिक समस्याओं जैसी समस्याएँ, जैसे-चोरी, वेश्यावृत्ति, मद्यपान, नशा, और अविवाहित माताएँ आदि समस्या में सेवार्थी की दुर्दशा और कठिनाईयों केगिरफ्त में बने रहने की समस्याएँ

उक्त सभी समस्याओं मेंप्रमुख समस्या है, समस्या का जटिल होना (Problem Complex)। क्योंकि जब कोई व्यक्ति किसी मानसिक, सामाजिक, स्वास्थ्य समस्या के चंगुल में फंस जाता है तब उस समस्या से बाहर निकलने में होने वाली कठिनाई है। ऐसे में उसके लिए समाज में जगह बनाकर उसे उसमें समायोजित करने का दायित्व समाज कार्य पर आता है। इसके लिए समायोजन प्रक्रिया के अंतर्गत व्यक्ति में परिवर्तन के साथ-साथ उस बाह्य पर्यावरण में भी परिवर्तन लाने का काम सामाजिक कार्यकर्ता को करना पड़ेगा।

इन विशिष्ट समस्याओं में समायोजन के बावजूद समाज कार्य में विभिन्न संस्थाओं के अंतर्गत व्यक्ति को समाज में समायोजन के लिए मदद मुहैया की जाती है। ये वे संस्थाएँ है जिनसे व्यक्ति का संबंध जीवन से मृत्यु तक बना रहता है। परिवार, मित्र समूह, पड़ोस जैसी सामाजिक संस्थाओं के साथसाथ आधुनिक समय की माँग के अनुसार बने विद्यालय, कॉलेज, अस्पताल, पुलिस, न्यायालय आदि संस्थाएँ व्यक्ति को समाज में पुन: समायोजन के लिए प्रेरित करती है। इन सभी संस्थाओं में सामाजिक कार्यकर्ता उनके समायोजन के लिए विभिन्न भूमिकाएँ निभाता है। जैसे- विद्यालय में स्कूल छोड़ने पर मजबूर या स्कूल में जिनकी रुचि नहीं हैं, ऐसे विद्यार्थियों के लिए परामर्शदाता के रूप में वह उन विद्यार्थियों को सेवा-सहायता प्रदान करता है। कॉलेज जैसी संस्थाओं में सामाजिक कार्यकर्ता कॅरियर मार्गदर्शक के रूप में उनको सहयोग देता है। अस्पताल में आने वाले मरीजों को उचित जानकारी देकर उनका मनोबल ऊँचा करने का कार्य सामाजिक कार्यकर्ता करता है। अपराध के क्षेत्र से जुड़े अपराधियों के लिए कार्यरत पुलिस और न्यायालय के साथ मिलकर वह मार्गदर्शक के रूप में कार्य करता है, जिससे अपराध में कमी आए। इन समस्याओं के बावजूद कुंठा चिंता, क्रोध जैसे दैनंदिन जीवन से जुड़ी समस्याओं को भी सुलझाने का कार्य वह करता है। यह समस्या दिखने में छोटी लगती है, किंतु इसके कारण भयंकर मानसिक बीमारियों के गिरफ्त में जाने की संभावना को नकारा नहीं जा सकता, इसलिए दबाव, तनाव आदि रोज़मर्रा के जीवनशैली से संबंधित समस्याओं को समझकर उसका समाधान करके व समस्याग्रस्तों का समाज में पुन: समायोजन करने में उनकी मदद सामाजिक कार्यकर्ता करता है।

2.8 सारांश

शिशु पैदा होने के साथ ही बाह्य वातावरण के साथ समांजस्य स्थापित करने लगता है। उसको वह सारी चीजें मिलें, जो वो चाहता है, तो वह समाधान महसूस करता है, जिसका असर उसके शरीर पर भी हमको दिखता है। आप देखेंगे शिशु के चिड़चिडेपन का असर उसके शरीर पर भी पड़ता है। समाधानी शिशु का वजन तीव्रता से बढ़ता है, जो अच्छे स्वास्थ्य का द्योतक है। वही दूसरी ओर उसके चिड़चिड़ा बनने का असर उसके शारीरिक स्वास्थ्य पर होता है। यही अंतर है एक समायोजित व्यक्ति का स्वास्थ भी ठीक रहता है, साथ ही वो अन्य समस्याओं के प्रति उचित व्यवहार कर उनका निबटान करता है। समस्या तो

जीवन के प्रत्येक पड़ाव पर आती है, किंतु उन समस्याओं के साथ जूझने तथा निबटान करने के तरीके सीखकर व्यक्ति उनका सामना करता है। इसके साथ ही अपनी सामान्य आवश्यकताओं में आने वाले अवरोधों, मानसिक द्वंद्व, संघर्ष जैसी स्थितियों में उचित निर्णय लेने की क्षमता विकसित कर लेने की योग्यता वह रखता है।

इस तरह समायोजन जीवन पर्यंत चलने वाली प्रक्रिया है, जिसमें व्यक्ति अपनी विभिन्न आवश्यकताओं को पूर्ण करता है। समाज कार्य का मूल उद्देश्य ही यह है कि व्यक्ति जितना चाहता है(Optimum) उस ऊँचाई तक उसके विकास में मदद करना है। समाज कार्य व्यक्ति के समायोजन के लिए विभिन्न तरीके अपना कर उसे उसकी आवश्यकता पूर्ति में मदद करता है तथा उसके लक्ष्य निर्धारण में भीमदद करता है।

2.9 बोध प्रश्न

1. समायोजन की अवधारणा को समझाते हुए उसे परिभाषित करें।

2. समायोजन की आवश्यकता को स्पष्ट करें।

3. समायोजित व्यक्ति कैसा हो? स्पष्ट करें।

4. समायोजन में बचाव तंत्र की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

5. व्यक्ति के समायोजन में समाज कार्य की भूमिका स्पष्ट करें।

2.10 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

मिश्र, पी. डी. (2013). *सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य* (8th ed.). लखनऊ: उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान.

सिंह, आर. एन. (2010). *आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान* (5th ed.) . आगरा: अग्रवाल पब्लिकेशन्स.

सुलैमान, एम. (2010). *मनोविज्ञान और सामाजिक समस्याएँ*. दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई : 3 असामान्य व्यवहार : लक्षण कारक और प्रकार

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य

3.1 प्रस्तावना

3.2 सामान्य व्यवहार

3.3 असामान्य व्यवहार

3.4 सैद्धांतिक पृष्ठभूमि

3.5 असामान्य व्यवहार के लक्षण

3.6 असामान्य व्यवहार के कारक

3.7 असामान्य व्यवहार के प्रकार

3.8 सारांश

3.9 बोध प्रश्न

3.10 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप -

1. असामान्य व्यवहार की अवधारणा की व्याख्या कर सकेंगे।
2. असामान्य व्यवहार के लक्षणों एवं कारकों की पहचान कर सकेंगे।
3. असामान्य व्यवहार के सैद्धांतिकी को रेखांकित सकेंगे।
4. असामान्य व्यवहार और सामान्य व्यवहार के बीच अंतर करते हुए असामान्य व्यवहार के प्रकारों को प्रदर्शित कर सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

सामान्य व्यवहार व्यक्ति के जीवन को सुखमय बनाता है, परंतु व्यवहार सामान्य से विपरीत हो जाए तो समाज में उसका समायोजन कठिन समस्या बन जाता है साथ ही व्यक्ति स्वयं भी विभिन्न व्याधियों से ग्रस्त हो जाता है।

मानव 'विकास' के प्रत्येक चरण में कुछ-न-कुछ क्रियाकलाप (Movement) जरुर करता रहता है। जिससे मानव और समाज के बीच अंतर्संबंध निर्माण होता है, बावजूद इसके कुछ व्यवहार वैयक्तिक व्यवहार कहलाते हैं और कुछ सामाजिक व्यवहार। समाज के चार स्तरों- व्यक्ति, समूह, समुदाय एवं समाज में हम व्यक्ति के विभिन्न क्रियाकलापों को अब तक देखते हुए आ रहे हैं। आज के समय में

व्यक्तिवादिता का बोलबाला है, इसलिए व्यक्ति के हितों में भी बदलाव दिखाई देते हैं। अत: व्यक्ति ज़्यादा से ज़्यादा उन्हीं चीज़ों को जानने, समझने एवं अनुभव करने कीकोशिश करता है, जिसमें उसका स्वहित हो। बावजूद इसके मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और वह समाज से अलग होकर जीवन व्यतीत नहीं कर सकता, इसलिए उसके प्रत्येक व्यवहार के निर्धारण में सामाजिक कारकों का हस्तक्षेप ज़रूर होता है। आमतौर पर हम मानवीय क्रियाकलापों को व्यवहार के रूप में परिभाषित करते हैं। किंतु मनोविज्ञान में मानवीय व्यवहार को सामान्य और असामान्य व्यवहार के रूप में वर्गीकृत कर देखा जाता है। इसकी आवश्यकता समाज कार्य में इसलिए भी होती हैं, क्योंकि समाज कार्य में व्यक्ति के साथ कार्य करते समय उसके व्यक्तित्व, व्यवहार आदि को समझना अनिवार्य होता है। इस प्रकार के अध्ययन के बिना सामाजिक कार्यकर्ता व्यक्ति की समस्याओं का निदान एवं उपचार नहीं कर सकता है।साथ ही व्यक्ति से सेवार्थी के रूप में परिवर्तित होने की प्रक्रिया में हम देखते हैं कि सभी व्यक्ति समान होते हैं। तब समाज कार्य में सेवार्थी कौन है? इस सवाल का जवाब है कि सेवार्थी वह है जो सामाजिक कार्यकर्ता या ऐसे किसी संगठन के पास अपनी समस्या के समाधान के लिए आता है, वही सेवार्थी है। वैसे भी समाज कार्य में व्यक्ति के व्यवहारों की जांच पड़ताल तथा समस्या निर्धारण के लिए व्यक्ति के व्यवहारों का अध्ययन मायने रखता है।

मानव व्यवहार व्यक्ति को समाज में रहने योग्य बनाता तथा सामाजिक संबंधों को निभाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस खंड के इकाई : 01 में हमने मानव व्यवहार पर विस्तार से चर्चा की है। प्रस्तुत इकाई में असामान्य व्यवहार के लक्षण, कारक और प्रकार पर चर्चा की जाएगी जिसमें असामान्य व्यवहार के सभी पक्षों का अध्ययन किया जाएगा। इससे पहले कि हम असामान्य व्यवहार को समझें हमारे सामने सामान्य व्यवहार का मापदंड होनाचाहिए, जिसके आधार पर हमें असामान्यता को समझने में सहूलियत होगी।

ज्ञान शांति मैत्री

3.2 सामान्य व्यवहार

आम तौर पर सामान्य व्यवहार से यह अर्थ लगाया जाता है कि समाजमान्य व्यवहार ही सामान्य व्यवहार है, जिसमें समाज के नीति-नियमों, कानूनों का पालन, सांस्कृतिक प्रतिमानों का अनुपालन आदि शामिल है। सामान्य शब्द का सीधे अर्थ लगाया जा सकता है कि जो सर्वमान्य है, वही सामान्य भी है। हिंदी शब्द सामान्य अंग्रेजी के Normal से बना है, जिसकी उत्पत्ति लैटिन शब्द norma से हुई है। किस्नर जी. डब्ल्यू. (1964) के अनुसार norma शब्द का अर्थ Carpentar's Square होता है। इसके शाब्दिक अर्थ से भी पता चलता है कि सामान्य शब्द एक ख़ास चौखट (Frame) की बात करता है या एक माप प्रणाली जिसके अंदर आने वाले सभी सामान्य के वर्ग में शामिल हो जाते है।

ए. एल. मास्लो, एवं बी. मिटेलमन (1951) अपनी किताब *प्रिंसिपल्स ऑफ़ एब्नार्मल सायकोलोजी* में सामान्य व्यक्ति की विशेषताएं देते हैं जो निम्नवत हैं

- यथेष्ठ सुरक्षा की भावना

- वास्तविक जीवन लक्ष्य
- वास्तविकता से प्रभावपूर्ण संपर्क
- यथेष्ठ स्वत: स्फूर्ति
- समुचित संवेगात्मकता
- आत्म मूल्यांकन की उचितमात्रा
- पूर्वानुभावोंसे सीखने की योग्यता
- अपनी वैयक्तिकता बनाए रखने के साथ-साथ समूह की आवश्यकता पूर्ण करने की योग्यता
- व्यक्तित्व का एकीकरण और स्थायित्व।

जो व्यक्ति समाज में पूरी तरह समायोजित होता है तथा आवश्यकता पड़ने पर अपने आप में परिवर्तन कर लेता है वह सामान्य व्यक्ति कहलाता है। जीवन का लक्ष्य निर्धारित कर उसके पथदर्श पर चलने की क्षमता रखना व्यक्ति की सामान्यता का द्योतक है। सामान्य व्यक्ति सामाजिक वास्तविकता के साथ उचित संपर्क बनाते हुए उसे प्रभावपूर्ण बनानेके लिए समयानुरूप क्रियाकलाप करता है। सामान्य व्यक्ति वह है जो अपनी समस्याओं को सुलझाने कीपर्याप्त क्षमता रखता है। सामान्य परिस्थितियों में वह दूसरों की सहायता नहीं लेता, अपितु स्वत: स्फूर्ति से समस्या का सामना करता है। सामान्य व्यक्ति आमतौर पर अपने विकास के साथ-साथ समाजीकरण के दौरान सीखे हुए व्यवहारों से अपनी भावनाओं परपर्याप्त नियंत्रण प्राप्त कर लेता है। प्रेम, क्रोध, प्रसन्नता, भय, प्रतिशोध, सुख-दु:खआदि की अभिव्यक्ति सामान्य रूप से करता है। सामान्य व्यक्ति अपनी ज़िम्मेदारियों को समझते हुए अपनी क्षमता के अनुरूप ज़िम्मेदारियों का वहन करता है। अपने द्वारा किए गए व्यवहार का मूल्याँकन वह विभिन्न कसौटियों के आधार पर करता है जिससे उसे अपनी शक्तियों एवं कमियों का एहसास होता है।सामान्य व्यक्ति समाज का समायोजित व्यक्तित्व होता है। अपने हित और अहित के साथ-साथ वह जिस समाज, समूह में रह रहा होता है उनके प्रति पर्याप्त ज्ञान रखता है। इसी ज्ञान के आधार पर वह समाज में अपने संबंध दृढ़ करता है। ऐसे व्यक्तियों का व्यक्तित्व संगठित और एकीकृत माना जाता है। उसमें स्थायित्व होता है जो उसके समुचित विकास के लिए सदैव कार्यरत होता है।

3.3 असामान्य व्यवहार

सामान्य रूप से असामान्यता का अर्थ सामान्यता के विपरीत व्यवहार से लगाया जाता है। सामान्य व्यवहार के विपरीत है असामान्य व्यवहार। असामान्य व्यवहार के व्यक्ति सामाजिक नीति-नियमों तथा सांस्कृतिक प्रतिमानों का उल्लंघन करते हैं। 'अनियमितता' इसका प्रमुख लक्षण है। असामान्यता को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न शब्दों का उपयोग विद्वानों द्वारा किया गया है। प्रयागदीन मिश्र एवं बीना मिश्र (2015) के अनुसार असामान्यता को असामान्य व्यवहार (Abnormal Behaviour), प्रतिकुलित

व्यवहार (Maladaptive Behaviour), मानसिक विकृति (Mental Disorder), मनोव्याधिकी (Psychopathology), सांवेगिक व्यवधान (Emotional Disturbance), मानसिक रोग (Mental Illness), व्यवहार विकृति (Behavioural Disorder), पागलपन (Insanity) आदि पदावली के साथ जोड़कर स्पष्ट करते हैं। उनका मानना है कि इन शब्दों के अंतर्गत ही असामान्यता को समझा जा सकता है। बहरहाल उक्त सभी पदों के अपने अलग-अलग अर्थ है, किंतु परिणामत: यह सब असामान्यता को व्यवस्थित दर्शाने की योग्यता रखते हैं। वैसे भी असामान्यता की कोई वैश्विक परिभाषा नहीं की जा सकती। कुछ मनोवैज्ञानिक इसका कारण सांस्कृतिक मानते हैं। इसलिए असामान्यता को मापना या परिभाषित करना आज तक संभव नहीं हो पाया है। बावजूद इसके असामान्यता को समझने के लिए कुछ परिभाषाएं निम्नलिखित हैं-

रुथ बेनेडिक्ट (1934) के अनुसार "*असामान्यता केवल सांस्कृतिक मूल्यों की अभिव्यक्ति है जो व्यक्ति एक संस्कृति में असामान्य घोषित कर दिए जाते हैं, वे दूसरी संस्कृति में जाकर सामान्य व्यवहार करते हैं।*" इनका मानना था कि असामान्यता संस्कृति सापेक्ष होती है जिसके कारण हो सकता है कि किसी बाहरी संस्कृति के लिए एक व्यक्ति का व्यवहार असामान्य हो जाए और उस व्यक्ति को असामान्य घोषित कर दिया जाए। उदाहरण के तौर पर भारत में विभिन्न संस्कृतियाँ हैं युरोप में बीफ खाना आम बात हैं किंतु वही व्यवहार हिंदूओं के लिए पाप है।

जे. एफ. ब्राउन (1940) का विचार है कि "*असामान्य मनोवैज्ञानिक तथ्य सामान्य मनोवैज्ञानिक तथ्यों का अतिरंजित तथा विकृत स्वरूप है*"।

थॉमस साज (Thomas Szasz) (1961) के अनुसार "*नैतिक तथा सामाजिक आदर्शों से पृथक्करण मानसिक रोग समझा जाता है।*" जो अंतत: असामान्यता को दर्शाती है। इनका तो यह भी कहना था कि अगर कोई कहे कि भगवान स्वप्न में आकर मुझसे बात कर रहे थे तब तक ठीक है जैसे ही वो यह कह दे कि मैं भगवान से बात कर रहा था तो लोग पागल करार देंगे। इसलिए असामान्यता एक मिथक है जो ख़ास प्रकार के वर्गों द्वारा इसे रचा जाता है।

जैसे कि चित्र : 01 में देखा जा सकता है। सामान्यता एक नियमित अवधारणा है। इसलिए उसे मध्यरेखा के रूप में देखा जाता रहा है। असामान्यता नियमितता में किसी कारण गड़बड़ी, असमायोजन है जो उस मध्य रेखा तक पहुँचने में अवरोध खड़ा करती है। उदाहरण के तौर पर मानसिक अवसाद, तनाव, या किसी प्रकार की गंभीर शारीरिक-मानसिक विकृति तथा व्यवस्था जनित व्याधिक हो सकती है। इन दोनों से अलग पारलौकिकता या अलौकिकता है जो सामान्यता से आगे ले जाती है।

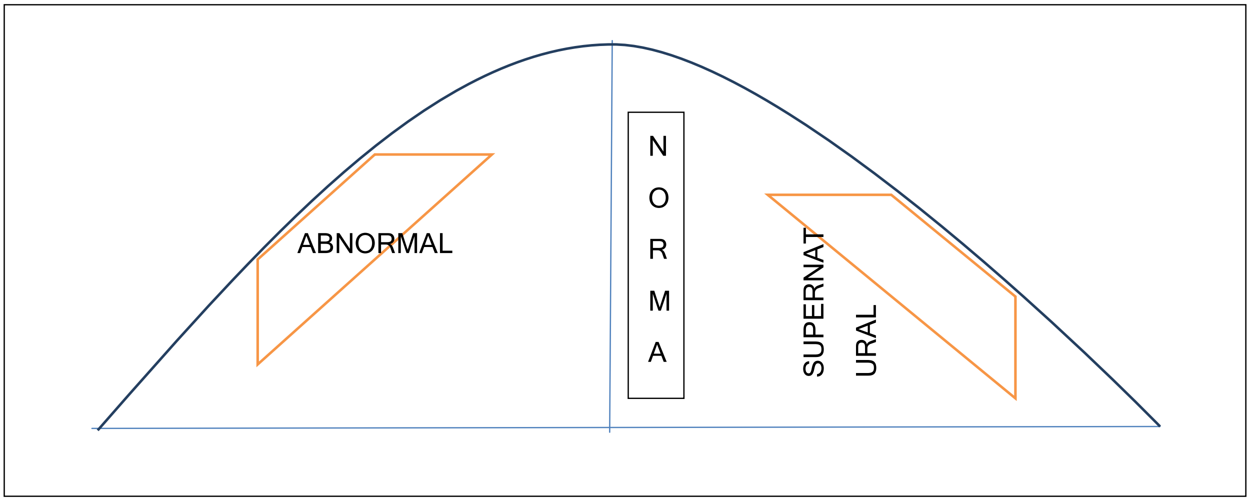

चित्र : 01

सामान्य भाषा में हम इसे भगवान, सुपरमैन, शक्तिमान आदि रूपों में मानते है तथा साधु-सन्यासियों के रूप अलौकिक कार्य के रूप में इसे परिभाषित करते हुए पारलौकिक मानते हैं।पारलौकिकता का कारण कभी-कभी जन्मजात माना जाता है, कभी वह दृढ़ इच्छा शक्ति, संकल्प हो सकता है या फिर विज्ञान का नवाचार हो सकता है। कुछ विद्वानों का विचार है कि पारलौकिकता प्राकृतिक नियमों से ऊपर उठने की या उससे परे जाने की क्षमता है। शुरूआती समय में असामान्य व्यक्तित्व और असाधारण व्यक्तित्व को भी कुछ विद्वान साथ में ले कर चलते रहे, किंतु आज हम देखते हैं कि मनोविज्ञान के क्षेत्र में इसके प्रति सोच बदल गई है। मनोविज्ञान में असामान्य व्यवहार का अध्ययन करने के लिए, असामान्य मनोविज्ञान (Abnormal Psychology) शाखा का निर्माण हुआ है। यह शाखा मनुष्यों के असाधारण व्यवहारों, विचारों, ज्ञान, भावनाओं और क्रियाओं का वैज्ञानिक अध्ययन करती हैइस शाखा का मानना है कि असामान्य या असाधारण व्यवहार वह है जो सामान्य या साधारण व्यवहार से भिन्न हो। साधारण व्यवहार वह है जो बहुधा देखा जाता है और जिसको देखकर कोई आश्चर्य नहीं होता और न उसके लिए कोई चिंता होती है। वैसे तो सभी मनुष्यों के व्यवहार में कुछ-न-कुछ विशेषता और भिन्नता होती है, जो एक व्यक्ति को दूसरे से भिन्न बताती है फिर भी जब तक वह विशेषता अति अद्भुत न हो, कोई उससे उद्विग्न नहीं होता, उसकी ओर किसी का विशेष ध्यान नहीं जाता तब तक वह सामान्य व्यवहार है। पर जब किसी व्यक्ति का व्यवहार, ज्ञान, भावना या क्रिया दूसरे व्यक्तियों से विशेष मात्रा और विशेष प्रकार से भिन्न हो और इतना भिन्न हो कि दूसरे लोगों को विचित्र जान पड़े तो उस क्रिया या व्यवहार को असामान्य या असाधारण कहते हैं।

3.4 सैद्धांतिक पृष्ठभूमि

शुरूआती समय में समाज में असामान्यता के प्रति चेतना का अभाव था इस कारण उस समय में असामान्यता को अलग-अलग शब्दों में, पदावली में रखकर परिभाषित किया जाता रहा। दैवी शक्ति,

विच हंटिंग (Witch-Hunting), परमात्मा-आत्मा आदि के रूप में असामान्यता को परिभाषित किया जाता था। भारत जैसे देश में पाप-पुण्य, नैतिकता का ह्रास, पूर्वजन्म का प्रभाव आदि शब्दों में असामान्यता को परिभाषित किया जाता था। सत्रहवीं सदी में यूरोप में एक बड़े पैमाने पर विच हंटिंग के साक्ष्य मिलते है। विज्ञान के विकास के बाद ख़ास कर चिकित्सा विज्ञान तथा अन्य अनुशासनों के अंतर्गत इस असामान्यता के बारे में चर्चाएँ होने लगी, जिससे असामान्यता को धार्मिक चोले से बाहर निकालने में मदद मिली। तथापि मनोविज्ञान के विकास ने असामान्यता को समझने की तैयारी शुरू की थी। लेकिन कई सारे भ्रम अकादमिक सिद्धांतों में भी प्रवेश कर गए, जिससे असामान्यता कभी रोग, कभी बीमारी, कभी जन्मजात, कभी अपराधी, जैसे शब्दों में परिभाषित होने लगी। लगभग उन्नीसवीं सदी के अंत तक दुनियाभरमें यही आलम रहा। इस समय का एक प्रचलित भ्रम यह था कि मनोउन्माद (Histeria) केवल महिलाओं को होने वाला मानसिक रोग है।

बीसवीं शताब्दी की शुरुआत में असामान्यता के क्षेत्र में एक बड़ा प्रतिमान हस्तांतरण (Paradigm Shift) हुआ। इसे थामस साज ऐसे लिखते हैं कि उन्नीसवीं शताब्दी तक चिकित्सा का क्षेत्र सीमित था, किंतु फ्रायड के मनोविश्लेषण उद्भव के पश्चात चिकित्सा क्षेत्र परिवर्तित हुआ और शरीर से मन तक पहुंचा (Szasz, 1972 and 2006) मन की अवधारणा के स्पष्टीकरण के बाद मनोविज्ञान के क्षेत्र में क्रांति आई जिसके अंतर्गत नए क्षेत्रों का निर्माण हुआ। असामान्य मनोविज्ञान भी इसी की देन हैं। इससे पहले अमेरिकन सायाकियाट्रिक एसोशिएशन के पास असामान्यता को परिभाषित करने के लिए केवल एक शब्द था पागलपन (Insanity) परंतु इस पैराडाइम शिफ्ट के बाद उनके पास असामान्यता को वर्गीकृत करने के लिए हजारों शब्द है। इसके बावजूद मनोविज्ञान और चिकित्सा विज्ञान के मिलाप से बना मनोरोग-विज्ञान (Psychiatry) अपना योगदान दे रहा है। फिलहाल आज असामान्यता को समझने के लिए विभिन्न प्रारूप हमारे सामने है, जिसके अंतर्गत असामान्यता को समझा जाता है तथा उपचार भी किया जाता है।

प्रयागदीन मिश्र एवं बीना मिश्र (2015) अपनी पुस्तक *असामान्य व्यवहार* में असामान्य व्यवहार को समझने के लिए निम्नलिखित प्रारूपों की चर्चा करते हैं-

- चिकित्सकीय प्रारूप
- मनोविश्लेषणात्मक प्रारूप
- व्यवहारवादी प्रारूप
- मानवतावादी प्रारूप
- अस्तित्ववादी प्रारूप
- अंतर्व्यवस्थात्मक प्रारूप

आधुनिक प्रयोगात्मक विज्ञान की उन्नति के साथ असामान्य व्यवहार के ज्ञान एवं उपचार में भी प्रगति हुई। **चिकित्सा प्रारूप** को विलियम ग्रेसिंजर (William Griesinger) (1845) ने अपनी किताब *पैथोलोजी एंड थेरेपी ऑफ़ साइकिक डिसऑर्डर्स* में विश्लेषित किया। इसमें इन्होंने दैहिक कारणों का विस्तार से वर्णन किया और बताया कि मस्तिष्क में जब किसी प्रकार का विकार उत्पन्न हो जाता है तो वह व्यक्ति असामान्यता या मानसिक विकृति का शिकार हो जाता है। एमिल क्रेपलिन (1883) ने चिकित्सकीय प्रारूप को मानसिक रोगों के वर्गीकरण के आधार पर दृढ़ता प्रदान की। इस प्रारूप के कारण असामान्यता को व्याख्यायित करने वाले पुराने मिथिकीय प्रारूप की जगह चिकित्सा प्रारूप ने जल्द ही ले ली। आगे अनेक अनुसंधानों से ज्ञात हुआ कि कुछ ऐसी भी मनोविकृतियाँ है जिनका आधार शरीर नहीं है। फलस्वरूप मनोवैज्ञानिक कारकों की ओर ध्यान आकृष्ट हुआ।

सिगमंड फ्रायड (1856-1939) ने मनोविकृतियों को मनोवैज्ञानिक आधार देकर विश्लेषित किया, जिसके आधार पर **मनो-विश्लेषणात्मक** प्रारूप का विकास हुआ। इनका मानना था कि असामान्यता इच्छाओं के दमन, अवास्तविक आकांक्षाएं तथा दमित वासनाओं आदिके कारण पनपती है। मनो-विश्लेषणात्मक प्रारूप के अंतर्गत मानसिक समस्याओं का विश्लेषण फ्रायडियन मनो-विश्लेषण पद्धतियों के आधार पर किया गया और साथ ही इसके समाधान में सम्मोहन, मुक्त सहचर्य तथा स्वप्न विश्लेषण का प्रयोग किया जाने लगा।

व्यवहारवादी प्रारूप का श्रेय व्यवहारवादी मनोवैज्ञानिक इवान पॅवलाव को दिया जाता है। तथापि इसको आगे बढ़ाने का कार्य जे. बी. वाटसन, ई. एल. थार्नडाइक तथा बी.एफ. स्किनर ने किया। इनके अनुसार व्यवहार सीखने का परिणाम है। अत: सीखने की प्रक्रिया में गड़बड़ी या सीखे हुए गलत व्यवहारों के कारण असामान्यता प्रकट होती है। ऐसे में व्यवहारवादियों के अनुसार इसका समाधान व्यवहार परिष्करण तकनीकों (Behavior Modification Techniques) के अंतर्गत किया जाता है।

साठ के दशक के बाद मनोविज्ञान में मानवतावादी विचारों का उभार हुआ। परिणामत: **मानवतावादी प्रारूप** सामने आया। इस प्रारूप पर विलियम जेम्स, ए. एच. मास्लो, तथा कार्ल रोजर्स ने काम किया। यह प्रारूप व्यक्तित्व संबंधी व्यवहारवाद तथा मनोविश्लेषण जैसा कोई सिद्धांत प्रस्तुत नहीं करता,बल्कि व्यक्ति के संबंध में सामान्य स्थिति ज्ञात कराता है। मानवतावादी प्रारूप का केंद्रबिंदु मूल्य, वैयक्तिक विकास एवं आत्म संतुष्टि है। मानवतावादी प्रारूप दोषपूर्ण सीखना तथा मनोसुरक्षात्मक तंत्रों के अत्याधिक उपयोग को असामान्यता के लिए उत्तरदायी बताता है। सामाजिक दबावों में व्यक्ति में चिंता उत्पन्न होती है जिससे आत्म-अवमूल्यन होता है। आत्म-अवमूल्यन को दूर करने के लिए व्यक्ति मनोसुरक्षात्मक तंत्रों का उपयोग करता है। इस व्यवहार से वास्तविकता का खंडन हो जाता है और व्यवहार में असामान्यता उत्पन्न हो जाती है। इसके समाधान के लिए अनिर्देशित चिकित्सा प्रणाली (Non-Directive Therapy) के उपयोग की सलाह दी जाती है।

ज्ञान शांति मैत्री

अस्तित्ववादी प्रारूप क्रमागत विचारों का उच्चतर संप्रदाय नहीं है, लेकिन यह मानव अस्तित्व के संबंध में स्पष्ट विचारों की एक व्यवस्था है।इस प्रारूप के अनुसार मानव अस्तित्व के लिए व्यक्तिगत अभिज्ञान (Personal Identity) का भाव तथा बाह्य संसार से अर्थपूर्ण संबंधों का होना आवश्यक है। इस प्रारूप के समर्थकों में सोरेन किर्केगार्ड, ज्याँ पॉल सार्त्र तथा आर. डी. लैंग आते हैं। वर्तमान समाज में विश्वास के संबंध में क्रायसिस तथा परंपरागत मूल्यों की कमज़ोरी के कारण व्यक्तित्व काविघटन सामूहिक तथा वैयक्तिक दोनों रूपों में हो रहा है।अस्तित्ववादी प्रारूप से संबंध रखने वाले विद्वानों का मानना है कि वर्तमान जीवन की परिस्थितियों ने ही उसे मनोविकृत बनाया है। इसके समाधान के लिए वे बताते है कि अपने अस्तित्व की वास्तविकता के संदर्भ में आत्मविकसित करने का भरसक प्रयत्न करें।

अंतर्वैयक्तिक प्रारूप एक महत्वपूर्ण सामाजिक प्रत्यय प्रस्तुत करता है। यह प्रारूप हेरी स्टैक सुलीवान द्वारा विकसित किया गया तथा एरिक वर्ने द्वारा इसका विस्तार किया गया। यह प्रारूप आत्म तथा आत्म निर्देशन के प्रत्यय को यद्यपि अस्वीकार नहीं करता है, परंतु इसके विश्लेषण का मुख्य बिंदु वर्तमान सामाजिक प्रक्रिया है। इस प्रारूप के अनुसार दोषपूर्ण संचार एवं असंतोप्रद अंतर्वैयक्तिक संबंध मानसिक विकृतियों को जन्म देते हैं।यह कारक बाल्य काल से ही प्रभावकारी होते हैं, जब बालक आत्म प्रत्यय का विकास करता है। इसलिए इससे संबधित विद्वानों का मानना है कि इसकी चिकित्सा का मुख्य ध्येय संचार एवं संबंधों में सुधार करना होगा।

अंतर्व्यवस्थात्मक प्रारूप इसे जैव-मनो-सामाजिक प्रारूप के रूप से भी जाना जाता है। चिकित्सकीय प्रारूप की कमी और मनोसामाजिक प्रारूप के उपयोग में वृद्धि के कारण इसका विकास हुआ। इसमें विभिन्न ज्ञानशाखा का मिलाप है। असामान्य व्यवहार कभी मानसिक रोग, व्याधिकी, मस्तिष्क रोग तथा रुग्णता आदि के रूप में परिलक्षित होता है। ऐसे में किसी एक ज्ञानशाखा में इसका समाधान असंभवहोता है। तथापि कुछ मनोवैज्ञानिकों के चिकित्सा प्रारूप की आलोचना के बाद आज यह प्रारूप असामान्य व्यवहार के निदान तथा उपचार में उपयोगी माना जा रहा है।

असामान्य व्यवहार के लक्षण और कारक

असामान्यता को समझने के लिए विभिन्न सिद्धांतों की आवश्यकता होती है वैसे हीपहचान करने के लिए उसके लक्षणों एवं कारकों को भी समझना आवश्यक है।सबसे पहले हम असामान्यता के लक्षणों पर चर्चा करेंगे तत्पश्चात उसके कारकों पर विस्तार से चर्चा करेंगे

3.5 असामान्य व्यवहार के लक्षण

असामान्यता अनियमितता की स्थिति है जो सामान्य से बिलकुल विपरीत है, किंतु हमने देखा कि असामान्य व्यवहार को परिभाषित करना बड़ा जटिल काम है ऐसे में कई सारे समानता रखने वाले शब्दों के कारण उसमें भ्रम पैदा होने का डर सदा से बना रहता है। ऐसे में लक्षण ही है जो हमें असामान्य व्यवहार को ठीक से पहचान करने में मदद करते हैं।

ज्ञान शांति मैत्री

जे. एफ. ब्राउन (1940) अपनी किताब *सायकोडायनामिक्स ऑफ़ एब्नार्मल बिहेवियर* में लक्षणों के बारे में लिखते हैं कि *"लक्षण रोग का आधार है यह स्वयं असमायोजित व्यवहार है।"*

असामान्य व्यवहार का कोई एक आधार नहीं है जैसे कि हमने अंतर्वैयक्तिक प्रारूप में देखा असामान्यता के लिए शारीरिक, मानसिक तथा सामाजिक-सांस्कृतिक कारक भी ज़िम्मेदार होते हैं। ऐसे में किसी एक ज्ञानशाखा के कहे अनुसार हम किसी भी व्यवहार को असामान्य व्यवहार के वर्ग में नहीं रख सकते। इसलिए लक्षणों का उपयोग करना हमें मदद करता है। लक्षण मानसिक शारीरिक तथा सोच-विचार आदि के अंतर्गत प्रकट होते हैं। किसी भी रोग के निदान के लिए जरुरी है लक्षणों का समूह न कि केवल एक लक्षण। साथ ही ध्यान रहें कि केवल लक्षणों से ही नहीं, बल्कि उसके निश्चित समयावधि के बाद ही उसको लक्षण के वर्ग में रखा जाता है। जैसे कि आम तौर पर खांसना कोई रोग नहीं है, लेकिन वह टी.बी. का एक लक्षण जरुर है। फिर भी केवल एक-दो दिन की खांसी से यह नहीं समझा जाता कि टी. बी. हुई है। इसके लिए जरुरी है कि उस मरीज को खांसी हुए कम से कम तीन सप्ताह की अवधि बीत जानी चाहिए तभी टी. बी. की जांच की जाती है।

प्रयागदीन मिश्र एवं बीना मिश्र (2015) लक्षणों के बारे में लिखते हैं कि *"लक्षण प्राय: एक समूह में प्रकट होते हैं, उनमें एक प्रकार का संगठन होता है। लक्षणों की इस जटिलता को संलक्षण (Syndrome) कहते हैं। मानसिक विकारों का कोई एक लक्षण नहीं होता है, बल्कि वे एक साथ संगठित एवं व्यवस्थित क्रिार व्यवहार में मिश्रित हो जाते हैं। अत: लक्षणों को ज्ञात किए बिना न तो विकार समझा जा सकता है और न ही रोगी के व्यवहार को संतुलित किया जा सकता है।"* वे आगे असामान्य व्यवहार के लक्षणों पर बात करते हुए उनके प्रकारों पर चर्चा करते हैं। जो निम्नवत हैं-

- प्रत्यक्षीकरण की विकृतियाँ
- चिंतन प्रक्रिया में विकृतियाँ
- विचारों की विषय-वस्तु में विकृतियाँ
- चेतना में विकृतियाँ
- स्मृति संबंधीविकृतियाँ
- व्यवहार गतिशीलता में विकृतियाँ
- संवेगात्मक विकृतियाँ
- व्यावहारिक विकृतियाँ
- शारीरिक विकृतियाँ

असामान्य व्यक्ति में विभिन्न प्रकार की गड़बड़ियां एवं असमायोजन की स्थितिदेखी जा सकती है। उक्त सभी विकृतियाँ असामान्यता दर्शाती है। प्रत्यक्षीकरण मनुष्य को बाहरी चीज़ों के प्रति ज्ञान कराता है। ऐसे

ज्ञान शांति मैत्री

में इसमें आने वाली गड़बड़ी के कारण रस्सी को साँप समझने जैसा भ्रम होने लगता है। अच्छे व्यक्तित्व के लिए वास्तविकता का उचित प्रत्यक्षीकरण बहुत जरुरी होता है जो असामान्य व्यवहार में नहीं होता है। मनुष्य चिंतनशील प्राणी है। वो किसी भी कार्य को करने से पहले या बाद मेंउस पर विचार मंथन करता है, किंतु असामान्य व्यवहार की गिरफ्त में फंसा व्यक्ति वास्तविकता से परे हो जाता है जिसका असर उसकी विचार-उत्पत्ति तथा उसके विचारों की प्रगति में मंदता आती है। व्यक्ति वास्तविकता के आधार पर अपने विचारों को गढ़ने में सक्षम है, किंतु विचारों में आदर्श, मूल्यों की अति होने से उसमें व्यामोह की स्थिति पनपती है। चेतना व्यक्ति को वर्तमान में बनाएं रखती है। किंतु किसी घटना या आघात के कारण वह अवचेतन में चला जाता है तो उसका संपर्क वर्तमान से टूट जाता है ऐसे में स्वप्नावस्था, विमूढ़ता की स्थिति उत्पन्न होती है। स्मृति ह्रास, अति स्मृति, मिथ्या स्मृति जैसी स्मृति संबंधी विकृतियाँ भी असामान्य व्यक्तित्व में पाई जाती है।

दूसरी ओरव्यक्ति के व्यवहार का निर्धारण करने वाले गत्यात्मकता (Motar) में भी विकृतियाँ देखी जाती है। जैसे- मनोगत्यात्मक अतिसक्रियता, निष्क्रियता, रुढ़िबद्धता तथा नकारात्मकता। संवेगात्मक विकृतियों में क्रोध, झुंझलाहट, चिंता, भय, विषाद, विरक्ति तथा उल्हासोन्माद आदि को देखा जाता है। व्यावहारिक विकृतियों के अंतर्गत प्रतिगमन, आत्मकेंद्रितता, अस्थिरता, बहुव्यक्तित्व, अंतर्दृष्टि का अभाव, निद्रा भ्रमण तथा व्यवहार के प्रति अनभिज्ञता आदि असामान्य व्यवहारों की श्रेणी में रखे जाते हैं। शारीरिक विकृतियों में विभिन्न व्याधियां जैसे-पेट दर्द, सर दर्द, खून की कमी, सेक्स भावना की कमी, दुर्बलता, चिड़चिड़ापन, हृदय की गति तेज़ होना तथा शारीरिक नियंत्रण का खोना आदि लक्षण देखे जाते है।

इसके बावजूद मनोरोग विज्ञान में शारीरिक, मनोशारीरिक आदि वर्गीकरण मिलते है, जिसमें शारीरिक विकृति का प्रभाव मन पर या मानसिक विकृति का प्रभाव शरीर पर देखा जा सकता है। ध्यान रहे कि उक्त सभी लक्षण आमतौर पर प्रत्येक व्यक्ति में होते हैं, इसका मतलब यह नहीं कि वे असामान्य हैं।

3.6 असामान्य व्यवहार के कारक

विद्वानों का मानना है कि किसी भी असामान्य व्यवहार में कोई एक कारक उत्तरदायी नहीं होता है, बल्कि अनेक कारकों का पुंज प्रभावकारिता में भिन्नता रखते हुए असामान्य व्यवहार के लिए उत्तरदायी होते हैं। असामान्यता के लक्षणों में हमने देखा कि किसी एक लक्षण के आधार पर हम असामान्य व्यवहार का निर्धारण नहीं कर सकते। वैसे ही किसी एक कारक के आधार पर असामान्यता निर्धारण कठिन है। असामान्य व्यवहार का अध्ययन करने वाले *असामान्य मनोविज्ञान* में भी असामान्य व्यवहारों के कारकों को लेकर मतभेद हैं। बावजूद इसके यह तो सभी वैज्ञानिक मानते हैं कि मनोविकृतियों की उत्पत्ति के कारणों में भूत, पिशाच, शैतान आदि के प्रभाव का मानना अवैज्ञानिक है। उनके कारण तो शरीर, मन और सामाजिक परिस्थितियों में ही ढूंढ़ने होंगे। इस संबंध में अनेक मत प्रचलित होते हुए भी तीन मतों को प्रधानता दी जा सकती है और उनमें समन्वय भी किया जा सकता है। वे हैं :

(1) शारीरिक तत्वों का रासायनिक ह्रास अथवा अतिवृद्धि। विषैले रासायनिक तत्वों का प्रवेश या अंतरुत्पादन और शारीरिक अंगों तथा अवयवों की विशेषत: मस्तिष्क और स्नायुओं की विकृति अथवा विनाश।

(2) सामाजिक परिस्थितियों की अत्यंत प्रतिकूलता और उनसे व्यक्ति के ऊपर अनुपयुक्त दबाव तथा उनके द्वारा व्यक्ति की पराजय, बाहरी आघात और साधनहीनता।

(3) अज्ञात और गुप्त मानसिक वासनाएँ, प्रवृत्तियाँ और भावनाएँ जिनका ज्ञान मन के ऊपर अज्ञात रूप से प्रभाव डालता है। इस दिशा में खोज करने में फ्रायड, एडलर और युंग ने बहुत कार्य किया है और उनकी बहुमूल्य खोजों के आधार पर बहुत से मानसिक रोगों का उपचार भी हो जाता है।

असामान्य व्यवहार के कारकों प्रयागदीन मिश्र एवं बीना मिश्र (2015) विभिन्न वर्गों में बांटते है। इसे हम चित्र: 02 के आधार पर समझ सकते हैं।

मानव व्यवहार (देखें इकाई 01) इकाई के अंतर्गत हमने देखा था कि मानवीय व्यवहार में आनुवांशिकी पर्यावरण मानवीय व्यवहार के निर्धारण में महत्वपूर्ण कारक है, साथ ही दैहिक आधार भी आवश्यक कारक है, जिसमें संग्राहक, विभिन्न ग्रंथियां तथा केंद्रीय तंत्रिका तंत्र आदि महत्वपूर्ण कारक है। यह सभी कारक सामान्य व्यवहार में संतुलित रूप में कार्यरत होते हैं किंतु असामान्य व्यवहार में इन कारकों का संतुलन बिगड़ा हुआ पाया जाता है। अनुवांशिक कारकों में जिन्स परिवर्तन या गुणसूत्रों की जोड़ियों में कमी के कारण जेनेटिक डिफेक्ट पैदा होता है, जिससे व्यक्ति के व्यवहार पर प्रभाव पड़ता है। सामान्य व्यक्ति द्वारा किए जाने वाले क्रियाकलापों में भी इस प्रकार के व्यक्ति को कठिनाई महसूस होती है। शरीर की नालिकाविहीन ग्रंथियों में विभिन्न प्रकार के स्राव होते है, जिनके संतुलन से मानवीय व्यवहार संतुलित बने रहते हैं, किंतु इनके कम या ज़्यादा होने से मानवीय व्यवहार पर अनुचित प्रभाव पड़ता है। कुछ असामान्य व्यवहारों के लिए जन्मजात कारक ज़िम्मेदार होते हैं, जैसे- किसी बच्चे का जन्म सातवें महीने में हुआ हो ऐसे में शरीर पूर्ण रूप से विकसित नहीं हुआ होता है। ऐसे में उसमें जन्मजात रूप से शारीरिक असामान्यता देखने को मिलती है।

मनुष्य के व्यवहार निर्धारण में मनोसामाजिक कारकों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। माता-पिता, आस-पड़ोस, शुरूआती मनोभाव, पारिवारिक वातावरण आदि का व्यक्ति के व्यवहार पर सीधा असर पड़ता है। ऐसे में इन कारकों द्वारा उचित समायोजन न होने के कारण असामान्य व्यवहार में वृद्धि होती है। जैसे समस्याग्रस्त परिवार का सदस्य सदैव तनाव की स्थिति में दिखता है। माता-पिता का अति लाड-प्यार या तिरस्कार बच्चों में असमायोजन की स्थितियां पैदा करता है, जिसके कारण असामान्यता उत्पन्न होती है। साथ ही सामाजिक व्यवस्था में विभिन्न प्रकार की समस्याएं पाई जाती हैं, जिससे निपटने में सभी सामान्य व्यक्ति सक्षम नहीं होते हैं। ऐसे में उनके सामान्य व्यवहार प्रभावित होने लगते हैं।

मनुष्य का जीवन संकटों से भरा होता है, ऐसे में किसी भी सामान्य व्यक्ति के जीवन में भी कुछ-न-कुछ दुर्घटनाएं, आघात की स्थितियां उत्पन्न होती है ऐसे में व्यक्ति भावात्मक गत्यात्मकता से उन संकटों से

उभरता है, किंतु कुछ व्यक्ति इसी में फंसे रहने के कारण असमायोजित होते हैं तथा कुछ व्यक्तियों की इच्छाओं की असंतुष्टि के कारण व्यामोह की स्थिति उत्पन्न होती है। यह सब व्यक्ति की भावात्मक गत्यात्मकता में अवरोध खड़े करती है, जिससे उसके सामान्य व्यवहार बाधित हो जाते हैं।

आधुनिक समय में शहरों की ओर लोगों का प्रवासन बढ़ा है, जो स्वयं में एक समस्या बनी हुई है। इसके बावजूद शहरों में व्याप्त जनसंख्या जिस संस्कृति का अनुपालन कर रही है उसमें प्रतिस्पर्धा,एक-दूसरे के प्रति भय, अकेलापन, सफल होने का दबाव, अविश्वास तथा अकल्पित भय आदि का संचार आसानी से होता है। ऐसे में प्रवासित लोगों के लिए शहरी संस्कृति स्वयं में एक समस्या होती है। साथ ही शहरीहोने के कारण इस असाधारण संस्कृति का भार वहन उनको करना पड़ता है। ऐसे में यह सारी समस्याएं उनमें अवसाद की स्थितियां उत्पन्न करती हैं, जिससे उनकी सामान्य गतिविधियाँ प्रभावित हो जाती है। आधुनिक सभ्यता ने पुराने मूल्यों की जगह नए मूल्यों को स्थापित किया है,जिसमें स्वच्छंदता तथा आत्मरत रहने की भावना दृढ़ होती गई। किंतु पुराने मूल्य पूरी तरह से नष्ट नहीं हुए,बल्कि नए रूपों में फिर से उभरे हैं ऐसी अवस्था में नैतिक-अनैतिक, पाप-पुण्य के चंगुल में फंसकर व्यक्ति आत्मअवमूल्यन करता है, जिससे अपराध की भावना उत्पन्न होती है। ऐसे में वह व्यक्ति किसी भी समस्या के लिए खुद को ज़िम्मेदार मानने लगता है और दोषारोपण के बाद उसकी अवनति होते देर नहीं लगती, जिससे उसका सामान्य जीवन प्रभावित होता है।

ज्ञान शांति मैत्री

वंशानुक्रम संबंधी कारक	• जेनेटिक डिफेक्टस्
नालिकाविहीन ग्रंथियां (Ductless Glands)	• एड्रिनल ग्रंथि में स्राव की कमी • गोनाड्स (Gonads) में कमी • थायराइड ग्रंथि में स्राव की मात्रा में गड़बड़ी • मस्तिष्क के पिट्यूटरी (Pitutary) ग्रंथि में पिट्यूटरी स्राव के अनुपात में गड़बड़ी
जन्मजात या अर्जित शारीरिक विकृति	• जन्म से पूर्व या जन्म के समय कठिनाई • शैशवावस्था तथा बाल्यावस्था में शारीरिक क्षति
मनोसामाजिक कारण	• माता-पिता के प्रेम का अभाव • प्रारंभिक मनोआघात • पारिवारिक असमायोजन • व्याधिकीय परिवार
सामाजिक व्याधिकी	• निर्धनता • जातीय पूर्वाग्रह • असंगति • विभेदीकरण • सामाजिक विघटन
गंभीर दबाव	• दुर्घटना तथा रोग • भावात्मक गत्यात्मकता • इच्छाओं की असंतुष्टि
नगरीय संस्कृति	• प्रतिस्पर्धा • असाधारण भय • असफलता का भय • अकेलापन • प्रवसन
अपराध भावना	
अतद्वंद	

चित्र : 02 असामान्य व्यवहार के कारक

आधुनिक समय में संशय् अविश्वास बड़ी मात्रा में फैला है। प्रत्येक व्यक्ति में अंतर्द्वंद की स्थिति को देखा जा सकता है। विकल्पों की बहुलता ने व्यक्ति में अंतर्द्वंद उत्पन्न किया है। आवश्यकताओं के बढ़ने के साथ आय में बढ़ोतरी होना, विकल्पों के चयन में फंस जाना आदि के अंतर्गत द्वंद की स्थिति उत्पन्न

होती है, जिसमें निर्णय लेना कठिन हो जाता है। ऐसे में स्थितियों के दबाव के चलते न चाहते हुए भी ऐसे विकल्प को चुनना पड़ता है, जिसमें कोई रुचि नहीं होती, जिसका रूपांतरण दबाव में होता है जो उसकी सामान्यता को प्रभावित करता है।

इसके बावजूद ऐसे कई कारक है जो असामान्यता कोबढ़ावा देने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं जिसमें प्रसार-माध्यम, वैश्विक व्यवस्था, युद्ध, प्राकृतिक आपदाएं आदि को शामिल किया जा सकता है।

3.7 असामान्यता के प्रकार

कारक और लक्षणों के समूह के आधार पर असामान्यता का निर्धारण आज सहज हो पाया है, फलस्वरूप असामान्यता का वर्गीकरण आसान हुआ है। जैसे कि इससे पहले भी हमने इस पर बात की है कि असामान्यता सामाजिक-सांस्कृतिक परिघटना है, जिस कारण उसके निश्चित प्रकारों का वर्गीकरण आज भी उपलब्ध नहीं है। बावजूद इसके मनोरोग विज्ञान के अंतर्गत इस पर उन्नीसवीं सदी से लगातार बातचीत हो रही है। अमेरिकन सायकियाट्रिक एसोशिएशन के अध्यक्ष रहे बेंजामिन रश ने लक्षणों के आधार पर मनोरोगों का वर्गीकरण किया है। असामान्यता को समझने के लिए विभिन्न वर्गीकरण उपलब्ध है। अमेरिका में 1840 में संकलित जनगणना में "idiocy/insanity" के रूप में पहली बार नामित किया गया। 1880 में की गयी जनगणना में मानसिक बीमारियों को सात वर्गों- : mania, melancholia, monomania, paresis, dementia, dipsomania, and epilepsy में विभाजित किया गया। सन 1917 में American Medico-Psychological Association एवं National Commission on Mental Hygiene ने एक योजना बनाकर मानसिक अस्पतालों से सेंसस (Census) इकट्ठा किए। इसी समय में New York Academy of Medicine के सहयोग से American Psychiatric Association ने राष्ट्रीय स्तर पर मानसिक रोगों के इस नए वर्गीकरण को स्वीकृति दिलाई। आगे 1921 में American Medico-Psychological Association ने अपना नाम बदलकर American Psychiatric Association करवाया। 1952 में Diagnostic and Statistical Manual: Mental Disorders का प्रथम संस्करण तैयार किया गया 18 May, 2013 इसका पांचवा संस्करण प्रकाशित हुआ है।

अमेरिकन सायकियाट्रिक एसोशिएशन ने मानसिक बीमारियों का दो तरह से वर्गीकरण किया गया है।

पहला, स्नायुविकृति (Neurosis)

दूसरा मनोविकृति(Psychosis)

मनोचिकित्सक इन दोनों में इस बात से विभेद करते है कि मनोस्नायुविकृति के अंतर्गत आने वाले मानसिक रोगों का निवारण आम तौर पर उसी व्यक्ति या अन्य किसी (जो इस की समझ रखता हो) के द्वारा किया जा सकता है। उदाहरण- चिंता, कुंठा, दबाव, आदि; किंतु मनोविकृति में 'बायोपोलर पर्सनालिटी' एवं 'मनोविदलन' (Schizophrenia) जैसे मनोरोगों को रखा है, जो एक प्रशिक्षित मनोचिकित्सक द्वारा देखरेख एवं विशेष देखभाल के अंतर्गत इसका निवारण करते है।

असामान्य व्यवहार के वर्गीकरणों में कई व्यवहार नए तरह से अध्ययन के बाद सामान्य माने गए हैं। जैसे- समलैंगिकता इस वर्गीकरण के आधार पर असामान्य व्यवहार था, किंतु इसे अब सूची से बाहर कर दिया गया है। नए मानकों की स्थापना के बाद सामान्य तथा असामान्य की अवधारणा में भी परिवर्तन आते रहें हैं। इसलिए विद्यार्थियों से अनुरोध है कि वे नवीनतम संस्करणों का ही उपयोग करें।

3.8 सारांश

इस पूरी इकाई में हमने देखा कि असामान्य व्यवहार क्या है? किन कारकों के कारण होते हैं? तथा उसके लक्षण वर्गीकरण आदि पर हमने चर्चा की है। असामान्य व्यवहार के अध्ययन पश्चात यह ज्ञात होता है कि इसे परिभाषित करना आज के समय में सब से कठिन काम है। किंतु सामाजिक कार्य में इस अवधारणा को केवल इसी लिए पढ़ना जरुरी है, क्योंकि सामान्य और असामान्य के बीच भेद किए बिना कार्यकर्ता समस्या की पहचान नहीं कर सकता। तथापि असामान्य व्यवहार के अंतर्गत उपलब्ध विभिन्न वर्गीकरणों का आधार लेते हुए सामाजिक कार्यकर्ता सेवार्थी को समझने की कोशिश कर सकता है।

असामान्य व्यवहार के वर्गीकरण को लेकर आज भी मतभेद जारी है। इन वर्गीकरणों की बहुत से विद्वानों ने आलोचना की है, जिसमें थॉमस साज, आर. डी. लैंग तथा पीटर कोनराड जैसे विद्वान शामिल है। दूसरी ओर कुछ विद्वान सांस्कृतिक दृष्टिकोण से विभिन्न तबके के लिए अलग-अलग मनोविज्ञान की मांग रखते हैं। यूरोप में प्रचलित मनोविज्ञान जापान या भारत में किसी काम का नहीं है उनके लिए अलग मनोविज्ञान की जरूरत है। फ्रेंज़ फेनों (1952) इसी से प्रेरित होकर कृष्णवर्णियों के अलग मनोविज्ञान की मांग काते है, जिसके लिए उन्होंने अपनी किताब *ब्लैक स्किन व्हाईट मास्क* में दमितों के मनोविज्ञान पर बात की है। बावजूद इसके मुख्यधारा में अभीभी उक्त वर्गीकरणों का उपयोग किया जाता है। इसका कोई दूसरा विकल्प नहीं। दूसरी ओर भारत में मनोविज्ञान पर बात कम ही होती है। ऐसे में असामान्य व्यवहार को लेकर असमंजस आज भी बना है।

ज्ञान शांति मैत्री

3.9 बोध प्रश्न

1. असामान्य व्यवहार की अवधारणा स्पष्ट करें।

2. सामान्य और असामान्य व्यवहारों के बीच भेद स्पष्ट करें।

3. असामान्य व्यवहारों के विभिन्न प्रारूपों की चर्चा करें।

4. असामान्य व्यवहार के कारक और लक्षणों की विस्तार से चर्चा करें।

5. असामान्य व्यवहार के विभिन्न प्रकारों की चर्चा करते हुए किसी एक का विस्तार से वर्णन करें।

3.10 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

Benedict, R. (1934). *Anthropology and The Abnormal. Abnormal Psychology* (10), 59-80.

Brawn, J. F. (1940). *The Psychodynamics of Abnormal Psyachology* . Newyork: Mac Graw Hill .

kiskar, G. W. (1964). *The Disorganized Personality.* Newyork: McGraw Hill.

Maslow, A. L., & Mischelman, B. (1951). *Principles of Abnormal Psychology.* Newyork: Harper & Row.

Szasz, T. (1972 and 2006). *Medicalization of Everyday Life* . New York : Syracuse Univercity publication .

मिश्र, पी. डी., & मिश्र, बी. (2015). *असामान्य व्यवहार* (4th ed.). लखनऊ: उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान.

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई : 4 नेतृत्व : आवश्यकता, प्रकार और प्रकार्य

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

4.1 प्रस्तावना

4.2 नेतृत्व

- **4.2.1** नेतृत्व का अर्थ
- **4.2.2** नेतृत्व की परिभाषा
- **4.2.3** नेतृत्व की विशेषताएँ
- **4.2.4** नेतृत्व के गुण और लक्षण

4.3 नेतृत्व के सिद्धांत

4.4 नेतृत्व के प्रकार

4.5 नेतृत्व के प्रकार्य

- **4.5.1** लोकतांत्रिक नेता का कार्य

4.6 नेतृत्व की आवश्यकता

4.7 सारांश

4.8 बोध प्रश्न

4.9 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप -

1. नेतृत्व के विभिन्न सिद्धांतों को स्फ्ट कर सकेंगे।
2. नेतृत्व के विभिन्न प्रकार और प्रकार्यों को रेखांकित कर पायेंगे।
3. समाज में नेतृत्व की आवश्यकता और भूमिका पर चर्चा कर सकेंगे।
4. नेतृत्व को मानव व्यवहार के दृष्टिकोण से व्याख्यायित सकेंगे।
5. नेतृत्व और समाज कार्य के बीच अंतरसंबंध को प्रदर्शित कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

शुरुआत में यह माना जाने लगा था कि नेतृत्व मनुष्य में अन्य गुणों जैसा स्वयं एक गुण है। इसलिए आम तौर पर देखा जाता है कि नेता या नेतृत्व कासीधा संबंध रहस्यात्मकता से लगाया जाता था। जैसे- विभिन्न धर्म संस्थापक बुद्ध ईसा या मोहम्मद पैगंबर यह अपने समय के महान नेता थे, जिनके

नेतृत्व में इन धर्मों की स्थापना हुई किंतु इनकी क्रियाशीलता, लोगों को एकत्रित करने की शक्ति, उनकी प्रभाविता आदि को नज़रअंदाज़ कर इन सारे गुणों का गठजोड़ 'रहस्यात्मकता' के नाम पर थोपा गया। राजा-महाराजाओं के समय में हम देखते है कि पूरी जनता उनके नेतृत्व में जीवनयापन कर रही,हैकिंतु उनका नेतृत्व जन्मजात माना गया और इसे इस उक्ति से पुष्ट किया गया था कि'राजा देवताओं का पुत्र होता' है। इसमें हम देखते हैं कि यह नेतृत्व असल में प्रभाविता अधीनता के आधार पर टिका हुआ है। सामंती प्रणाली इसका उदाहरण हैं जिसमें उनके प्रभाव के कारण और आम जनता के अधीनता के स्वभाव के चलते ऐसा नेतृत्व तैयार होता है। उसके बाद हम आते हैं हाल-फिलहाल की लोकतांत्रिक प्रणाली में विकसित नेतृत्व पर, जहाँ नेता को जनता के प्रतिनिधि के रूप में व्याख्यायित किया जाता है। इन सभी नेतृत्व गुणों में अर्जित, जन्मजात और प्रभाविता को महत्वपूर्ण घटक के रूप में माना गया है।

बावजूद इसके मनोविज्ञान के उद्गम के बाद ज्ञान, प्रज्ञा, विशेषता, व्यक्तित्व आदि को नेतृत्व के विकास में स्थान मिला। साथ ही समकालीन संस्थागत ढाँचे में पद और भूमिका के आधार पर नेतृत्व का निर्धारण होते देखा जाता है।

नेतृत्व समाज के विकास में काफ़ी महत्वपूर्ण भूमिका रखता है। उदाहरण के लिए भारतीय राज्यों का विकास परिदृश्य देखें तो पता चलता है कि जिन प्रदेशों में नेतृत्व की कमी है वह प्रदेश विकास की होड़ में काफ़ी पीछे है। साथ ही हम समाज कार्य में देखते हैं कि सामूहिक विकास एवं सामुदायिक विकास में एक अच्छा नेतृत्व कितना मायने रखता है। एक अच्छे नेतृत्व की कमी के कारण अच्छा-खासा संगठनात्मक ढाँचा भी मृतप्राय हो जाता है। संगठनात्मक ढाँचे के प्रमुख पहलुओं में से एक नेतृत्व, है इसलिए समाज कार्य में इसकी उपयोगिता बढ़ जाती है। इस पूरी इकाई में हम नेतृत्व की सैद्धांतिकी प्रकार, प्रकार्य और उसकी आवश्यकता पर बात करेंगे।

ज्ञान शांति मैत्री

4.2 नेतृत्व

किसी भी समाज में विकास हेतु आवश्यक शर्त के रूप में नेतृत्व माना जाता है। इसलिए शुरुआत में विद्वानों ने नेतृत्व को मनुष्य का मूल गुण(Basic Instinct) मान लिया था, जो स्वयं में खास होता है। परंतु मनोविज्ञान के उभार के बाद मानवीय व्यवहारों की जाँच-पड़ताल शुरू हुई, जिसमें यह पाया गया कि नेतृत्व मनुष्य के अन्य व्यवहारों जैसा ही एक व्यवहार है। मनोविज्ञान की एक शाखा, समाज-मनोविज्ञान में नेतृत्व पर सिद्धांत और प्रायोगिक ज्ञान का संदर्भ मिलता है। समाज कार्य स्वयं समाजशास्त्र और मनोविज्ञान के सिद्धांतों पर आधारित व्यावसायिक कार्य है, इसलिए नेतृत्व के आधारभूत सिद्धांत, जो समाज-मनोविज्ञान में है, उन पर बात करते हुए हम समाज कार्य में उसकी उपयोगिता पर पहुँच सकेंगे।

4.2.1 नेतृत्व का अर्थ

नेतृत्व बहुत ही जटिल शब्द है, जिसका भिन्न-भिन्न समय पर भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया गया है। वैसे तो नेतृत्व का शाब्दिक अर्थ 'दूसरों को प्रभावित करने' तक लिया जाता है। किंतु यह सवाल खड़ा

होता है कि क्यों कोई व्यक्ति दूसरों को प्रभावित करेगा? और क्यों दूसरे व्यक्ति उस एक नेतृत्वकर्ता के प्रभाव में आएँगे? इन्हीं सवालों के जवाब में नेतृत्व की खोज शुरू होती हैं। स्थान और समय के अनुसार नेतृत्व के अर्थ और प्रकृति में भिन्नता देखने को मिलती है। जैसे- कबीलाई समाज में एक कबीला सुरक्षितता के भय से दूसरे कबीले पर धावा बोल देता था। उस समय में कबीले का नेतृत्व कोई बलवान व्यक्ति करता था। ऐसे में नेतृत्व का अर्थ या उसकी प्रकृति का मुख्य गुण या व्यवहार बल, शक्ति और सबकी सुरक्षितता था। इससे अलग सिकंदर महान, नेपोलियन बोनापार्ट में विश्वविजयी बनने का स्वप्न और उसके अनुयायियों में भी वही अभिप्रेरणा नज़र आती है। इधर गांधी जैसा एक सामान्य व्यक्ति भारतीय स्वतंत्रता संग्राम में ताकतवर अंग्रेजी हुकूमत का विरोध कर रहा था। इसके लिए वह सत्य और अहिंसा जैसे हथियारों का उपयोग कर रहा था। और उनके अनुयायी उन्हें महात्मा मानने लगे। इन ऐतिहासिक उदाहरणों के बावजूद बदलते समय में, नई राजव्यवस्था विकसित हुई, जिसमें खास कर लोकतंत्र प्रमुख रूप से है। इस तंत्र में सत्ता का विकेंद्रीकरण मौजूद था, जिसमें हम देखते हैं कि नेतृत्व प्रातिनिधिक स्वरूप ग्रहण कर चुका है। इसी बीच समाज में कई सारी संस्थाओं का उभार होता है। उन संस्थाओं में नेतृत्व एक पद के रूप है और उसे प्रदत्त अधिकार उसके प्रभावशीलता का कारण है। संगठनात्मक ढाँचे में नेतृत्व समूह की माँगों, अपेक्षाओं को इंगित करता है। कहने का तात्पर्य यह है कि नेतृत्व कभी भी सार्वभौमिक परिघटना नहीं है उस पर स्थान और समय का असर देखने को मिलता है, जिससे वह आकार ग्रहण कर लेता है।

4.2.2 नेतृत्व की परिभाषा

लैपियर तथा फ्रान्ज़वर्थ (Lapiere and Farnsworth) अपनी किताब *सोशल सायकोलोजी* (1949) में लिखते हैं *"नेतृत्व एक ऐसा व्यवहार है, जो दूसरे व्यक्तियों के व्यवहार को उनके अपने व्यवहार से कहीं अधिक प्रभावित करता है जितना कि उनका व्यवहार नेता को प्रभावित करता है।"*

इससे अलग किंबाल यंग (Kimball Young) अपनी किताब *हैंडबुक ऑफ सोशल सायकोलोजी* (1957) में लिखते हैं *"प्रभुत्व को शक्ति के ऐसे साधन के रूप में देखा जा सकता है जिसका उपयोग एक व्यक्ति द्वारा दूसरे व्यक्तियों की मनोवृत्तियों और क्रियाओं को नियंत्रित करने तथा उन्हें परिवर्तित करने के लिए किया जाता है, इसे हम साधारणत: नेतृत्व कहते हैं। उनका मानना है कि नेतृत्व की सही विवेचना प्रभुत्व के रूप में ही की जानी चाहिए।"*

कूपर तथा मैकगाथ (Cooper G. B. and McambgaughG. R.) नेतृत्व को परिभाषित करते हुए अपनी किताब लीडरशिप इंटेग्रटिंग प्रिंसिपल्स ऑफ सोशल सायकोलोजी(1963)में लिखते हैं "नेतृत्व को आकर्षित करना या धकेलना (Pushup) जैसे कारकों के रूप में वर्णित किया जा सकता है, जो कि लोगों में प्रभुत्वशाली आज्ञाकार्य संबंधों में कार्य करता है'।

गिब सी॰ ए॰ (Gibb C॰ A॰) अपनी किताब लीडरशिप : सलेक्टेड रीडिंग्ज(1969)में लिखते हैं "नेतृत्व जो दो या अधिक व्यक्तियों की अंतःक्रियाओं के लिए प्रयुक्त होने वाला एक प्रत्यय है तथा नेता का मूल्यांकन सामान्य लक्ष्यों की प्राप्ति में दूसरों की क्रियाओं को नियंत्रित और निर्देशित करता है।"

4.2.3 नेतृत्व की विशेषताएँ

पी॰ डी॰ मिश्र (1977) अपनी किताब *सामाजिक समूह कार्य* में नेतृत्व की परिभाषाओं का आंकलन कर उसकी विशेषताओं को विश्लेषित करते हैं जो निम्नलिखित हैं-

1. नेतृत्व एक विशेष प्रकार का व्यवहार है जिसमें प्रभुत्व, सुझाव तथा आग्रह का सम्मिश्रण होता है।
2. नेतृत्व द्विमुखी प्रक्रिया है, जिसमें दो कारक नेता तथा अनुयायी कार्य करते हैं।
3. नेतृत्व से संबंधित प्रभाव दबाव से मुक्त नहीं होता है, इसे साधारणतया स्वेच्छा से ग्रहण किया जा सकता है।
4. नेतृत्व नियोजित नहीं होता, बल्कि इसमें विचारपूर्वक अनुयायियों के व्यवहारों को एक निश्चित दिशा में मोड़ दिया जाता है।
5. नेतृत्व द्वारा समूह-सदस्यों की भावनाओं, दृष्टिकोणों, व्यवहारों एवं क्रियाओं को प्रभावित किया जाता है।
6. सुझाव तथा निर्देशन नेतृत्व के प्रमुख यंत्र है, जिनकी सहायता से नेता अपने अनुयायियों को इच्छित दिशा में चलने के लिए प्रेरित करता है।
7. अनुयायी नेता की सत्ता का प्रभुत्व स्वीकार करते हैं और इस सामाजिक प्रक्रिया में अनुयायियों की स्थिति नेता से भिन्न प्रकार की होती है।
8. नेतृत्व के कई प्रकार होते हैं, जैसे- निरंकुशवादी, अधिनायकवादी और प्रजातांत्रिक इनमें से प्रमुख हैं।
9. पीगर्स (Pigors) के अनुसार- नेतृत्व पारस्परिक उत्तेजना की प्रक्रिया (Process of mutual stimulation) है। इससे यह स्पष्ट होता है कि नेतृत्व द्वारा व्यवहारों में किया जाने वाला परिवर्तन उत्तेजना से प्रभावित होता है।
10. नेतृत्व की एक विशेष परिस्थिति (क्षेत्र) होती है। इस प्रकार एक ही व्यक्ति विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग तरह से नेतृत्व से प्रभावित हो सकता है।

4.2.4 नेतृत्व के गुण और लक्षण

प्राय: माना जाता है कि मानव में नेतृत्व स्वयं एक गुण होता है। कुछ समाजमनोविज्ञानी इस दृष्टिकोण को नहीं मानते हैं। जैसा कि लैपियरे तथा फ्रान्ज़वर्थ (1949) कहते हैं '*किसी मनुष्य के बारे में*

यह कहना व्यर्थ होगा कि वह एक नेता होता है। नेतृत्व किसी प्रकार की दक्षता होती है चाहे यह दक्षता दूसरों की अपेक्षा अधिक तेज बोलने की ही हो। परंतु यह आवश्यक नहीं कि केवल एक यही दक्षता उसे सभी प्रकार की परिस्थितियों में तथा सभी प्रकार के लोगों के बीच नेतृत्व प्रदान करें। इससे तात्पर्य है कि किसी एक गुण के कारण कोई व्यक्ति नेता नहीं बनता और न ही उसके नेतृत्व का उभार होता है, इसके लिए एक नेता में कई गुणों का संयोग होना अनिवार्य है। टरमन (Terman) ने द *पेड्गोजिकल सेमीनरी* (1904) में नेतृत्व गुणों का प्रारंभिक अध्ययन कर लिया था, जिसमें उसने पाया कि नेता कम स्वार्थी, अधिक साहसी, कम भावुक, खूबसूरत और अपने अनुगामियों की अपेक्षा विशालकाय होते हैं।

एफ० एच० आलपोर्ट (1922) ने अपनी किताब *समाजिक मनोविज्ञान* में नेता या नेतृत्व के गुणों का उल्लेख किया है जो निम्नलिखित है-

1. प्रभावित करने का गुण
2. शारीरिक शक्ति
3. उच्च गतिशीलता
4. सीधा तथा प्रभावशाली शरीर
5. मृदु वाणी तथा दृढ़ता
6. सम्मुख बोलने की कला
7. शक्ति की परिपूर्ति
8. व्यापक क्रिया-योग
9. संयम तथा गंभीरता
10. तीव्र बुद्धि तथा गंभीरता
11. सामाजिक उत्तेजना से प्रभावित होने की प्रवृत्ति
12. चतुरता एवं उत्साह सहभागिता
13. सामाजिक कार्यों में सहभागीकरण की रुचि
14. चरित्र एवं प्रेरणा शक्ति

कैटल (Cattell) ने *डिसक्रिप्शन एंड मेजरमेंट ऑफ पर्सनालिटी* (1946) में नेतृत्व के गुणों के विशेषणों का वर्णन इस तरह है- समझदार, बुद्धिमान, भावात्मक परिपक्व, विश्वसनीय, स्वतंत्र, विचारशील, विमर्शित, सुरक्षित रहने वाला, उद्यमी, मानसिक रूप से सतर्क, ओजस्वी, अंत: पारायण, बुद्धिजीवी तथा विशाल दिलचस्पी वाले।

इ० एस० बोगार्डस (E० S० Bogardes) ने अपनी किताब *फंडामेंटल ऑफ सोशल सायकोलोजी* में नेतृत्व के निम्नलिखित लक्षणों का उल्लेख किया है-

1. प्रजातांत्रिक धारणाएँ
2. चेतना

3. यथार्थता
4. उत्साह
5. मित्रता
6. सहानुभूति
7. विश्वसनीयता
8. धैर्य

गिब सी॰ ए॰ (Gibb C॰ A॰) अपने आलेख *लीडरशिप* (1954) में सैनिक तथा नागरिक जीवन में सफल व्यक्तियों के व्यवहार विश्लेषण के आधार पर नियत नेतृत्व के ग्यारह सिद्धांतों के आधार पर नेतृत्व के सात पहलुओं की एक सूची बनाई है

1. व्यावसायिक तथा तकनीकी विशेषता का संपादन
2. अधीनस्थों को समझना तथा उनके प्रति सहानुभूति दर्शाना
3. संचार माध्यमों को चालू रखना
4. वैयक्तिक उत्तरदायित्वों को स्वीकार करना तथा आदर्श प्रस्तुत करना
5. किसी कार्य की शुरुआत करना तथा निर्देशन करना
6. अधीनस्थों को टीम के रूप में दीक्षित कर सकना
7. निर्णय देना

उपर्युक्त नेतृत्व व्यवहार के सात पहलुओं के आधार पर बी॰ कुप्पुस्वामी(2003) अपनी किताब *समाज मनोविज्ञान; एक परिचय* में एक अच्छे नेतृत्व के गुणों के बारे में कहते हैं कि एक सफल नेता को ऐसा सक्षम व्यक्ति होना चाहिए जो भली-भांति कार्य करने के योग्य हो। उसे अपने अधीन कार्य करने वाले लोगों के निकट संपर्क में रहना चाहिए। यद्यपि कार्य दूसरे लोगों द्वारा किया जा सकता हैफिर भी कार्य का दायित्व उसे स्वयं अपने ऊपर लेना चाहिए। कार्य के बिगड़ जाने पर वह अपने अनुगामियों को दोष नहीं दे सकता और न ही कार्य की सफलता का श्रेय ले सकता है। सफल नेता वहीं है जो अपने अनुयायियों को पूर्ण श्रेय देता है और समूह द्वारा कार्य बिगड़ जाने पर उसकापूर्ण दोष अपने ऊपर लेता है। वह इस प्रकार से अपने समूह को एक दल के रूप में बनाए रखने में सफल हो सकता है। अंत में यह कहा जा सकता है कि उसे निर्णय लेने में तथा शुरुआत करने में पहल अवश्य ही दिखानी चाहिए। वह अनुयायियों से परामर्श कर सकता है, चाहे सारा समूह एक विशेष कार्यवाही का निर्णय करे। समूह के लक्ष्य प्राप्ति तक पहुँचने में निर्णय की नाकामयाबी पर समूह को दोष नहीं देना चाहिए बल्कि उस निर्णय की अंतिम ज़िम्मेदारी स्वयं अपने ऊपर लेनी चाहिए।

इसे भी देखें-

1. बर्ड (Bird) ने 1940 में बीस घटनाओं की जांच पड़ताल की, जिसमें से उसने नेतृत्व के 79 लक्षणों का पता लगाया। इस अध्ययन को उसने अपनी पुस्तक*सोशल सायकोलोजी* में विस्तार से प्रस्तुत किया है।

4.5 नेतृत्व के सिद्धांत(Theory of Leadership):

नेतृत्व के क्षेत्र में समाज-मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोगों के आधार पर नेतृत्व के सिद्धांतों का वर्णन किया है। इसमें से कुछ निम्नानुसार हैं-

1. विशेषता सिद्धांत
2. व्यवहार और शैली सिद्धांत
3. परिस्थितिवश और आकस्मिकता सिद्धांत
4. कार्य सिद्धांत

1. **विशेषता-सिद्धांत:-** विशेषता सिद्धांत व्यवहार के विभिन्न प्रकार और प्रभावशाली व्यक्तित्व से संबंधित प्रवृत्तियों का वर्णन करने की कोशिश करता है। यह शायद नेतृत्व का प्रथमअकादमिक सिद्धांत है। थॉमस कार्लाइल(1841)को हम विशेषता सिद्धांत के अग्रदूत कह सकते हैं। जिन लोगों ने अपनी प्रतिभा, कौशल और शारीरिक विशेषताओं का प्रयोग कर अधिकार प्राप्त किया है उनका वर्णन, विश्लेषण इस सिद्धांत के अंतर्गतकिया गया है। रोनाल्ड हेफेटेज़(1994) ने उन्नीसवीं शताब्दी की परंपरा पर अध्ययन करते हुए समाज के इतिहास को महान पुरुषों के इतिहास से जोड़ने की कोशिश की है।

   विशेषता सिद्धांत के समर्थकों ने नेतृत्व की विशेषताओं को रेखांकितकिया और कहा कि कुछ निश्चित विशेषताओं के पालन करने से प्रभावशाली नेतृत्व कायम हो सकता है। शेलेकिर्कपैट्रिक और एडविन ए लोके(1991) ने विशेषता सिद्धांत के उदाहरणस्वरूप यह तर्क गढ़े हैं कि "प्रमुख नेता में कुछ और गुण शामिल हैं जैसे- ड्राइव (एक व्यापक शब्द है, जिसमें उपलब्धि, प्रेरणा, महत्वाकांक्षा, शक्ति, तप और पहल भी शामिल है), नेतृत्व प्रेरणा (नेतृत्व करने की इच्छा तो रखते हैं पर अधिकार प्राप्त करना नहीं चाहते है, क्योंकि यह अपने आप में एक अंत है), ईमानदारी, अखंडता, आत्मविश्वास (जो भावनात्मक स्थायित्व के साथ आता है), संज्ञानात्मक क्षमता और व्यापार की जानकारी वे करिश्मा, रचनात्मकता को अस्वीकृत करते हुए कहते हैं कि इसको स्पष्ट करने के लिए हमारे पास कम सबूत है।

2. **व्यवहार और शैली सिद्धांत:-** विशेषता दृष्टिकोण की आलोचना के जवाब में इन सिद्धांतकारों ने नेतृत्व को व्यवहारों का एक समूह कहा है। सफल नेताओं के व्यवहार का अनुसंधान करते हुए, उनकी व्यवहार कुशलता और उनके नेतृत्व की व्यापक शैली को पहचानने का कार्य इन सिद्धांतकारों ने किया है। खास कर डेविड मंक्लील्लैंड ने नेतृत्व प्रतिभा को सिद्धांतों के एक समूह के रूप में देखा है न कि एक प्रेरक रूप में। उनका मानना था कि सफल नेताओं को अधिकार, संबद्धता कम मात्रा में

और उच्च मात्रा में गतिविधि निषेध (कुछ इसे आत्म नियंत्रण भी कहते हैं) की आवश्यकता हो सकती हैं।

कर्ट लेविन, रोनाल्ड लिपिट्ट और राल्फ व्हाइट ने 1939 में नेतृत्व शैली और नेतृत्व प्रदर्शन के प्रभाव पर थोड़ा बहुत काम किया था। इन्होंने अपने अध्ययन में देखा कि प्रत्येक समूह में, नेता का प्रभाव, उनके निर्णय, उनकी प्रशंसा और आलोचना तथा समूह कार्यों के प्रबंधन(प्रबंधन परियोजना) में तीन शैलियां महत्वपूर्ण हैं

(1) सत्तावादी

(2) लोकतांत्रिक

(3) अहस्तक्षेप.

इन शैलियों के बारे में विस्तार से वर्णन नेतृत्व के प्रकार बिंदु के अंतर्गत किया गया है।

3. **स्थितिजन्य और आकस्मिकता सिद्धांतः-** स्थितिजन्य सिद्धांत भी नेतृत्व के लक्षण सिद्धांतकी एक प्रतिक्रिया के रूप में दिखाई देता है। इस सिद्धांत का आधार सामाजिक वैज्ञानिकों के वे तर्क है, जिसमें यह माना गया है कि इतिहास महान पुरुषों के हस्तक्षेप के परिणाम से भी अधिक था। साथ ही हरबर्ट स्पेन्सर (1884) का वह वाक्य जिसमें वह कहता है कि 'व्यक्ति समय की उपज' उसका आधार है। यह सिद्धांत बताता है कि विभिन्न परिस्थितियों में नेतृत्व में विभिन्न विशेषताएँ दिखाई देतीं हैं। किसी भी नेता की कोई एक इष्टतम मनोवैज्ञानिक रूपरेखा नहीं होती है। एक व्यक्ति वास्तव में जब एक नेता के रूप में व्यवहार करता है, उसका एक सबसे बड़ा कारण उस स्थिति पर निर्भर करता है जिसमें वह कार्य करता है। समाज-मनोविज्ञान के क्षेत्र में तीन प्रमुख आकस्मिकता नेतृत्व सिद्धांत दिखाई देते हैं-

- फ्रेड फीड्लर (F。 E。 Fielder) (1967)-परिस्थितिवश आकस्मिकता सिद्धांत
- वरूम-येत्तोन (Vroom V。 H。 –Yetton P。 W。) (1973)-निर्णय पथ-लक्ष्य सिद्धांत
- हेर्सेय-बलानचार्ड (Hersey-Blanchard) (1972)- स्थितिजन्य सिद्धांत

संक्षेप में, फीड्लर के शब्दों में कहें तो, कोई आदर्श नेता नहीं हैं। कार्योन्मुख नेता और संबंधोंमुख नेता दोनों भी प्रभावी हो सकते हैं, यदि उनका नेतृत्व स्थितिवश हो। जब वहाँ एक नेता का सदस्यशील संबंध है, एक उच्च संरचित कार्य है और उच्च नेता की स्थिति में अधिकार है तो इस स्थिति को एक 'अनुकूल स्थिति' माना जाता है। फीड्लर का मानना था कि कार्योन्मुख नेता अनुकूल और प्रतिकूल परिस्थितियों में प्रभावी होते हैं। जबकि संबंधोंमुख नेता मध्यवर्ती परिस्थितियों में सर्वश्रेष्ठ प्रदर्शन करते हैं।

4. **कार्य सिद्धांतः-** नेतृत्व के संदर्भ में यहएक विशेष और उपयोगी सिद्धांत है। संगठनात्मक या इकाई की प्रभावशीलता में योगदान एवं नेताओं केविशिष्ट व्यवहारों को संबोधित करने के लिए उपयोगी है। इस सिद्धांत की मूल मान्यता यहहै कि नेता का मुख्य काम है समूह की आवश्यकता के लिए जो भी

जरूरी है, उसका ध्यान रखना, इसलिए एक नेता द्वारा समूह की प्रभावशीलता और एकता के लिए हमेशा अच्छा काम किया जाना चाहिए। हक्कमन और वाल्टन (1986), हक्कमन और वेग्मन (2005), मोर्गेसों (2005) आदि ने अपने अध्ययन में पाया कि नेता संगठन की प्रभावशीलता को बढ़ावा देने के प्रदर्शन में पाँच व्यापक कार्य करता है। इन कार्यों में शामिल हैं:

(1) पर्यावरण निगरानी

(2) अधीनस्थ गतिविधियों का आयोजन

(3) अधीनस्थों का शिक्षण और प्रशिक्षण

(4) दूसरों को प्रेरित करना

(5) समूह कार्यों में सक्रिय रूप से भाग लेना

इन प्रमुख सिद्धातों के बावजूद रूपांतरण एवं कार्रवाई नेतृत्व सिद्धांत की बात भी की जाती है। साथ ही नेतृत्व में भावनाओं को भी महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है। इसके बावजूद बी॰ कुप्पुस्वामी नेतृत्व के अन्योन्यक्रिया सिद्धांत की बात करते हैं। इसके संदर्भ में वे लिखते हैं कि *इस बात को अवश्य मान लेना चाहिए कि नेतृत्व एक अन्योन्यक्रियात्मक दृष्टिगत वस्तु है जिसकी उत्पत्ति समूह निर्माण होने पर होती है।* समूह का निर्माण, एकत्र होकर काम में लग जाना जिसमें सारे समूह को शामिल किया जाना, जिससे एक समूह संरचना का प्रकट होना और एक व्यक्ति का नेतृत्व स्थिति का धारण करना या उसे नेतृत्व सौप देना आदि शामिल है। यह सब एक अन्योन्यक्रिया का परिणाम ही है, जिससे एक नेतृत्व उत्पन्न होता है।

4.4 नेतृत्व के प्रकार

मार्टिन कान्वे (Martin Conway) (1915), *द क्राउड इन पीस एंड वार* में नेतृत्व के दो प्रकारों का विश्लेषण करते हैं-

1. भीड़ सम्मोहक (Crowd Compeller) और
2. भीड़ प्रवर्तक (Crowd Exponent)

इन दोनों में वह अंतर करते हुए लिखते हैं कि आम तौर पर भीड़ का प्रतिनिधि उसका मुखिया होता है वह स्वयं उसका प्रतिनिधित्व करता है। इसके विपरीत भीड़ सम्मोहक इसलिए प्रभावशाली बन जाता है, क्योंकि वह भीड़ से अपने अंदर विश्वास उत्पन्न करा लेता है। राजनीतिक जनोत्तेजक तथा धार्मिक पुनरुत्थानवादी ऐसे भीड़ सम्मोहक होते हैं जिनमें अनुयायियों को सम्मोहित करने की शक्तियाँ होती हैं। भीड़ प्रवर्तक ऐसा व्यक्ति होता है जो जनता की अस्पष्ट भावनाओं की अनुभूति कर सकता है, उनकी अभिलाषाओं का विश्लेषण करता है तथा उनको कार्य करने के लिए निर्दिष्ट करता है।

वैसे तो नेतृत्व एक स्थितिपरक परिघटना होती है। नेता या उसके अनुयायियों द्वारा आवश्यक समझे जाने के बाद या परिस्थिति के अनुरूप इसका निर्माण या उभार होता है। इसलिए इसकी प्रभावशीलता कभी सत्ता, प्राधिकार के साथ जुड़कर आती है। अधिकारिता या प्रभावशीलता की प्रकृति के आधार पर सामान्यतया नेतृत्व को चार प्रकारों में बांटकरदेखा जाता है, जैसे-

1. अधिनायकवादी
2. निरंकुशवादी
3. प्रजातांत्रिक
4. हस्तक्षेप-विहीन

1. **अधिनायकवादी:-** इस तरह के नेतृत्व में समूह के सारे अधिकार नेतृत्वकर्ता के पास होते है। यहाँ नेता अपने अनुयायियों को दंड का भय दिखाकर अपने सदस्यों से लक्ष्य प्राप्ति करता है। भय के कारण अनुयायी अधिनायक का विरोध नहीं कर पाते। इसलिए इसे नकारात्मक नेतृत्व के रूप में भी जाना जाता है, क्योंकि इस प्रकार के नेतृत्व में नेता अपने अनुयायियों को प्रेरित करने के लिए उनके भय को साधन बनाता है। इस प्रकार के नेतृत्व से प्राप्त परिणाम जैसे भी हो परंतुअनुयायियों में असंतोष सदा से बना रहता है। इसका उदाहरण जमींदारी प्रथा में देख सकते हैं जिसमें जमींदार गाँव के किसानों से इच्छित अनाज प्राप्त कर सकता है और जो मना कर देता है उसके लिए जमींदार के लठैत काफ़ी हैं। ऐसे में मृत्यु के डर से गाँव की सारी जमीन जमींदर के नाम होती है।
2. **निरंकुशवादी:-** ऐसे नेतृत्व में नेता निर्णय-प्रक्रिया का केंद्रबिंदु होता है। वह अपने सदस्यों को उस पर विश्वास करने के लिए मजबूर करता है। अनुयायियों की आवश्यकताओं की पूर्ति कर नेता उनकी निर्भरता को साधन बनाकर उन पर प्रभाव डालता है। कार्यपूर्ति का उत्तरदायित्व नेता स्वयं लेता है इसलिए अपने अनुयायियों को वह निर्णय प्रक्रिया में भाग लेने का अवसर नहीं देता। नेता की इच्छा होती है कि उसके अनुयायी उसके नियमों का पालन करे और उससे विचलित न हो पाए, इसलिए अनुयायी अपने नेता के प्रति विनय का व्यवहार करते हैं। ऐसा माना जाता है कि ऐसे नेता इच्छित परिणाम शीघ्र प्राप्त कर लेते हैं। लेकिन इसकी कमी यह है कि जैसे ही नेता का प्रभाव कम हो जाता है अनुयायी भी अप्रभावी बन जाते हैं। इसका एक अच्छा उदाहरण इतिहास में सिकंदर महान के रूप में मिलता है। दुनिया को जीतने कीआकांक्षा लेकर वह अपने सैनिकों के साथ पूरे विश्व में अपनी विजय की पताका फहरा रहा था। ऐसे में भारत के सीमा क्षेत्र में प्रवेश के बाद नए माहौल में समायोजित नहीं हो पाता है और खराब तबीयत के कारण वह पीछे हट जाता है और उसकी आकांक्षा वहीं दम तोड़ देती है। उसके बाद उसकी विश्वविजयी सेना भी अपने आप ही निष्प्रभ हो जाती है।
3. **प्रजातांत्रिक:-** इस प्रकार के नेतृत्व में सत्ता तथा निर्णय प्रक्रिया का विकेंद्रीकरण होता है। सभी निर्णयों में अनुयायी भागीदार होते हैं। प्रत्येक सदस्य की राय और विचार-विमर्श को काफ़ी महत्व प्राप्त होता है। इस प्रकार के नेतृत्व में अनुयायियों को लगता है कि नेता जो भी निर्णय ले रहा है वह उनके भलाई के लिए ही है, इसलिए सभी स्वेच्छा से नेता के आदेशों का पालन करते हैं। ऐसा नेतृत्व सदस्यों में उच्चतम निपुणताओं का विकास करता है तथा अधिकतम संतोष प्रदान करता है। इसका कारण सदस्यों के घनिष्ठ संबंध और पारस्परिक लगाव होता है। उदाहरण स्वरूप भारतीय लोकतंत्र प्रणाली को इस नेतृत्व प्रकार में रखा जा सकता है।

4. **हस्तक्षेप-विहीन:-** इस नेतृत्व की विशेषता यह है कि इसमें नेता अपने अनुयायियों पर किसी भी प्रकार का प्रभाव नहीं डालता। नेता अनुयायियों के किसी भी क्रियाकलाप में न तो हस्तक्षेप करता है और न ही किसी प्रकार का सहयोग करता है। अनुयायियों को स्वयं अपने लक्ष्य प्राप्त करने होते हैं और उनके प्राप्ति के लिए निर्णय लेने होते हैं। इस प्रकार के नेतृत्व में अनुयायियों को निराशा होती है साथ ही वे लक्ष्यों के प्राप्ति के लिए इधर-उधर भटकते रहते हैं। इस कारण उनमें दिशा भ्रम की स्थिति को देखा जा सकता है। उदाहरण स्वरूप हम बुद्ध के उस पंक्ति को याद करे जो उनके अनुयायियों के लिए आखिरी पैगाम है।

   अत दिप्प भव: (अपने आप समझो)।

बार्टलैट (Bartlett) ने नेताओं के आधार पर नेतृत्व का तीन समूहों में वर्गीकरण किया है जो निम्नलिखित है-

1. संस्थागत नेता
2. प्रभावी नेता
3. प्रत्यायक नेता

1. **संस्थागत नेता:-** संस्थागत नेता समूह का मुखिया, नियुक्त व्यक्ति अथवा एक कार्यकारी सत्ता होता है, जैसे- जिला अधिकारी, देश का राष्ट्रपति, किसी कंपनी का अध्यक्ष, किसी कार्यालय का अध्यक्ष आदि यह सब अपनी एक खास संस्था के नेता होते है। उस संस्था के स्वरूप के आधार पर इन नेताओं का पद और कार्यकाल निश्चित होता है। इन पदों के साथ प्रतिष्ठा, सम्मान जुड़ा होता है। साथ संस्था के अंतर्गत आने वाले प्रत्येक सदस्य पर सत्ता जमाए रखने के लिए इन्हें कुछ अधिकार भी प्राप्त होते है। संस्थागत नेताओं का मुख्य कार्य संस्था की परिस्थिति और प्रतिष्ठा बनाए रखना होता है। इस प्रकार के संस्थागत ढाँचे में एक पदानुक्रम भी पाया जा सकता है। विभिन्न श्रेणियों में बंटेसदस्य आदेश और आज्ञा पालन के लिए होते हैं। लालफ़ीताशाही इस प्रकार के नेतृत्व में प्रमुख कारक होती है। निर्णय प्रक्रिया के अनुपालन का एक पदानुक्रम होता है इस कारण गलतियों की गुंजाइश कम रहती है। किंतु इसी कारण वह प्रक्रिया बहुत धीमी हो जाती है। संस्था का कोईभी सदस्य किसी भी व्यक्ति के लिए जिम्मेदार नहीं होता है, वह केवल अपने कर्तव्यों का पालन कर रहा होता है। ऐसे में संस्थागत सदस्यों का निर्वैयक्तिक होने का भय होता है। इसलिए आम तौर पर संस्थागत ढांचे में किसी भी 'व्यक्ति' को स्थान नहीं होता है वहाँ सब कुछ एक 'प्रकरण' होता है।
2. **प्रभावी नेता:-** प्रभावी नेता अत्यधिक आक्रामक, निश्चयात्मक तथा बहिर्मुखी होते हैं। समूह की समस्या को सम्मान के साथ सुलझाना उनका प्राथमिक उद्देश्य होता है। इस प्रकार के नेताओं में समस्या को विस्तार से देखने और उसका ऐतिहासिक परिदृश्य में निरीक्षण करने का धैर्य नहीं होता। वर्तमान अवस्था को बदलने के लिए वे निर्णय लेने में तीव्रता दिखाते हैं। प्रभावी नेता के निर्देशन

सिद्धांत में समस्या को लेकर चिंतन से ज़्यादा क्रिया पर ज़ोर होता है। ऐसे नेताओं को वाद-विवाद से घृणा होती है। उन्हें तब तक त्रुटियाँ करने का भय नहीं होता जब तक उनमें लोगों का परामर्शन करने की सत्ता होती है, जो लोग इनकी योजनाओं का कार्यान्वयन करते हैं उन्हें समूह की निष्ठा भी प्राप्त होती है। समूह की संतुष्टि तब तक रहेगी जब तक नेता कुछ ठोस प्रमाण देता रहेगा कि वह उद्देश्य की ओर बढ़ रहा है। जैसे कि भारत में हम देखते है, अण्णा हज़ारे महाराष्ट्र के प्रभावी सामाजिक कार्यकर्ता हैं। उन्होंने अपने प्रभाव से भ्रष्टाचार के विरुद्ध महाराष्ट्र में एक आंदोलन खड़ा किया और कुछ मंत्रियों को सजा भी दिलवा चुके हैं। इनके इस प्रभाव के कारण दिल्ली में भ्रष्टाचार के विरुद्ध एक विशाल आंदोलन खड़ा हो सका और जन-लोकपाल को लागू करने का उनका उद्देश्य कमोबेश साध्य हुआ। इस आंदोलन को समझे तो अण्णा हज़ारे कोई बड़े चिंतक नहीं है, लेकिन एक क्रियाशील व्यक्तित्व हैं। वे वाद-विवाद में ज़्यादा समय नहीं गवाते, बल्कि शीघ्र निर्णय के लिए कारगर नियोजन करते हैं। उनके इस कार्य में सहयोगी अरविंद केजरीवाल ने इस आंदोलन से नागरीकों के मन में इतनी जगह पा ली है कि वह वर्तमान में दिल्ली के मुख्यमंत्री के रूप में सेवा दे रहे हैं

3. **प्रत्यायक नेता:-** सभी प्रकार के नेताओं में, प्रत्यायक नेता ही ऐसा होता है जो अनुयायियों के साथ अधिक से अधिक संपर्क बनाता है। वह लोगों के साथ मिल-जुल कर रहता है, उनकी समस्याओं को समझता है और उनकी आवश्यकताओं तथा भावनाओं की अनुभूति करता है। बी० कुप्पुस्वामी लिखते हैं मानव जीवन के इतिहास में गांधीजी का अनुनायी नेता के रूप में सर्वोत्कृष्ट उदाहरण मौजूद है। हजारों व्यक्ति उन्हें पत्र लिखते थे और सभी को वह बड़ी तसल्ली के साथ व्यक्तिगत रूप से वह उत्तर देते थे। अपनी असंख्य सार्वजनिक नियुक्तियों के बावजूद वे लोगों से सदैव व्यक्तिगत रूप से मिलने के लिए समय निकाला करते थे। संथागत नेता की तुलना में प्रत्यायक नेता सौहार्दपूर्ण होता है तथा उसमें लोगों के प्रति स्नेह होता है। वह लोगों के विचारों तथा आकांक्षाओं के प्रति सतर्क रहता है। इसी के आधार पर वह एक क्रियाशील कार्यक्रम तैयार करता है। वह सामान्य लक्ष्यों के लिए जनता को स्थिर-रूपों तथा विशेष प्रकार की अपीलों द्वारा समझाता-बुझाता है। वह लोगों के उत्साह को जगाता है।
4. **विशेषज्ञ:-** ज्ञान, शिल्पविद्या, कला तथा इसी प्रकार के दूसरे क्षेत्रों में दक्षता होने के कारण, विशेषज्ञ नेता बन जाता है। परंतु उसका प्रभाव क्षेत्र संकुचित होता है। यह क्षेत्र उन्हीं लोगों तक सीमित रहता है जो उनसे परामर्श लेते हैं और उसके पास आते-जाते हैं। प्राय: विशेषज्ञ अपनी मृत्यु के काफ़ी समय बाद ही समूह को प्रभावित कर पाता है। उसके जीवित रहते हुए शायद लोग उसके लेखन कार्य की कीमत न समझ सकें। विशेषज्ञ अपनी कला द्वारा लोगों की आकांक्षाओं तथा उनके रहन-सहन की अवस्थाओं में परिवर्तन लाता है। कवियों, विचारकों तथा शिल्प-विज्ञानी आदि ने जीवन के तौर-तरीके में तथा मूल्यों में विशाल परिवर्तन किया है। इस प्रकार विशेषज्ञ सामाजिक जीवन को अप्रत्यक्ष रूप से प्रभावित करता है। उसका जनता से कोई संपर्क नहीं रहता। जर्मन दार्शनिक और पूंजी के

रचयिता कार्ल मार्क्स, चित्रकार विन्सेंट वॉन गॉग और अब्दुल कलाम जैसे वैज्ञानिक को इस वर्ग में रखा जा सकता है।

उक्त प्रकार के नेताओं और नेतृत्व का वर्णन नेतृत्व को समझने के लिए जरूरी हैकिंतु इन्हें यहाँ तक सीमित कर के देखना गलत होगा। यह वर्णन एक दूसरे के विपरीत होते हुए भी एकदम अलग नहीं होते। हो सकता है कि प्रभावी नेता प्रत्यायक नेता भी हो, वह विशेषज्ञ भी हो सकता है। इसी प्रकार प्रत्यायक नेता परिस्थितियों के कारण प्रभावी हो सकता है। बी॰ कुप्पुस्वामी गांधी और नेहरू को मिसाल के तौर पर दिखाते हैं कि गांधीजी जिनको प्रत्यायक नेता के रूप में वर्गीकृत किया गया है वे कई अवसरों पर प्रभावी नेता के रूप में कार्य कर चुके हैं। इसी प्रकार नेहरू जी, प्रत्यायक नेता थे। जब उन्होंने सहकार्य कृषि की योजना को कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया तो उन पर प्रभावी नेता होने का दोष लगाया गया। इसलिए नेतृत्व को प्रकारों में बांटकर समझना या उनको किसी खास वर्ग में रखना उचित वर्गीकरण नहीं होगा। नेतृत्व स्वयं में गतिशील प्रवृत्ति का होता है जिसमें परिस्थितियाँ एवं अन्य कारक भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

4.5 नेतृत्व के प्रकार्य

नेतृत्व एक गतिशील परिघटना है जो एक समूह के अंतर्गत एक नेता द्वारा उचित लक्ष्य पूर्ति के लिए कार्यान्वित होती है। इसमें नीति निर्माण से लेकर कार्यक्रमों का आयोजन-नियोजन तथा प्रतिनिधित्व बनाए रखने का उत्तरदायित्व निहित है। पी॰ डी॰ मिश्र अपनी पुस्तक *सामाजिक समूह* कार्य में नेतृत्व के प्रकार्य को दो प्रमुख श्रेणी में बांटते है-

1. कार्य-स्तर का कार्य
2. रख-रखाव का कार्य

1. **कार्य-स्तर का कार्य:-** इस स्तर में नेता का कार्य समूह के प्रयत्नों को इस प्रकार प्रोत्साहित करना एवं निर्देशित करना है, जिसमें सामान्य समस्या का चयन हो सके तथा उसे परिभाषित किया जा सके। साथ ही समस्या का समाधान भी कर सके। इस कार्य-स्तर में निम्न कार्य किए जाते हैं-

- शुरुआत
- सूचना तथा विचारों को ग्रहण करना
- सूचना देना तथा अपने विचार प्रस्तुत करना
- विचारों को स्पष्ट करना या विस्तार करना
- सारांश तैयार करना

2. **रख रखाव का कार्य:-** इस संदर्भ में नेता को उन कार्यों को करने की सलाह दी जाती है, जिसमें वर्तमान स्थिति यथावत बनी रहे तथा आवश्यक हो तो उसमें परिवर्तन भी किया जाए। समूह में एक

ज्ञान शांति मैत्री

दूसरे के प्रति सद्भावना, श्रद्धा, लगाव आदि उत्पन्न करने में नेता सहायता करता है। इस स्तर के अंतर्गत नेता निम्न कार्य करता है-

- उत्साहवर्धन करना
- समूह भावना की अभिव्यक्ति
- समूह में एकरूपता लाना
- समझौता करना
- संचार की सुविधा प्रदान करना
- कार्य स्तर निश्चित करना

किसी भी प्रकार का नेता साधारणत पर निम्नवत कार्य करता है-

1. **अधिशासकीय कार्य:-** नेता समूह द्वारा नीतियों का पालन करने की प्रेरणा देता है। इसके लिए वह विभिन्न कार्यों के लिए सदस्यों में श्रम का बंटवारा करता है, उनको अलग-अलग पद प्रदान करता है तथा समय-समय पर उन्हें उनके कर्तव्य ज्ञात कराता है। वह समूह को हर प्रकार से व्यवस्थित करने का कार्य इस स्वरूप में करता है।
2. **योजना बनाना:-** नेता समूह की सहायता के लिए योजना बनाता है। वह इन योजनाओं के लिए साधनों का पता लगाता है तथा उनका अधिकतम उपयोग करने का प्रयत्न करता है। वह समाज की मान्यताओं, मूल्यों तथा उद्देश्यों को ऊंचा उठाने के लिए नियोजन करता है। नियोजन ही नेता की योग्यता तथा उसकी कल्पना को स्पष्ट करता है।

नेता के कार्य	अधिशासकीय कार्य
	योजना बनाना
	नीति निर्धारण करना
	विशेषज्ञ के रूप में
	समूह का प्रतिनिधित्व करना
	आंतरिक संबंधों पर नियंत्रण रखना
	पुरस्कार एवं दंड का निर्धारण करना
	मध्यस्थता करना
	पथ प्रदर्शन करना
	आदर्श प्रस्तुत करना

ज्ञान शांति मैत्री

3. **नीति निर्धारण करना:-** समूह की सभी महत्वपूर्ण बिंदुओं का निर्माण नेता द्वारा किया जाता है। नीतियों के द्वारा ही वर्तमान तथा भविष्य की आवश्यकताओं को पूरा किया जा सकता है। नेता इन नीतियों के निर्धारण में सभी सदस्यों की इच्छाओं का ध्यान रखता है।
4. **विशेषज्ञ के रूप में:-** नेता समूह को इस प्रकार निर्देश और सूचनाएँ देता है जिससे उनका मनोबल ऊंचा बना रहे। जब स्थिति काफ़ी विस्फोटक होती है ऐसे समय में नेता अपने ज्ञान तथा अनुभव के आधार पर उस स्थिति को सामान्य करने की कोशिश करता है।
5. **समूह का प्रतिनिधित्व करना:-** नेता दूसरे समूहों के सामने अपने समूह का प्रतिनिधित्व करता है। वह अपने समूह की भावनाओं को दूसरे समूहों तक पहुंचाता है तथा दूसरे समूहों के सदस्यों से संबंध स्थापित करने की सकारात्मक या नकारात्मक स्वीकृति देता है।
6. **आंतरिक संबंधों पर नियंत्रण रखना:-** नेता समूह सदस्यों के व्यवहारों पर नियंत्रण रखता है। वह सदैव यह प्रयत्न करता है कि सभी सदस्य नियमों का पालन करें तथा आपस में मित्रता बनी रहे। वह सदस्यों के पारस्परिक संबंधों को नियंत्रित, निर्देशित तथा पथ प्रदर्शित करता है।
7. **पुरस्कार एवं दंड का निर्धारण करना-** नेता का कार्य अपने समूह के लिए पुरस्कार तथा दंड की व्यवस्था करना है। जो सदस्य स्वीकृत नियमों और नीतियों के अनुसार कार्य करते हैं उन्हें पुरस्कार दिया जाता है और जो सदस्य नियमों, नीतियों की अवहेलना करते हैं उनको दंड मिलता है। दंड देने के लिए वह किसी सदस्य को अपने पद से हटा सकता है या समूह की गतिविधियों में भाग लेने से रोक सकता है।
8. **मध्यस्थता करना:-** नेता का कार्य समूह के पारस्परिक विवादों को सुलझाना तथा शंकाओं का समाधान करना है। वह विचार-विमर्श के द्वारा आपसी समझौता कराने का प्रयत्न करता है।
9. **पथ प्रदर्शन करना:-** नई परिस्थितियों में नेता ही समूह को इस बात के निर्देश देता है कि वे किस प्रकार का व्यवहार करें, किन बातों का समर्थन करें और क्या निर्णय लें। समूह की एकरूपता बनाए रखने के लिए वह हर संभव प्रकार से समूहों के सदस्यों का पथ प्रदर्शन करता है।
10. **आदर्श प्रस्तुत करना:-** नेता समूह के लिए आदर्श होता है। उसे समूह के सामने एक आदर्श भूमिका निभानी होती है जिससे दूसरे सदस्य उसका अनुसरण करें।

4.5.1 लोकतांत्रिक नेता के कार्य

एक लोकतांत्रिक नेता के निम्नलिखित कार्य हैं-

1. **समस्याओं की ओर ध्यान देना-** नेता को समूह की समस्याओं पर ध्यान देना चाहिए, इससे समूह में निराशा की स्थिति पैदा नहीं होगी। यदि उनकी समस्याओं को नज़रअंदाज़ किया जाता है या उन्हें दबाने का प्रयास किया जाता है तो उन पर इसका विपरीत प्रभाव पड़ता है। इसलिए उनकी समस्याओं पर उचित विचार-विमर्श करना चाहिए।

2. **सामूहिक बैठक:-** नेता को समूह के साथ में सामूहिक बैठक का आयोजन करना चाहिए, जिसमें उनके विचारों को ध्यानपूर्वक सुनना चाहिए तथा अपने सुझाव देने चाहिए।समूह को सामूहिक कार्य करने की प्रेरणा देनी चाहिए। समूह में बैठकर उनकी समस्याओं पर विचारविमर्श का आदान-प्रदान करना चाहिए।
3. **निश्चित उद्देश्य की जानकार्य देना:-** नेता को समूह के उद्देश्य की भलीभांति जानकारी देनी चाहिए। साथ में यह भी आवश्यक है कि उद्देश्य तक पहुंचने वाले साधनों में किसे किस तरह अपनाया जाए आदि कार्य जन तांत्रिक नेता को करने चाहिए। इससे समूह को लक्ष्य प्राप्ति के लिए उचित कार्यों की जानकारी हो जाती है।
4. **कार्यक्षमता के मापदंड निश्चित करना:-** जनतांत्रिक नेता को समूह की कार्यक्षमता के मापदंड निश्चित कर देने चाहिए और उससे समूह को परिचित कराना होगा।
5. **उचित निर्णय:-** नेता ऐसे उचित निर्णय ले जो सभी सदस्यों को भी मान्य हों। समूह के सदस्य यदि निर्णयों में शंका व्यक्त करे तो उन्हें यह भी बताना चाहिए कि वे अपनी शंका का समाधान सामूहिक बैठक में कर सकते हैं।
6. **प्रेरणा देना:-** समूह के सदस्यों को इस बात का आभास कराना चाहिए कि उनकी कठिन मेहनत, ईमानदारी आदि से समूह के लक्ष्यों पर विशेष प्रभाव पड़ता है। इससे समूह की प्रगति होती है। इस प्रगति के लिए सदस्यों को विशेष पारितोषिक, आर्थिक लाभांश, पदोन्नति आदि दिए जाने की चर्चा करना, जनतांत्रिक नेता का कार्य है। इससे सदस्यों को एक प्रकार की राहत मिलती है और वह कार्य के प्रति उत्साहित होता है।

4.6 नेतृत्व की आवश्यकता

समाज कार्य के अंतर्गत समूह कार्य के रूप में लोगों के लिए सहायता कार्य किया जाता है। इसमें समाज के विभिन्न समूहों को सेवा-सहायता प्रदान की जाती है। समूह को अपनी समस्याएँ सुलझाने या सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अनुभव चाहिए होता है। वैसे नेतृत्व सभी प्रकार के समूहों में पाया जाता है। सामूहिक दशाएँ ही नेतृत्व को जन्म देती है। समूह सदस्य में जो सबसे अधिक जानकार,निपुण होता है वह सामूहिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतुया सामूहिक उद्देश्य पूर्ति हेतु चुना जाता है। नेता के रूप में चुना गया व्यक्ति समूह का ही सदस्य होता है। समूह में नेतृत्व किसी को सौंपने का अर्थ यह है कि फिलहाल समूह के उद्देश्य पूर्ति की योग्यता उस व्यक्ति में है। हो सकता है कि उस कार्य की पूर्ति के बाद दूसरा लक्ष्य प्राप्त करने में वह अक्षम है तब समूह का दूसरा सदस्य उस समूह का नेतृत्व धारण करेगा। इस प्रकार परिस्थिति के अनुरूप समूह के सदस्यों के बीच से कोई भी व्यक्ति नेतृत्व धारण करने का अधिकार रखता है। नेता को उतने ही अधिकार प्राप्त है जितने समूह के सदस्य उसे प्रदान करते है। समूह ही नेता का चुनाव करता है तथा उसके कार्यों, भूमिका आदि का निर्धारण भी करता है।

पी॰ डी॰ मिश्र अपनी किताब *सामाजिक सामूहिक कार्य* में नेतृत्व के सिद्धांतों (Principles of Leadership) की बात करते हुए कहते हैं कि नेतृत्व विभिन्न कारकोंपर निर्भर होता है, यही वे कारक हैं जो सफल नेतृत्व के लिए उत्तरदायी होते हैं। इसलिए इन्हें नेतृत्व के सिद्धांत के रूप में माना जाना चाहिए। वे नेतृत्व सिद्धांत निम्नवत हैं-

1. संतुलन का सिद्धांत
2. अंतर्दृष्टि का सिद्धांत
3. विचित्रता का सिद्धांत
4. पूर्वानुमान कासिद्धांत
5. मनोशक्ति के केंद्रीकरण का सिद्धांत
6. योग्यता तथा अयोग्यता का सिद्धांत

समाज कार्य के अंतर्गत सामूहिक समाज कार्य में नेतृत्व का स्वरूप प्रजातांत्रिक होता हैइस कारण समूह के सभी सदस्यों को कार्य में शुरू से लेकर अंत तक पूर्ण अधिकार होता है। उक्तसिद्धांतों का आधार लेते हुए नेता समूह में समायोजन की स्थिति बनाने की कोशिश करता है जो अंततः सामूहिक उद्देश्यों के पूर्ति के लिए आवश्यक है।

4.7 सारांश

इस इकाई में नेतृत्व की विभिन्न अवधारणाओं, प्रकारों और उसके विभिन्न सिद्धांतों का अध्ययन किया गया है। वर्तमान में नेतृत्व की समस्या बड़ी जटिल बनती जा रही है। समाज के कई सारे समूहों में केवल नेतृत्व के अभाव में उनकी आवश्यकताओं की पूर्ति में अवरोध खड़े हो गए हैं। जैसे कि हमने देखा नेतृत्व कोई व्यक्तित्व गुण, स्थिति, प्रकृति ही नहीं है, बल्कि उसमें समूह के वांछीय उद्देश्य भी शामिल किए जा सकते है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि नेतृत्व प्रशिक्षण के आधार पर लोगों में उत्पन्न किया जा सकता है या प्रेरित किया जा सकता है। उसके लिए किसी खास व्यक्तित्व की आवश्यकता नहीं है वह एक समाज-मनोवैज्ञानिक परिघटना है, जिसे सामाजीकरण के साथ लोगों में विकसित किया जा सकता है। बावजूद इसके नए पीढ़ी के दार्शनिक-विद्वान इसकी आलोचना भी करते हैं। इसमें नोम चोमस्की प्रमुख है। इनके अनुसार नेतृत्व लोगों को अपने अधीनस्थ आवश्यकताओं से अलग किसी और को शामिल करता है। जबकि नेतृत्व का परंपरागत दृष्टिकोण यह है कि लोग चाहते है कि उनको यह बताया जाए कि उन्हें क्या करना है। व्यक्ति को यह सवाल करना चाहिए कि वे क्यों तर्कसंगत और वांछनीय कार्यों के अधीन हैं। जब नेता, 'मुझ पर विश्वास कीजिए', 'विश्वास रखिए' कहते हैं तो उसमें प्रमुख तत्व- तर्कशक्ति की कमी होती है। यदि तर्कशक्ति पर ज़्यादा ध्यान नहीं दिया जाता है, तो लोगों को 'नेता' का अनुसरण चुपचाप करना पड़ता है।साथ ही नेतृत्व की अवधारणा की एक और चुनौती यहभी है कि यह दलों और संगठनों में 'अनुसरण की भावना' को बनाता है।

नेतृत्व की इन सभी अवधारणाओं को समझते हुए इनकी आलोचनाओं पर गौर करते हुए सामाजिक कार्य पर यह ज़िम्मेदारी है कि वह समाज में निरपेक्ष और लोकतांत्रिक नेतृत्व को बढ़ावा दे।

4.8 बोध प्रश्न

1. नेतृत्व की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
2. नेतृत्व के प्रकारों पर चर्चा करते हुए लोकतांत्रिक नेतृत्व को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
3. नेतृत्व के विभिन्न सिद्धांतों(Theory) पर प्रकाश डालें।
4. सफल नेतृत्व क्या है? चर्चा करें।
5. समाज कार्य में नेतृत्व की आवश्यकता पर चर्चा करें।

नोट:- एक नेता के कार्य क्या होते हैं और वह कैसे किए जाते हैं इसको समझने के लिए विद्यार्थियों से अनुरोध है कि किसी एक सामाजिक आंदोलन से जुड़े नेता का अवलोकन कर उसका विश्लेषण करें।

4.9 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

Allport, F. H. (1922). *Social Psychology.* Newyork: Mcmillan Company.

Bogardes, E. S. (1950). *Fundamental of Social Psychology.* Newyork: Appleton Century Crofts.

Cooper, G. B., & Mc ambgaugh, G. R. (1963). *Leadership Integrating Principles of Social Psychology.* Cambridge: Schenkmon.

Gibb, C. A. (1945). Leadership. In Lindzey (Ed.), *Handbook of Social Psychology .* Addison-Wesley.

Gibb, C. A. (1969). *Leadership : Salected Readings* . Baltimore: Penguin Boks.

Lapiere, & Fransworth. (1949). *Social Psychology.* Mcgraw-Hill.

Spencer, Herbert (1841). *The Study of Sociology.* New York: D. A. Appleton.

कुप्पुस्वामी, बी. (1972). *समाज मनोविज्ञान*. पंचकुला: हरियाणा साहित्य अकादमी.

मिश्र, पी. डी. (1977). *सामाजिक सामूहिक कार्य*. लखनऊ: उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान.

Blake, R.; Mouton, J.(1964). *The Managerial Grid: The Key to Leadership Excellence*. Houston: Gulf Publishing Co..

Fiedler, Fred E. (1967). *A theory of leadership effectiveness.* McGraw-Hill: Harper and Row Publishers Inc..

Heifetz, Ronald (1994). *Leadership without Easy Answers*. Cambridge, MA: Harvard University Press.

Hemphill, John K. (1949). *Situational Factors in Leadership*. Columbus: Ohio State University Bureau of Educational Research.

Hersey, Paul; Blanchard, Ken; Johnson, D. (2008). *Management of Organizational Behavior: Leading Human Resources* (9thedi.). Upper Saddle River, NJ: Pearson Education.

Miner, J. B. (2005). *Organizational Behavior: Behavior: Essential Theories of Motivation and Leadership*. Armonk: M.E. Sharpe.

Vroom, Victor H.; Yetton, Phillip W. (1973). *Leadership and Decision-Making*. Pittsburgh: University of Pittsburgh Press.

Vroom, Victor H.; Jago, Arthur G. (1988). *The New Leadership: Managing Participation in Organizations*. Englewood Cliffs, NJ: Prentice-Hall.

ज्ञान शांति मैत्री

खंड- 3

मनोसामाजिक प्रक्रियाएं

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई-1 अभिप्रेरणा

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 अभिप्रेरणा
  1.2.1 अभिप्रेरणा तथा व्यवहार
  1.2.2 अभिप्रेरित व्यवहार की विशेषताएँ
1.3 अभिप्रेरणा के प्रकार
  1.3.1 मनोवैज्ञानिक तथा व्यक्तिगत अभिप्रेरणा
  1.3.2 अर्जित या सामाजिक अभिप्रेरणा
1.4 अभिप्रेरणा के सिद्धांत
1.5 अभिप्रेरणा का प्रभाव
1.6 समाज कार्य में अभिप्रेरणा की प्रासंगिकता
1.7 सारांश
1.8 बोध प्रश्न
1.9 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1.0उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप-

1. अभिप्रेरणा की अवधारणा से अवगत होंगे।
2. मानव व्यवहार में अभिप्रेरणा के महत्व को समझ सकेंगे।
3. अभिप्रेरणा के प्रकार स्पष्ट कर सकेंगे।
4. अभिप्रेरणा के सिद्धांतों को रेखांकित कर सकेंगे।
5. अभिप्रेरणा के प्रभाव को समझते हुए इसकी समाज कार्य में प्रासंगिकता व्याख्याकित कर सकेंगे।

1.1 प्रस्तावना

मनुष्य जीवन में विभिन्न व्यवहार करता है। लेकिन सवाल यह है कि क्यों? उसे भाषा सीखनी पड़ती है, स्कूल में जाना पड़ता है, डिग्रियाँ लेनी पड़ती है, नौकरी करनी पड़ती है? ऐसे अनेक सवाल है, क्या यह हम किसी ख़ास वजह से करते हैं या सब करते हैं इसलिए करते हैं। व्यक्ति अपने सामने एक

ख़ास लक्ष्य रखता है और उसको पाने के लिए वह निरंतर व्यवहार करता है। ऐसा क्यों होता है? क्या वह व्यक्ति अपनी संतुष्टि के लिए करता है? अगर जवाब हाँ है तो सभी व्यक्तियों को तो यह नहीं मिलती और जिनको नहीं मिलती वे अपना लक्ष्य बदल लेते हैं, परंतु कुछ व्यक्ति असफलता के बावजूद भी क्यों दोबारा इसी कोशिश के लिए व्यवहार करते हैं? यह सब बहुत ही महत्वपूर्ण सवाल हैं और यह यहाँ इसलिए उपस्थित किए जा रहे हैं, क्योंकि इसका संबंध अभिप्रेरणा उपयुक्तसे हैं। ऊपर के सभी सवालों का जवाब अभिप्रेरणा से जुड़ा हैं। आप पढ़ाई क्यों कर रहे हैं इसका जवाब है कि आपके सामने कोई लक्ष्य है परंतु लक्ष्य क्यों है? तो जवाब है कि उसके पीछे कोई प्रेरक तत्व काम कर रहे होंगे जैसे कि माता-पिता ने कहा है इसलिए, साथ के सभी लोग पढ़ाई कर रहे हैं आदि कहने का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति के सभी व्यवहार अभिप्रेरकों एवं अभिप्रेरणाओं से गतिमान होते हैं।

मानव व्यवहार में अभिप्रेरणा एक उद्दीपक की भाँति कार्य करता है। इसलिए कहा जाता है कि व्यक्ति के किसी भी व्यवहार को समझना हो, जैसे कि वह ऐसा व्यवहार क्यों कर रहा है थोड़े समय की खोजबीन के बाद हम उस व्यवहार को प्रेरित करने वाली अभिप्रेरणा तक पहुँचते हैं।

समाज कार्य में वैयक्तिक सेवा कार्य करते समय सामाजिक कार्यकर्ता को मानवीय व्यवहारों की सही समझ होनी जरूरी है ऐसे में उसके सही-गलत व्यवहारों का अध्ययन कर सही अभिप्रेरकों को गतिशील बनाने में कार्यकर्ता व्यक्ति को मदद मुहैया करता है। इस इकाई में हम मानवीय व्यवहारों को नियंत्रित करने वाले ख़ास पहलू अभिप्रेरणा की प्रक्रिया को समझने की कोशिश करेंग

1.2 अभिप्रेरणा

अभिप्रेरणा अंग्रेजी शब्द MOTIVATION का हिंदी रूपांतरण है। मोटिवेशन शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के Movere शब्द से हुई होगी ऐसा माना जाता है। इस शब्द का अर्थ गतिशील या सक्रिय करने से लिया जाता है। इसलिए अभिप्रेरणा को हम मोटे तौर पर सक्रिय प्रक्रिया के रूप में ले सकते है, जो लक्ष्य प्राप्ति तक जारी रहती है। अभिप्रेरणा मनोविज्ञान से जुड़ा शब्द है, इस कारण मनोविज्ञान में अभिप्रेरणा को एक कारक के रूप में देखा जाता है जिससे व्यक्ति का व्यवहार लक्ष्योन्मुख एवं सक्रिय होकर लक्ष्य प्राप्ति तक निरंतर जारी रहता है। जैसे भूख की अवस्था में भोजन की खोज करना। लक्ष्य प्राप्ति के बाद व्यवहार सामान्य हो जाता है और व्यक्ति संतुष्टि का अनुभव करता है। पी.डी. मिश्र (1985) अपनी किताब *सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य* में अभिप्रेरणा का अर्थ बताते हुए लिखते हैं कि "*व्यक्ति की शारीरिक आवश्यकताएँ सर्वप्रथम उसके व्यवहार का पथ प्रदर्शन करती है उसके पश्चात जिस समाज में वह रह रहा है उसके नियम व आदर्श उसको प्रभावित करते हैं, जिसके फलस्वरूप व्यक्ति अपनी रुचियों व कार्य के ढंगों में परिवर्तन लाता है। इससे उसके व्यवहार में विशिष्टता आती है। अत: स्पष्ट है कि अभिप्रेरक का संबंध क्यों से हैं।*' सामान्य शब्दों में समझे तो व्यक्ति ऐसा क्यों कर रहा है, के पीछे जो कारक कार्य कर रहा होता है वही अभिप्रेरणा है। अभिप्रेरणा के कारण व्यक्ति के व्यवहार में तीव्रता, निरंतरता और लक्ष्योन्मुखता आती है।

हिलगार्ड तथा इत्यादि (1975) *इंट्रोडक्शन ऑफ़ सायकोलोजी* में लिखते हैं कि *"अभिप्रेरणा ऐसी अवधारणा है, जिसका आशय आवश्यकता पूर्ति एवं लक्ष्य प्राप्त करने के व्यवहार के नियंत्रण से है।"*
एटकिन्सन (1964) *ह्यूमन मेमोरी* में अभिप्रेरणा के बारे में लिखते हैं कि *"अभिप्रेरणा का आशय ऐसे संप्रत्यय से है जो एक अथवा अनेक प्रकार की क्रियाओं को उत्पन्न करने के लिए प्राणी को उद्दीप्त करती है।"*

उक्त दोनों परिभाषाएँ मनोविज्ञान के क्षेत्र से जुड़े विद्वानों की हैं इसके अतिरिक्त भारत में समाज कार्य के शुरूआती विद्वानों में से एक **पी.डी. मिश्र** (1985) अपनी किताब *सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य* में अभिप्रेरणा को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि *"अभिप्रेरणा वह आंतरिक शक्ति है जो व्यक्ति से कार्य कराती है, उसकी क्रियाओं को गतिशील बनाती है तथा उद्देश्य प्राप्ति होने पर क्रियाओं को एक निश्चित दशा की ओर प्रेरित करती है।"*

1.2.1 अभिप्रेरणा तथा व्यवहार

अभिप्रेरणा की परिभाषाओं से यह ज्ञात होता है कि इसकाव्यक्ति के व्यवहार के साथ घनिष्ठ संबंध है। हिलगार्ड की परिभाषा के अनुसार वह अभिप्रेरणा ही है जो लक्ष्य प्राप्ति के व्यवहार को नियंत्रित करती है। इसके बावजूद **पी.डी. मिश्र** (1985) अपनी किताब *सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य* में अभिप्रेरणा और व्यवहार के बीच संबंधदर्शाने के लिए निम्न बिंदुओं का आधार लेते हैं

1. अभिप्रेरणा व्यवहार की स्रोत है
2. अभिप्रेरणा व्यवहार का निर्धारण करती है
3. अभिप्रेरणा व्यवहार को निर्देशित करती है
4. अभिप्रेरणा व्यवहार को चयनात्मक बनाती है
5. अभिप्रेरणा व्यवहार का उद्देश्य है
6. अभिप्रेरणा शारीरिक संतुलन उत्पन्न करती है
7. अभिप्रेरणा व्यवहार में नियंत्रण लाती है
8. अभिप्रेरणा व्यवहार में परिवर्तन लाती है
9. अभिप्रेरणा से संतोष की प्राप्ति होती है
10. अभिप्रेरणा सामाजिक गुणों को सीखने के लिए बाध्य करती है
11. अभिप्रेरणा के कारण बौद्धिक गुणों में वृद्धि होती है
12. अभिप्रेरणा से आत्म-प्रदर्शन की भावना उत्पन्न होती है
13. अभिप्रेरणा से भौतिक उन्नति होती है
14. अभिप्रेरणा से लक्ष्य का निर्धारण होता है तथा
15. अभिप्रेरणाओं के असंतुष्टि के कारण व्यक्ति का व्यवहार असामान्य हो जाता है।

ज्ञान शांति मैत्री

इन बिंदुओं के आधार पर हम यह कह सकते है कि समाज मेंव्यक्ति के समायोजन के लिए अभिप्रेरणा आवश्यक तत्व है जिसका सीधा संबंध व्यक्ति के व्यवहार से है।

1.2.2 अभिप्रेरित व्यवहार की विशेषताएँ

कोफर एवं एपले (1964) के अनुसार अभिप्रेरित व्यवहार के महत्वपूर्ण लक्षण निम्नलिखित हैं। इन्हें अभिप्रेरणा के प्रकार्य भी कहा जा सकता है-

1. **व्यवहार की दशा-** अभिप्रेरणा का पहला मुख्य कार्य प्राणी के व्यवहार को लक्ष्योन्मुख बनाना है। इस कारण उसका ध्यान चयनात्मक हो जाता है और वह एक निश्चित लक्ष्य की ओर ही अग्रसर होना चाहता है।
2. **सक्रियता-** अभिप्रेरकों का दूसरा मुख्य कार्य व्यवहार को लक्ष्यकी दशा में सक्रिय करना है। व्यक्ति अभिप्रेरकों से ही प्रभावित होकर लक्ष्य प्राप्त करने के लिए सक्रिय हो उठता है।
3. **कार्य-कुशलता में वृद्धि-** अभिप्रेरकों के प्रादुर्भाव से प्राणी में कार्यशक्ति एवं कुशलता में वृद्धि होती है। इसके परिणामस्वरूप कार्य का संपादन अपेक्षाकृत शीघ्रता से होता है।
4. **द्वंद्वों का समाधान-** अभिप्रेरकों का कार्य द्वंद्वों का समाधान करना भी है। जैसे यदि एक ही समय पर एक से अधिक लक्ष्य उपलब्ध होते हैं तो व्यक्ति यह तय नहीं कर पाता कि वह किस लक्ष्य का चयन करें ऐसी स्थिति में वह उस लक्ष्य का चयन करेगा जो उसके लिए अधिक उपयोगी हो।
5. **व्यवहार में स्व-शोधन-** अभिप्रेरकों के कारण व्यवहार धीरे-धीरे परिमार्जित होता रहता है।
6. **व्यवहार में मितव्ययता-** जैसे कि ऊपर हमने देखा है अभिप्रेरणा के कारण व्यवहार चयनात्मक बन जाता है, अत: व्यक्ति अनावश्यक क्रियाओं से बचताहै और अपने पूर्वानुभवों एवं आदतों के आधार पर उपयुक्त लक्ष्य का चयन करता है।

संप्रेरणा से संबंधित अन्य अवधारण

मनोविज्ञान में शुरूआती विद्वानों ने मानवीय व्यवहारों की उत्पत्ति के कारण के रूप में **मूल प्रवृत्ति (Instincts)** को मान लिया था। फ्रायड ने मानवीय व्यवहारों को नियंत्रित करने के लिए ऐसी दो वृत्तियों का वर्णन भी किया है जिसे हम जीवन प्रवृत्ति (Life Instinct) तथा मृत्यु प्रवृत्ति(Death Instinct) के रूप में जानते हैं। किंतु बाद के विद्वानों ने इस मान्यता को रद्द कर दिया और इसकी जगह **अंतर्नोद (Drives)** ने ली। इससे संबंध रखने वाले विद्वान डोलार्ड एवं मिलर (1941) ने अंतर्नोद के बारे में लिखा है कि अंतर्नोद एक शक्तिशाली उद्दीपक है जो क्रिया उत्पन्न करता है। कोई भी शक्तिशाली उद्दीपक अंतर्नोद हो सकता है। उद्दीपक जितना शक्तिशाली होगा उसमें उतना ही अंतर्नोद का गुण होगा। अंतर्नोद की अवधारणा का आधार लेकर कुछ विद्वानों ने समवस्थान(Homeostatis) के सिद्धांत का प्रतिपादन किया, जिसमें महत्वपूर्ण विद्वान कैनन (1939), डार्ली (1981) आदि थे। बाद के समय में अभिप्रेरणा की अवधारणा के उत्पत्ति के बाद भी क्लार्क हल (1943) ने अभिप्रेरणा और समवस्थान के बीच संबंध स्थापित करने की कोशिश की है। इसलिए आज के समय में अंतर्नोद सिद्धांत को पूरी तरह से खारिज नहीं किया गयापरिणामत: अभिप्रेरणा के साथ-साथ अंतर्नोद सिद्धांतों को भी मान्यता है।

1.3 अभिप्रेरणा के प्रकार

मनुष्य की अभिप्रेरणा अन्य प्राणियों से अलग है क्योंकि मनुष्य अभिप्रेरणा के नियंत्रण में अपना भविष्य़ विकास तलाशता है, इसके लिए उसको सामाजिक संबंधों पर निर्भर रहना पड़ता है। अन्य प्राणियों में ऐसा कुछ नहीं देखा जाता हालांकि दोनों में अभिप्रेरणा समान होती है बावजूद इसके मनुष्य एक सामाजिक प्राणी होने के कारण उसकी अभिप्रेरणा अन्य प्राणियों से अलग मानी जाती है। मनुष्य में शारीरिक और सामाजिक, दो तरह की अभिप्रेरणा का उल्लेख मिलता है बावजूद इसके मनोवैज्ञानिक अभिप्रेरणा की बात भी आती है, किंतु वह समाज और व्यक्ति की शारीरिक अभिप्रेरणा से ही उत्पन्न होती है। इसलिए मानवीय अभिप्रेरणा पर बात करते हुए विद्वान दो तरह की अभिप्रेरणाओं की बात करते हैं-

- शारीरिक (जन्मजात)
- सामाजिक (अर्जित)

शारीरिक या जन्मजात अभिप्रेरणा के अंतर्गत मूलतः निम्न अभिप्रेरणाएँ आती है

1. भूख
2. प्यास
3. नींद
4. काम (Sex)
5. सुरक्षा

उक्त सभी अभिप्रेरक मनुष्य के बुनियादी आवश्यकता से जुड़े हैं। भूख़नींद, प्यास, काम, सुरक्षा यह अभिप्रेरक मानव उत्पत्ति के साथ जुड़े हुए हैं। तब से लेकर आज तक मनुष्य की मूलभूत आवश्यकता के रूप में इन्हें देखा जाता है। अभिप्रेरणा के अंतर्गत लक्ष्य प्राप्ति एवं सक्रियता के लिए यही प्रेरक तत्व काम करते हैं। मानवीय इतिहास में हम देखते हैं कि मनुष्य ने अपनीभूख मिटाने के लिए शिकार की शुरुआत की बाद में कृषि, पशुपालन और आज के समय में विभिन्न तरह के रोज़गार, यह सब कुछ मनुष्य अपनी मूल आवश्यकता की संतुष्टि के लिए ही करता है। उदाहरण के लिए हम देखते है कि किसी कार्यालय में कर्मी खाने की छुट्टी में काम करने की इच्छा नहीं रखता, क्योंकि खाने का समय हो जाने पर उसके अमाशय में सिकुडन पैदा होती है और पेट में दर्द शुरू हो जाता है। इसे हम बोलचाल के भाषा में 'पेट में चूहे दौड़ना कहते हैं' अमाशय में सिकुडन शरीर के इस हरकत को मस्तिष्क तक पहुँचाता है। यही कारण है कि खाने के छुट्टीसे पहले के समय में भूख प्रेरक के कारण कर्मी तेजी से कार्य करता है। भूख प्रेरक के दो आयाम है- पहला, व्यक्ति भूख लगने के बाद व्यक्ति दुगनी तेजी से कार्य करता है और दूसरा़ज्यादा भूख लगने के बाद व्यक्ति की क्रियाशीलता ख़त्म हो जाती है और उसके सामने केवल एक ही लक्ष्य होता है, खाना प्राप्त करना। जैसे कि हम उदाहरण में देख रहे थे कि भूख के कारण कर्मी छुट्टी से पहले तीव्रता से काम को ख़त्म कर देता हैकिंतु अगर

किसी दिन उच्चाधिकारी उसे खाने की छुट्टी के समय में कुछ काम दे तो वो काम अति शीघ्रता से ख़त्म करना चाहेगा और कर भी देगा, किंतु अगर समय ज़्यादा हो जाए तो उसका ध्यान काम से भटक जाएगा और उसके काम में गलतियों की संभावना बढ़ जाती है।

इसके बावजूद नींद, काम, प्यास, सुरक्षा जैसे प्रेरक भी कार्य करते हैं ठीक समय पर इनकी संतुष्टि न होने पर मनुष्य असमायोजित हो जाता है, जिससे व्यक्ति अनेक प्रकार की विकृतियों की चपेट में आने लगता है। हाल-फ़िलहाल की गतिशील जीवनशैली के कारण नींद, काम से संबंधित काफ़ी परेशानियों को लोगों में देखा गया है। सुरक्षा प्रेरक तत्व मानवीय जीवन से शुरुआत से जुड़ा है और वह आज भी उसको लक्ष्योन्मुख बनाने एवं सक्रियता बढाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।

1.3.1 मनोवैज्ञानिक तथा व्यक्तिगत अभिप्रेरणा

ऐसे अभिप्रेरक जिनका आधार जैविक नहीं होता है या जो प्रेरक प्राणीजन्य (Organismic) होते हैं, उन्हें मनोवैज्ञानिक अभिप्रेरक कहा जाता है। इस वर्ग में आने वाले अभिप्रेक में से कुछ निम्नलिखित है-

1. जिज्ञासा,
2. सक्षमता/दक्षता तथा
3. आत्मनिर्भरता आदि

व्यक्ति के व्यवहार पर उद्दीपक परिवर्तन एवं नवीनता का स्पष्ट प्रभाव देखा गया है। यही कारण है कि व्यक्ति जिज्ञासु होता है और पूरी जानकारी प्राप्त होने तक तथा लक्ष्य प्राप्त होने तकउसकी जिज्ञासा बनी रहती है। सांवेदिक एवं पेशीय क्रियाओं को प्रभावपूर्ण ढंग से उपयोग करना ही सक्षमता प्रेरक कहा जाता है। आत्मनिर्भरता या स्वावलंबन प्रेरक से तात्पर्य किसी कार्य को स्वयं ही संपन्न करने की इच्छा से है। वैसे तो स्वावलंबन की इच्छा हर उम्र के व्यक्तियों में पाई जाती है, किंतु बच्चों में इस प्रेरक को ज़्यादा देखा जाता है।

ज्ञान शांति मैत्री

इन अभिप्रेरणाओं के अतिरिक्त प्रत्येक व्यक्ति के कुछ व्यक्तिगत प्रेरक होते हैं।**पी.डी. मिश्र** (1985) के अनुसार कहे तो व्यक्ति के कुछ व्यक्तिगत प्रेरक होते हैं जिन्हें व्यक्ति अपनेविकास की मध्य अवस्था में ग्रहण कर लेता है। ये प्रेरक व्यक्ति विशेष पर निर्भर करते हैं। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति की आदत, आकांक्षा का स्तर, मनोवृत्ति भिन्न-भिन्न होती है। उन्होंने व्यक्तिगत अभिप्रेरकों की एक सूची दी है जो निम्नलिखित है- व्यक्तिगत अभिप्रेरणा के वर्ग में निम्न अभिप्रेरणाओं को रखा गया है

1. आदत
2. जीवन लक्ष्य
3. आकांक्षा का स्तर
4. अभिरुचि
5. मनोवृत्ति
6. संवेग तथा

7. अचेतन अभिप्रेरणाएँ

प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में विभिन्न क्रिया-व्यवहार करता है, किंतु व्यवहार को दोहराता है या दोहराने की आवश्यकता पड़ती है। उसे हम आदतन व्यवहार या आदत कहते हैं। उदाहरण के तौर पर लिखते समय पेन पकड़ने की आदत, खाने-पीने, सोने की आदत आदि हो सकती है। इसी तरह प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में एक जीवन लक्ष्य निर्धारित होता है और वह व्यक्ति उसी दिशा में क्रियाशील रहता है और यह जीवन लक्ष्य दूसरेसे भिन्न होता है। वैसे ही प्रत्येक व्यक्ति की आकांक्षा का स्तर अलग-अलग होता है। कोई करोड़ों कमा कर खुश नहीं रहता वही दूसरा व्यक्ति बिना पैसे के भी संतुष्टि प्राप्त करता है। इसलिए प्रत्येक व्यक्ति की आकांक्षा का स्तर भिन्न-भिन्न होता है। मनोवृत्ति व्यक्तिकी आंतरिक दशा है जो व्यक्ति को कोई कार्य करने अथवा छोड़ने के लिए प्रेरित करती है। इससे व्यक्ति की पसंद-नापसंद का निर्धारण होता है। इस प्रकार मनोवृत्ति एक मानसिक तत्परता है जो अनुभवों द्वारा संगठित होती है।प्रत्येक व्यक्ति की भिन्न-भिन्न अभिरुचियाँ होती हैं। मनोवैज्ञानिकों का मानना हैं कि रूचि और व्यवहार में घनिष्ठ संबंध है। इसलिए व्यक्ति वही व्यवहार करता है, जिसमें उसकी रूचि हो अन्यथा अरुचिपूर्ण कार्य करने से उसे थकान तथा बेचैनी का अनुभव होने लगता है। इसी तरह संवेग को भी एक अभिप्रेरक के रूप में देखा जाता है। संवेग ही है जो मनुष्य को क्रियाशील बनाए रखता है। व्यक्ति को सामान्य बने रहने के लिए संवेग प्रेरक कार्यरत होते हैं।

इन सभी के अलावे अचेतन प्रेरणा भी होती है जो व्यक्ति को निर्देशित करती रहती है। मनुष्य के जीवन में कुछ ऐसी इच्छाएँ या आवश्यकताएँ होती हैं जिनकी संतुष्टि नहीं हो पाती है। ऐसे में वह सब व्यक्ति के अवचेतन में दब जाती है। मनोविश्लेषणात्मक सिद्धांत के अनुसार वह सब समयानुरूप अभिप्रेरक का रूप धारण कर मनुष्य को प्रेरित करती है जिससे मनुष्य अपना लक्ष्य निर्धारण कर सकता है तथा लक्ष्य तक पहुँचकर संतुष्टिप्राप्त कर सकता है। अचेतन मन में इन प्रेरकों का भार अधिक बढ़ने से विकृति उत्पन्न होने की संभावना होती है।

शारीरिक एवं सामाजिक अभिप्रेरकों में अंतर

जन्मजात या शारीरिक एवं अर्जित या सामाजिक अभिप्रेरकों में काफ़ी समानता पाई जाती है इसके बावजूद इसमें प्रमुख अंतर निम्नवत हैं-

1. जन्मजात प्रेरक शारीरिक आवश्यकता है, जबकि अर्जित प्रेरक सीखी हुई आवश्यकताएँ हैं।
2. जन्मजात प्रेरक जन्म के समय से ही पाए जाते हैं। अर्जित प्रेरकों का विकास बाद में होता है।
3. जन्मजात प्रेरकों की आवश्यकता पूर्तिअति-आवश्यक है अन्यथा अनर्थ की संभावना होती है किंतु अर्जित प्रेरकों के साथ ऐसी संभावना नहीं होती।
4. जन्मजात प्रेरक समाज द्वारा कम ही प्रभावित होते है, परंतु अर्जित प्रेरक समाज द्वारा ही प्रभावित होते हैं।
5. आदिम, असभ्य समाज में जन्मजात प्रेरक अधिक महत्वपूर्ण होते हैं जबकि सभ्य समाज में अर्जित प्रेरक अधिक महत्वपूर्ण होतेहैं।
6. सामाजिक समायोजन में अर्जित प्रेरकों की भूमिका जन्मजात प्रेरकों की अपेक्षा अधिक होती है।

स्रोत : आर. एन. सिंह(2010): प.234

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है यही कारण है कि अन्य जीवधारियों की तुलना में मनुष्यों में प्रेरक तत्व काफ़ी अधिक होते हैं। शारीरिक अभिप्रेरणाओं के बावजूद अर्जित या समाजीकृत अभिप्रेरणाओं के नियंत्रण में मानवीय व्यवहार पूर्ण होते हैं। मनोविज्ञान में व्यक्तिगत अभिप्रेरणा जैसी अवधारणा नहीं दिखती लेकिन मनोवैज्ञानिक अभिप्रेरणा की अवधारणा पाई जाती है, जो व्यक्तिगत अभिप्रेरणा से मिली जुली है। मनुष्य अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए समाज पर निर्भर होता है और उसमें वह अपने व्यवहारों को पूर्ण करने के लिए संसाधन जुटाता है। ऐसे में वह समाज में सीखने की प्रक्रिया के अंतर्गत अपने लिए एक ख़ास पद-प्रस्थिति का निर्माण करता है। सामुदायिकता, संग्रहशीलता आदि के अभिप्रेरकों के माध्यम से वह अपने लिए एक खुशहाल जीवन का निर्माण करता है। जन्म से लेकर मृत्यु तक विभिन्न आयु वर्ग में व्यक्ति विभिन्न अभिप्रेरणाओं के माध्यम से सक्रिय होकर अपने लक्ष्यों को प्राप्त करता है तथा अपनी आवश्यकताओं को संतुष्टकरता है। अर्जित या सामाजिक अभिप्रेरणा को **पी.डी. मिश्र** (1985) निम्नलिखित रूप में वर्गीकृत करते हैं-

समाजीकृत अभिप्रेरणा के वर्ग में निम्न अभिप्रेरणाओं को रखा गया है

1. सामुदायिकता
2. आत्म-प्रकाशन
3. संग्रहनशीलता
4. अतिक्रमणता
5. सामाजिक स्वीकृति

इनके बावजूद मनोविज्ञान में निम्नलिखित सामाजिक अभिप्रेरणा पर बात होती है-

1. संबंधन्
2. प्रतिष्ठा,
3. शक्ति,
4. परोपकारिता,
5. आक्रामकता, तथा
6. उपलब्धि आदि

1.4 अभिप्रेरणा के सिद्धांत

मनोविज्ञान में अभिप्रेरणा के विभिन्न सिद्धांत है, किंतु अभिप्रेरणा को सटीक समझने के लिए मैस्लो का आवश्यकता अनुक्रम सिद्धांत महत्वपूर्ण है इसलिए हम यहाँ मैस्लो के आवश्यकता अनुक्रम सिद्धांत के अंतर्गत अभिप्रेरणा तथा प्रेरकों की भूमिका समझेंगे।

अभिप्रेरकों का विकास कैसे होता है, व्यक्ति का व्यवहार उससे किस तरह प्रभावित होता है? इन प्रश्नों के उत्तर समझने के लिए हमें अभिप्रेरणा के सिद्धांतों को समझना होगा। जैसे कि हमने पहले ही इस पर बात की है कि मानवीय व्यवहार मानव की आवश्यकता पर निर्धारित होते हैं। जीवन में किसी भी लक्ष्य के

निर्धारण और प्राप्ति में आवश्यकता संबंधी प्रेरक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इस संदर्भमें अब्राहम मैस्लो (1943) का आवश्यकता अनुक्रम का सिद्धांत महत्वपूर्ण है। इस सिद्धांत के अनुसार व्यक्ति का व्यवहार विभिन्न प्रकार के प्रेरकों या आवश्यकताओं से निर्देशित होता है। चित्र01 में हम देख सकते है कि मानवीय आवश्यकताओं का क्रम नीचे से ऊपर की ओर जाता है। पहली दो आवश्यकताएँ- दैहिक आवश्यकताएँ (Physiological Needs), सुरक्षात्मक आवश्यकताएँ (Safety Needs) बुनियादी आवश्यकताएँ हैं। इसलिए इसे निम्न क्रम आवश्यकता के रूप में मैस्लो परिभाषित करते हैं और बाकी की तीन आवश्यकताएँ; संबंधो की आवश्यकताएँ (Belongingness Need), सम्मान आवश्यकताएँ (Esteem Needs), स्व-वास्तविकरण आवश्यकताएँ (Self-Actualization Needs) सामाजिकता से जुड़ी हुई है इसलिए उन्हें उच्च क्रम आवश्यकता के रूप में परिभाषित किया जाता है व्यक्ति हो या अन्य कोई भी प्राणी उसकी उक्त में से निम्न (Lower) दो आवश्यकताएँ बुनियादी होती है और बाकी की तीन आवश्यकताओं के कारणही मनुष्य को मनुष्यत्व, व्यक्तित्व प्राप्त होता है।

दैहिक आवश्यकताएँ (Physiological Needs):- इन्हें भौतिक आवश्यकताओं के रूप में भी देखा जाता है, ये आवश्यकताएँ मानव जीवन के अस्तित्व के लिए महत्वपूर्ण हैं। जैसे- भूख, प्यास, सेक्स, नींद, हवा आदि।

सुरक्षात्मक आवश्यकताएँ (Safety Needs):- दैहिक आवश्यकताओं के पूर्ति के बाद ही मनुष्य अपनी और अपने परिवार के सुरक्षा के बारे में सोचेगा जैसे कि मनुष्य भरपेट खाने के बाद सोने के लिए सुरक्षित जगह चाहता है।

संबंधों की आवश्यकताएँ (Belongingness Need) :- संबंधों कीआवश्यकता से तात्पर्य है दूसरों के साथ संबंध स्थापना याउनसे स्नेह, प्रेम प्राप्त करना।

सम्मान आवश्यकताएँ (Esteem Needs) :-प्रत्येक व्यक्ति जीवन में मान-सम्मान, प्रतिष्ठा प्राप्त करना चाहता है। इस क्रम में व्यक्ति के समाज में आवश्यक संबंध बन जातेहैं तो वह अपने आप को सम्मानित किए जाने, प्रशांसित किए जाने, पहचाने जाने तथा लोगों द्वारा स्वीकारे जाने की आवश्यकता को महसूस करेगा और उसी की पूर्ति के लिए वह कार्यरत होगा।

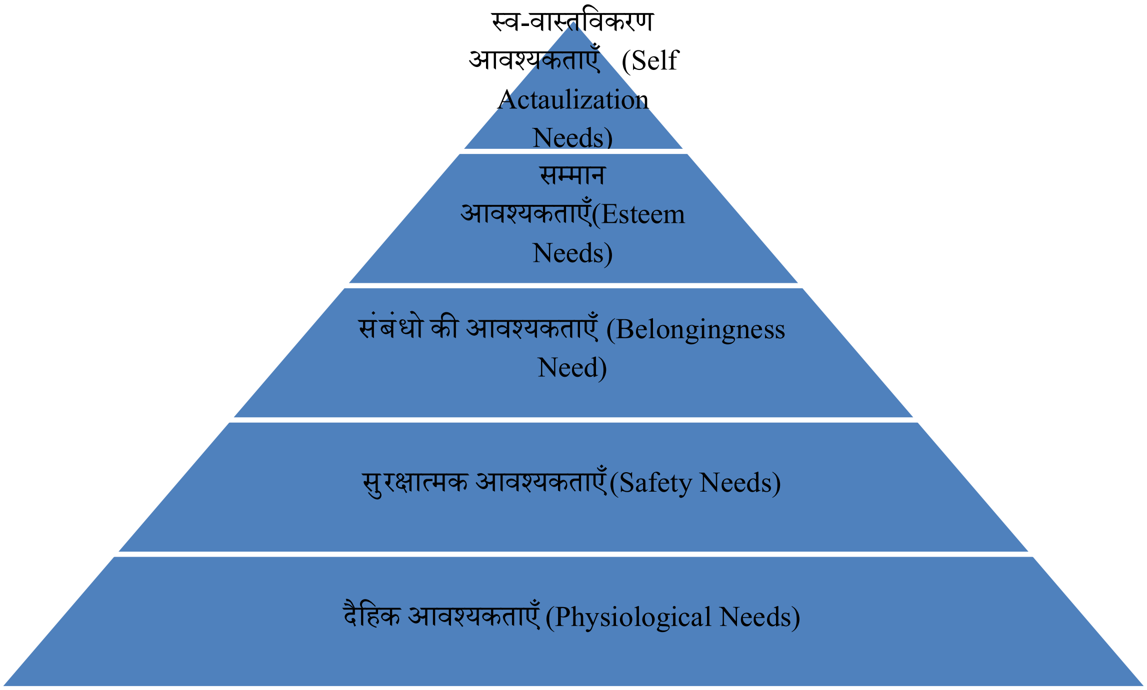

चित्र : 01

स्व-वास्तविकरण आवश्यकताएँ (Self-Actualization Needs):- इस क्रम में व्यक्ति अपने आपको पहचान लेता है, अपने दायित्वों एवं योग्यताओं के प्रति समझ विकसित हो जाती है।

मैक्ग्रेगर (1957) के अनुसार मैस्लो के सिद्धांत के मुख्य अभिग्रह निम्नलिखित हैं

1. आवश्यकताओं के विकास में एक निश्चित क्रम पाया जाता है। जब निचली आवश्यकताएँ पूर्ण होती हैं तभी तब तक उच्च आवश्यकताएँ सक्रिय प्रेरक का कार्य करती हैं।
2. वयस्क प्रेरक जटिल होते हैं अर्थात् उनमें व्यवहार के निर्धारण में कोई एक अकेला प्रेरक कार्य नहीं करता है, बल्कि एक समय में एक से अधिक प्रेरक सक्रिय होते हैं।
3. जिस आवश्यकता की पूर्ति हो जाती है फिर वह प्रेरक नहीं रहती। असंतुष्ट आवश्कताएँ ही प्रेरक का काम करती हैं। किसी निम्न आवश्यकता की पूर्ति हो जाने पर ही उच्च आवश्यकता का विकास हो जाता है।
4. निम्न आवश्यकता पूर्ति का निश्चित साधन होता है जैसे- भूख की पूर्ति भोजन से होगी, परंतु उच्च आवश्यकताओं की पूर्ति के साधन अनेकानेक रूपों में हो सकती है। उदाहरण के लिए समाज में सम्मान पाने के बहुत सारे साधन है इसके लिए कोई व्यक्ति नेता बन सकता है, कोई लेखक तो कोई शिक्षक, डॉक्टर बनकर उसे प्राप्त करने की कोशिश करता है। इसके अतिरिक्त अन्य साधनों का सहारा लेकर भी इसे प्राप्त किया जा सकता है।

5. व्यक्ति विकास या वृद्धि चाहता है। कोई भी व्यक्ति केवल शारीरिक आवश्यकताओं तक सीमित नहीं रहना चाहता है। एक ख़ास समय के बाद व्यक्ति उच्च आवश्यकताओं की प्राप्ति करना चाहता है।

1.5 अभिप्रेरणाओं का प्रभाव

अभिप्रेरणा व्यक्ति में स्वत: कार्य करती है तथा उसका संचालन स्वत: होता है। किंतु उसका अल्प विकसित होना या अति विकसित होना एक समस्या हो सकती है, क्योंकि भले ही सभी व्यक्तियों में सभी प्रकार की एकसमान अभिप्रेरणाएँ पाई जाती है। इसके बावजूद उसके विकास के लिए बाह्य पर्यावरण तथा उस व्यक्ति के अपने निजी अनुभव पर निर्भर होता है कि किसे कौनसी प्रेरणा कितनी शक्ति प्रदान करेगी। अर्थात सभी के लिए एक प्रेरणा का मूल्य एक समान नहीं होता है। इसलिए अभिप्रेरणा व्यक्तिजन्य होती है। अत: व्यक्ति विशेष के व्यवहार को समझने के लिए उसकी अभिप्रेरणा तथा उससे संबंधित परिस्थिति का ज्ञान होना आवश्यक है। जब कोई अभिप्रेरणा विशेष रूप से उत्तेजित होती है तो उसका कारण कोई विशेष परिस्थिति होती है। ऐसे में व्यक्ति का संपूर्ण ध्यान उसकी ओर लग जाता है तथा उसके प्रति संवेदनशीलता बढ़ जाती है। किसी अभिप्रेरणा का अतिसंवेदनशील होना ही अतिविकास माना जाएगा। ऐसी अवस्था में दूसरी अभिप्रेरणाओं का विकास अवरुद्ध हो जाता है। ऐसे में अभिप्रेरणाओं का अतिविकास या अल्पविकास दोनों ही मानवीय व्यवहार में गड़बड़ी पैदा करेगा जिससे असमायोजन की स्थिति पैदा होगी। इसलिए मनुष्य को अपनी अभिप्रेरणाओं में संतुलन बनाना पड़ता ,है जिससे समायोजित व्यवहार हो सके।

सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य में देखे तो समाज के नीति-नियम, परंपराएँ, मानक तथा कानून मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं के पूर्ति के रास्ते में अवरोध बनते हैं। हालांकि यह सब कुछ मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ही है। बावजूद इसके मानवीय इतिहास में हमने देखा है कि मनुष्य सभ्यता की सीढ़ियां चढ़ते-चढ़ते अपने आदिम अभिप्रेरणाओं तथा जन्मजात प्रेरकों को भी साथ लाता है। दूसरी ओर सिखी हुई योग्यता में अगर कोई व्यक्ति नहीं ढल पाता तब वही सारे नीति-नियम, कानून उसके लिए अवरोध के रूप में प्रतीत होने लगती है। इन दोनों स्थितियों में प्रेरक तो काम कर रहें है किंतु उसका प्रभाव व्यक्ति के व्यवहार में देखा जा सकता है। सिखी गई योग्यता के आधार पर व्यक्ति अभिप्रेरणाओं के माध्यम से उचित लक्ष्य प्राप्ति करता है। वहीं दूसरी ओर असमायोजित व्यक्ति की अभिप्रेरणाएं व्यक्ति को अपनी आवश्यकता संतुष्टि के लिए गलत रास्ते पर ले जा सकती है। ऐसे में समाज कार्य को इसका भार लेना चाहिए कि वह उसको सही रास्ता दिखाए और उसको समाज में समायोजित करें।

1.6 समाज कार्य में अभिप्रेरणा की प्रासंगिकता

समाज कार्य में व्यक्ति को समझने के लिए या उनकी समस्या को समझने के लिए उसके प्रेरक तत्व या अभिप्रेरणा को समझना उचित होता है। उदाहरण के तौर पर सामाजिक कार्यकर्ता के पास कोई व्यक्ति

अपनी समस्या के निवारण के लिए आ जाता है तो हो सकता है कि उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति वह नहीं कर पा रहा हो, या यह भी हो सकता है कि उसकी आवश्यकताएँ बहुत सारी है, किंतु उसमें से किसे पहले प्राप्त करे? प्राथमिक आवश्यकता क्या हो सकती है? इन सवालों के प्रति वह अनजान हो, ऐसे में वैयक्तिक सामाजिक कार्यकर्ता उसकी आवश्यकता पूर्ति के लिए या उसकी संतुष्टि के लिए मदद कर सकता है। इसके लिए सामाजिक कार्यकर्ता को उस सेवार्थी की समस्या से संबंधित प्रेरक तत्वों की पहचान करनी पड़ेगी या उस सेवार्थी में अभिप्रेरणा के प्रकार्य को चलायमान या गतिमान करना होगा।

पी.डी. मिश्र (1985) लिखते हैं कि मनुष्य का व्यवहार उद्देश्यपूर्ण होता है। वह जो भी क्रियाएँ करता है जो भी कार्य करता है तथा जो भी प्रतिक्रिया करता है उसका कुछ अर्थ होता है। यह अर्थ न केवल कार्य के लिए उत्साहित करता है, बल्कि उसका पथ प्रदर्शन भी करता है। अभिप्रेरक व्यक्ति के व्यवहार के लिए कच्चे माल की तरह उपयोगी होते हैं इससे सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक कार्य संभव हो पाते हैं। प्रेरकों की उचित संतुष्टि होने पर ही सामाजिक अनुकूलन प्राप्त होता है जिससे व्यक्ति को समाज में समायोजन करने में कठिनाई नहीं होती है। यदि प्रेरकों की उचित संतुष्टि नहीं हो पाती तब व्यक्ति असमान्य व्यवहार करने लगता है।

1.7 सारांश

अभिप्रेरणा, अभिप्रेरक तथा प्रेरक यह एक मनोसमाजिक बल है, जो व्यक्ति के व्यवहार को आगे बढ़ाने, लक्ष्य निर्धारण, निर्देशन तथा भावनाओं के उचित क्रियान्वयन में मदद करता है मानवीय क्रिया के संचालन में इसकी भूमिका महत्वपूर्ण है। समाज कार्य के अंतर्गत व्यक्ति को सीधे सेवा प्रदान करने के लिए वैयक्तिक सेवा कार्य प्रणाली का उपयोग किया जाता है। ऐसे में मानवीय व्यवहार के प्रति बेहतर समझ सेवार्थी को समझने में मदद करेगी। इसी अनुक्रम में हमने मानवीय व्यवहार को सक्रियता प्रदान करने वाली मनो-सामाजिक प्रक्रिया अभिप्रेरणा का अध्ययन यहाँ किया है। समाज कार्य में अभिप्रेरणा को समझना इसलिए भी जरुरी है, क्योंकि सामाजिक कार्यकर्ता सेवार्थी का परामर्शन तथा उपचार करते समय अभिप्रेरणा प्रक्रिया के अनुसार प्रेरकों की प्रकार्यात्मकता जाँचकर सेवार्थी को उचित सलाह-मशविरा कर सकता है। इसके साथ ही पारिवारिक मामले तथा विवाह समायोजन आदि मामले में अभिप्रेरणा बल को उपयोग में लाकर सेवार्थी में उचित बदलाव लाने में उसकी मदद कर सकता है।

1.8 बोध प्रश्न:

1. अभिप्रेरणा की अवधारणा को स्पष्ट करें।
2. अभिप्रेरणा तथा मानवीय व्यवहार के बीच संबध दर्शाएं।
3. अभिप्रेरणा के प्रकार्य को समझाएं।
4. अभिप्रेरणा के प्रकारों को सोदाहरण स्पष्ट करें।
5. अभिप्रेरणा के सिद्धांत पर चर्चा करें।
6. समाज कार्य में अभिप्रेरणा की प्रासंगिकता को समझाएं।

1.9 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

मिश्र, पी. डी. (1985). *सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य* (8th ed.). लखनऊ: उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान

सिंह, आर. एन. (2010). *आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान.* आगरा: अग्रवाल पब्लिकेशन्स.

Hillgard, E. R. et.al. (1975). *Introduction to psychology.*New York: Harcourt Brace.

Atkinson, J. W. (1964). *An Introduction to Motivation.* New York: Von Nostrand.

अभिप्रेरणा. (2015, Feb. 23). Retrieved June 9, 2016, from hi.wikipedia.org: https://hi.wikipedia.org/wiki/%E0%A4%85%E0%A4%AD%E0%A4%BF%E0%A4%AA%E0%A5%8D%E0%A4%B0%E0%A5%87%E0%A4%B0%E0%A4%A3%E0%A4%BE

इकाई-2 समाजीकरण

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 समाजीकरण

2.3 समाजीकरण की विशेषताएँ

2.4 समाजीकरण के सिद्धांत

  2.4.1 सिगमंड फ्रायड

  2.4.2 सी. एच. कुले

  2.4.3 मार्गरेट मीड

2.5 समाजीकरण के प्रकार्य

2.6 भारत में समाजीकरण प्रक्रिया

2.7 समाजीकरण के तरीके

2.8 समाजीकरण की संस्थाएँ

2.9 सारांश

2.10 बोध प्रश्न

2.11 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

ज्ञान शांति मैत्री

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात आप -

1. समाजीकरण की अवधारणा से अवगत हो सकेंगे।
2. समाजीकरण के विभिन्न सिद्धांतों पर चर्चा कर सकेंगे।
3. समाजीकरण का विश्लेषण कर उसकी विशेषताओं को समझेंगे।
4. समाजीकरण के विभिन्न तरीके और उसमें सहयोग देने वाले कारकों को रेखांकित कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

इस खंड की इकाई 01 में हमने देखा कि मानवीय आवश्यकताएँ दो प्रकार की होती हैं– जन्मजात और अर्जित। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति समाज में विभिन्न तरीके सीखता है। यह तरीके धीरे धीरे व्यक्ति के व्यवहार का अंग बन जाते हैं। जन्म के बाद शिशु बाह्य वातावरण के अपना समायोजन बनाता है। वह भाषा नहीं जानता इसके बावजूद माँ शिशु के रोने से उसके भूख की आवश्यकता मान लेती

है। धीरे-धीरे वह शिशु अपने भूख को मिटाने के लिए रोता है। आगे चलकर भाषा सीखने के बाद भी वह शिशु माता-पिता से कुछ चीजें मांगने के लिए रोने की क्रिया को दोहराता है जिससे उसकी आवश्यकता पूर्ति होती है। इसी तरह व्यक्ति समाज में रहते हुए विभिन्न सामाजिक संस्थाओं के माध्यम से अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि करता है।

कप्पुस्वामी (1972) कहते हैं, व्यक्ति संस्कृति के लिए कोई खाली पात्र नहीं है। सामाजिक प्रक्रिया के प्रति बालक की जो भी प्रतिक्रिया होती है, वह भूतकालीन परिस्थितियों तथा वर्तमान परिस्थितियों पर भी निर्भर है। वह महान सत्य पुरातन काल के भारतीय विचारकों ने प्रतिष्ठित किया था, जो संस्कारों की धारणा के रुप में विकसित हुआ। परंपरात्मक विचार के अनुसार संस्कारों के दो पक्ष हैं। इस जीवन के पिछले अनुभव तथा विगत विभिन्न जन्मों के क्रमिक अनुभव। पिछले जन्मों की धारणा की सत्यता के बारे में विचार-विमर्श करना विषय से बाहर की बात होगी। फिर भी यह बात विशेष रुप से कही जा सकती है कि प्राचीन भारतीय विचारक इस जीवन के पिछले अनुभवों की महत्वपूर्णभूमिका के बारे में जागरुक थे, क्योंकि ये पिछले अनुभव समाजीकरण की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं। फलतः समाजीकरण की प्रक्रिया निष्क्रिय रुप से नहीं चलती। व्यक्ति और समाजीकरण की प्रक्रिया में क्रिया और प्रतिक्रिया होती है। विगत-कालीन समाजीकरण और वर्तमान परिस्थितियों के पक्ष के बीच भी क्रिया और प्रतिक्रिया होती है। यह इन तीन तत्वों अर्थात व्यक्ति, पिछले अनुभवों तथा वर्तमान अनुभवों की परस्पर क्रिया का परिणाम है कि समाजीकरण की प्रक्रिया महत्वपुर्ण बन जाती है। अतः यह स्मरणीय है कि समाजीकरण एक संरुपित क्रिया भी है तथा एक सतत प्रक्रिया भी। यह एक सी प्रकिया है, जो जन्म से मृत्यु तक चलती रहती है। कोई क्षण ऐसा नहीं है जब कोई व्यक्ति कह सके कि उसने पूर्णता प्राप्त कर ली है। व्यक्ति को प्रगति करने के लिए सदैव खाली क्षेत्र मिलता रहता है, जिसमें वह पूर्णता की उस स्थिति तक पहुँच सकता है, जो किसी समाज द्वारा परिकल्पित की जाती है।

ज्ञान शांति मैत्री

2.2 समाजीकरण

समाजीकरण को समाजशास्त्र और सामाजिक मनोविज्ञान से जुड़े विद्वानों ने परिभाषित करने की कोशिश की है। इसमें से कुछ विद्वानों के विचार जो प्रासंगिक है, जिन्हें निम्नलिखित परिभाषाओं के माध्यमसे देखेंगे-

ए. डब्ल्यू. ग्रीन (1952) अपनी किताब *सोशियोलोजी* में समाजीकरण की प्रक्रिया को परिभाषित करते हुए लिखते हैं कि *"समाजीकरण वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा एक व्यक्ति का विकास सामाजिक प्राणी की तरह होता है।"*

एच. एम. जानसन (1961) *सोशियोलोजी: ए सिस्टेमॅटिक इंट्रोडक्शन* में कहते हैं *"समाजीकरण एक प्रकार का सीखना है, जो सीखने वालों को सामाजिक भूमिका वहन योग्य बनाती है।"*

किंबाल यंग (1957) *हैंडबुक ऑफ़ सोशल सायकोलोजी* के अनुसार *"समाजीकरण का अर्थ उस प्रक्रिया से है, जिससे व्यक्ति सामाजिक-सांस्कृतिक संसार में प्रवेश करता है, जिससे वह समाज का और उसके*

विभिन्न समूहों का सदस्य बनता है और जो समाज की मान्यताओं को स्वीकार करने की कोशिश करता है।"

जे. एल. गिलिन एवं जे. पी. गिलिन (1950) अपनी किताब *कल्चरल सोशियोलोजी* में लिखते हैं कि समाजीकरण से तात्पर्य उस प्रक्रिया से है *जिसके द्वारा व्यक्ति समूह का क्रियात्मक सदस्य बनता है, उसी स्तर के अनुसार कार्य करता है। लोकाचार, परंपरा तथा सामाजिक परिस्थितियों के साथ अपना संबंध स्थापित करता है।"*

पी. डी. मिश्र (1985) अपनी किताब *सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य* में समाजीकरण को परिभाषित करते हुए लिखते हैं *कि जिस तरीके से व्यक्ति समाज के अनुकूल बनता है, उसकी विशेषता ग्रहण करता है तथा सामाजिक ढंग अपनाता है, उसे समाजीकरण कहते हैं।*

इस तरह उपर्युक्त परिभाषाओं से कुछ मुख्य तत्व निकलकर आते हैं जिन्हें हम निम्नलिखित रूप में देख सकते हैं-

1. समाजीकरण एक निरंतर चलने वाली प्रक्रिया है।
2. समाजीकरण प्रक्रिया व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास करती है।
3. समाजीकरण एक अनिवार्य प्रक्रिया है।
4. समाजीकरण सामाजिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया है।
5. समाजीकरण द्वारा व्यक्ति सामाजिक प्राणी बनता है, जिसमें वह विभिन्न समूहों की योग्यता ग्रहण करता है तथा समाज की मान्यताओं को ग्रहण करना सीखता समाजमनोवैज्ञानिक कप्पुस्वामी (1972) समाजीकरण को एक संरूपित तथा सक्रिय प्रक्रिया मानते हैं। इसलिए वे लिखते हैं कि समाजीकरण न तो सरल प्रक्रिया है और न ही इकहरी, जो एकाकी ढंग से क्रियान्वित होती हो। समाजिकरण में प्रक्रियाओं की विविधता होती है क्योंकी इसमें सामाजिक प्रतिमानों की प्रचुरता होती है। इसमें विविध सामाजिक भूमिकाएँ भी निहित हैं, जिन्हें समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति को अपनाना पड़ता है।

समाजीकरण एकरूपता की ओर अग्रसर नहीं करता और न ही वह अद्वितीयता को खोता है

समाजीकरण की प्रक्रिया किसी समूह के सदस्यों के व्यवहार में श्मशान वाली एकरुपता नहीं लाती। व्यक्ति की अद्वितीयता व्यक्ति, पिछले अनुभवों तथा वर्तमान अनुभवों की परस्पर क्रिया का परिणाम है। यहाँ तक कि घर के अंदर भी एक ही माता-पिता से उत्पन्न बच्चे एक जैसी परिस्थितियों में भिन्न प्रकार की प्रतिक्रिया करते है। इसका कारण शारीरिक कारक होते हैं, जो प्रत्येक व्यक्ति में विलक्षण होते है, जिनको साथ लिए व्यक्ति वर्तमान अनुभवों की ओर अभिमुख होता है। बालअपराध संबधी मामलों के अध्ययन से इस तथ्य की महता का पता चला है। एक घर में या एक जैसे पडोस में दो व्यक्ति परिस्थिति विशेष के प्रभावस्वरुप एक जैसी प्रतिक्रिया नहीं करते हैं। यही कारण है कि दो भाइयों में एक बाल अपराधी हो सकता है और दूसरा समूह का सम्मानित सदस्य बन सकता है।

समाजीकरन में निहित संघर्षतथा उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि समाजीकरण किसी व्यक्ति की तरफ से एकाकी प्रक्रिया नहीं है। शिशु बालक बालिका और युवक युवती भी समाजीकरण प्रक्रियाओं के प्रति भिन्न तरीकों से प्रतिक्रिया करते है। समाजीकरण की प्रक्रिया का व्यक्ति विरोध भी करता है। बालक के भोजन के समय को नियमित करने के प्रयास और उसकी शौच, पेशाब संबंधी क्रियाएँ बच्चे और माता में संघर्ष उत्पन्न करा देगी। बालक का पालन-पोषण करना कोई सरल कार्य नहीं है। प्रायः माता आज्ञा न मानने वाले संतान पर नाराज हो जाती है। धैर्य से ही संतान के व्यवहार में आवश्यक सुधार किए जा सकते है ताकि उसे समूह में रहने की योग्यता हासिल हो सके।

स्रोत : बी. कप्पुस्वामी (1972): 138.

समाजीकरण में प्रक्रियाओं की विविधता होती है क्योंकि इसमें सामाजिक प्रतिमानों की प्रचुरता होती है। इसमें विविध सामाजिक भूमिकाएं भी निहित हैं जिन्हें समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए व्यक्ति को अपनाना पड़ता है।

2.3 समाजीकरण की विशेषताएँ

समाजीकरण की परिभाषाओं तथा विभिन्न विद्वानों के विचारों के आधार पर इसकी कुछ विशेषताएँ दृष्टिगत होती हैं। पी.डी. मिश्र (1985) ने अपनी किताब सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य में समाजीकरण की विशेषताओं को निम्नलिखित बिंदुओं के आधार पर विश्लेषित किया हैं

1. प्रक्रिया
2. सीखना
3. परिपक्वता
4. सामाजिक भूमिका

उपर्युक्त सभी विशेषताएँ समाजीकरण की प्रक्रिया में निहित होती है। जन्म से मृत्यु तक समाजीकरण की यह प्रक्रिया चलती है, जिसमें व्यक्ति समाजमान्य व्यवहार सीखता है और अपना विकास कर परिपक्वता की ओर अग्रसर होता है। वह समाजीकरण ही है, जिसके द्वारा व्यक्ति समाज में अपनी भूमिकाओं का निर्वहन करने योग्य बनता है।

2.4 समाजीकरण के सिद्धांत

समाजीकरण पर विभिन्न ज्ञानशाखाओं के विद्वानों ने अपने विचार दिए है जिसमें समाजशास्त्री तथा समाज-मनोवैज्ञानिक अग्रस्थान पर हैं। सी. एच. कुले, मार्गरेट मीड, इमाइल दुर्खिम तथा सिग्मंड फ्रायड आदि ने अपने सिद्धांतों में समाजीकरण पर बात रखी है, जिसमें से कुछ विद्वानों के सिद्धांतों को यहाँ समझने की कोशिश करेंगे-

2.4.1 सिग्मंड फ्रायड

सिग्मंड फ्रायड ने समाजीकरण की प्रक्रिया को मनोविश्लेषणात्मक प्रविधि के अंतर्गत समझाने का प्रयास किया है। अचेतन मन के विचारों के आधार पर सिग्मंड फ्रायड ने यह कहा है कि समाजीकरण की प्रक्रिया बाल्यकाल से ही प्रारंभ हो जाती है। जन्म के समय शिशु में तीन प्रवृत्तियाँ भूख,प्यास और यौन विद्यमान रहती है। धीरे-धीरे वह अपनी समाज-संस्कृति को ग्रहण करने लगता है। फ्रायड के अनुसार व्यक्तिके व्यक्तित्व में इद, इगो एवं सुपर इगो तीन रचनाएं होती है। यह तीनों प्रत्यय एक के बाद एकएक करके समाजीकरण की प्रक्रिया द्वारा आते हैं। शुरुआत में सुख सिद्धांत से प्रेरित इद्र विद्यमान रहता है। इसमें अच्छा बुरा जैसा कुछ नहीं होता, जिसमें सुख मिल रहा हो वही ठीक मान लेता है। बाद के समय में इगो का निर्माण होने लगता है, जिसमें इद काफी सहयोग देता है। यह वास्तविकता के सिद्धांत से प्रेरित होता है। सुपर इगो सदाचार, नैतिकता आदि से प्रभावित होता है, इसलिए इसे विवेक बुद्धि भी कहा जाता है। इन प्रत्ययों के संतुलन से मानवीय व्यवहार प्रभावित होते हैं, ऐसे में इद और इगो के बीच के संघर्ष का समाधान सुपर इगो करता है। कभी-कभी व्यक्तिगत स्वार्थ के कारण व्यक्ति सद्विवेक को पीछे छोड़ देता है और ईगोस्टिक व्यवहार करता हैं। इन सब में समाज-संस्कृति आदि के नियम, परंपरा तथा मानकों के अनुसार मनुष्य समाजीकरण की प्रक्रिया को अपनाता है। सामाजिक मानकों के दबाव में व्यक्ति समाजीकरण की प्रक्रिया में इगो से प्रभावित होकर कार्य करता है। किंतु ऐसे में अगर इगो की जगह इद या सुपर इगो से प्रभावित होकर कार्य करने लगता है, तो उसे सामाजिक नियंत्रण का मुकाबला करना पड़ता है। ऐसी अवस्था में व्यक्ति वयस्क होने पर या समाज में शक्तिशाली स्थान प्राप्ति के बाद सामाजिक मानकों का विरोध करने की क्षमता समाजीकरण के अंतर्गत प्राप्त करता है।

इसके बावजूद कभी-कभी व्यक्ति में इगो के कमजोर होने के कारण अपनी इच्छाओं की संतुष्टिके लिए समाज विरोधी कार्य करने की संभावना जताई जाती है, क्योंकि वास्तविकता को स्वीकार करने की क्षमता के ह्रास के कारण इगो कमजोर पड़ जाता है, जिसके कारण उसकी अपनी इच्छाओं की संतुष्टि वह नहीं कर पाता परिणामत: उसकी वे इच्छाएँ अचेतन में चली जाती है। इगो संबल(Stengtham) होने से यह समस्या नहीं उभरती। दूसरी ओर फ्रायड ने द्वेष तथा प्रेम की भावनाओं के आधार पर समाजीकरण की प्रक्रिया का विश्लेषण किया है, जिसे वे एम्बीबैलेंस की स्थिति कहते हैं। व्यक्ति जिससे प्यार करता है, उसी से द्वेष भी करता है। समाजीकरण में प्रतिद्वंद्विता तथा सहयोग आवश्यक घटक हैं।

2.4.2 सी. एच. कुले

कुले (1906) ने अपनी किताब *ह्यूमन नेचर एँड दि सोशल आर्डर* में समाजीकरण के विचार प्रस्तुत किए हैं। वे लिखते है कि सामाजिक प्रक्रिया पारस्परिक संबंधों पर निर्भर होती है। संपर्क प्रक्रिया द्वारा व्यक्ति एक-दूसरे के समीप जाता है तथा सामाजिक गुणों का विकास करता है। वह उन्हीं गुणों का विकास करता है, जो समाज में मान्य होते हैं। व्यक्ति तथा समाज का पृथक्करण में कोई अस्तित्व नहीं है।

आत्म विकास के लिए कुले के अनुसार तीन तत्व महत्वपूर्ण है

1. दूसरे व्यक्ति में अपनी आकृति की कल्पना।
2. उस आकृति के संबंध में दूसरों के निर्णय की कल्पना।
3. किसी प्रकार की आत्म भावना जैसे अहंकार का अनुशेचन।

कुले का मानना था कि व्यक्ति के जीवन में कल्पना का महत्वपूर्ण स्थान है। अपने प्रयोगों के बाद उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि व्यक्ति के आत्म के विकास में कल्पना का बहुत बड़ा महत्व है। व्यक्ति अपने उन्हीं गुणों का विकास करता है, जिनको दूसरे व्यक्ति भी चाहते हैं। उसके चारों ओर के लोग उसको किस रूप में ग्रहण कर रहे हैं उसी के आधार पर आत्म का विकास होता है। बालक/बालिका उसी कार्य को बार-बार करता जिस कार्य को करने से दूसरे व्यक्ति प्रसन्नता प्रकट करते है। इस प्रकार अपने में उन्हीं गुणों का विकास कर लेता है। धीरे-धीरे यह प्रक्रिया निरंतर चलती रहती है और बालक/बालिका स्वयं सामाजिक गुणों का विकास करता रहता है। दूसरी ओर कुले का यह विचार था कि समाजीकरण में **प्राथमिक समूहों** की भूमिका महत्वपूर्ण है। प्राथमिक समूहों द्वारा ही समाजीकरण की प्रक्रिया पूर्ण होती है। व्यक्ति सामाजिक गुणों एवं आदर्शों को इन्हीं समूहों द्वारा प्राप्त करता है। जैसे परिवार, विद्यालय, मित्र समूह, पड़ोस आदि ऐसे समूह है जिनका सामाजिक विकास क्रिया में महत्वपूर्ण योगदान है। व्यक्ति को अभिव्यक्ति तथा आत्म विकास इन्हीं समूहों विशेषकर परिवार द्वारा होता है।

2.4.3 मार्गरेट मीड

मीड ने समाजीकरण की व्याख्या में **आत्म चेतना** को प्रमुख स्थान दिया है। उनका कहना था कि सामाजिक गुणों अर्थात आत्म का विकास व्यक्ति की योग्यता/क्षमता पर निर्भर होता है कि वह किस प्रकार स्वयं को समझने तथा अंकित करने की योग्यता रखता है। बालक अन्य व्यक्तियों की भूमिका का निर्वहन तथा भूमिका ग्रहण के अंतर्गत वह अपने अनुभव द्वारा सामाजिक प्राणी बनता है। साथ ही मीड ने समाजीकरण की प्रक्रिया में **मेरा तथा मैं (Me and I)** की अवधारणाओं का प्रयोग किया है।'मेरा' का तात्पर्य उन कार्यों तथा मनोवृत्तियों से है जो अपने बालक/बालिका माता-पिता, सगे-संबंधियों आदि तथा काल्पनिक चरित्रों में से ग्रहण करते हैं और साथ ही इसे वह अपनी क्रिया-अनुक्रिया में सम्मिलित कर लेता है। इस प्रकार एक बालक/बालिका अनुकरण प्रक्रिया द्वारा दूसरे के विचारों तथा कार्यों को अपने में ग्रहण करना ही 'मेरा' की अभिव्यक्ति है। दूसरे के कार्यों को जस-के-तस न लेते हुए अंतःक्रिया के माध्यम से बालक/बालिका अपने में नवीन व्यवहार का विकास करते हैं। इन दोनों से मिली-जुली क्रिया व्यवहार का रूप जब ग्रहण कर लेता है तब उसे 'मैं' अभिव्यक्ति समझा जाता है। इसलिए मीड के विचार से

समाजीकृत व्यक्ति वह होता है जो अपनी आवश्यकताओं तथा सामाजिक मनोवृत्तियों एवं कार्यों के बीच संघर्ष का सटीक समाधान कर लेता है। अर्थात मैं तथा मेरा का इस प्रकार से एकीकरण कर लेता है, जिससे उसकी आवश्यकताएँ समाज की मान्यताओं तथा मनोवृत्तियों के अनुकूल होती है।

इन सिद्धांतों के बावजूद समाजशास्त्री इमाइल दुर्खिम ने सामूहिक प्रतिनिधित्व के द्वारा समाजीकरण की अवधारणा को स्पष्ट किया है।

(अधिक जानकारी के लिए पी. डी. मिश्र (1985) *सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य* पृ. 706-719 देखें.)

2.5 समाजीकरण के प्रकार्य

समाजीकरण की विशेषताएँ देखने के बाद यह तो निश्चित हो जाता है कि समाजीकरण का प्रमुख प्रकार्य व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु योग्यव्यवहार सीखने के लिए प्रेरित करना है। पी. डी. मिश्र (1985) अपनी किताब *सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य* में समाजीकरण के प्रकार्य पर चर्चा करते हैं ये निम्नलिखित है-

1. समाजीकरण व्यवहार उत्पन्न करता है।
2. समाजीकरण रीति-रिवाजों, विधियों तथा परंपराओं, धर्म, संस्कृति आदि का अध्ययन करता है।
3. समाजीकरण के कारण ही व्यक्ति संस्कृति का अभिन्न अंग बन जाता है।
4. समाजीकरण द्वारा व्यक्ति में अंतःक्रिया का विकास होता है।
5. प्रत्यक्षीकरण का विकास करने में सहयोग निभाता है।
6. समाजीकरण से सांवेगिकता का विकास होता है।
7. उचित-अनुचित का ज्ञान कराती है।
8. निर्णय क्षमता में सहायता करना।
9. वास्तविक जीवन लक्ष्य का निर्धारण करना।
10. आत्म-मूल्यांकन की क्षमता का विकास करना।
11. अनुभव से सीखने की योग्यता उत्पन्न करना।
12. समायोजन की क्षमता का विकास।

ज्ञान शांति मैत्री

गैर-समाजीकृत व्यक्तियों के उदाहरण : बंगाल के भेड़िए-बालक

1920 में जे. सिंह जो एक अनाथालय चला रहे थे, उनको पता चला कि कलकत्ता के पास ही एक जंगल में मनुष्य के रूप 'भूत' रहता हैं। वह लोगों की एक टोली के साथ जंगल गया और बहुत प्रतीक्षा के बाद एक भेड़िए को माँद से निकलते हुए देखा। उसके साथ दो भेड़िए के बच्चे और दो बालक थे। ये दोनों बच्चे पकड़ लिए गए और एक देहाती को देखभाल के लिए सौंप दिए गए। एक सप्ताह बाद जब सिंह वापिस आए, तो उन्होंने देखा कि 'मानव-भूत' के डर के कारण सारा गांव खाली हो गया है तथा असहाय बच्चे भूख और प्यास से मृत्यु के किनारे पर लेटे हैं बडी बालिका का नाम कमला रखा गया, वह लगभग आठ वर्ष की थी और छोटी बालिका का नाम अमला रखा गया, जो लगभग डेढ़ वर्ष की उम्र की थी। इन दोनों बालिकाओं मेंमानवता का विकास नहीं हुआ था। लेकिन एक अंतर यह था कि ये दोनों बच्चे भेडियों की तरह व्यवहार करते थे। वे सीधे खडे होकर पैरों के बल नहीं चल सकते थे। वे निशाचर पशुओं की तरह थे तथामध्यान्ह के समय अपनी आंखे पूरी तरह नहीं खोल पाते थे वे दिन में स्थिर बैठे रहते थे तथा रात में चल फिर सकते थे। वे भेडियों की तरह चिल्लाते थे। वे कच्चा मांस खाने को उत्सुक रहते थे और भेडियों की तरह दूध पीते थे। वे एकदूसरे की गोदी में सिर रखकर सोते थे। दिन की गर्मी से न तो उन्हें पसीना आता था औरन ही सर्दी की रातों में ठण्ड लगती थी। यह संभव है कि मादाभेड़िए ने पहले बच्चे का पालन पोषण उस समय किया, जबकि वह स्वयं अपने बच्चों को पाल रही थी। यह आश्चर्य की बात है कि वह मादा भेडिया दूसरे मानव शिशु का भी बाद तक पालनपोषण करती रही। श्रीमति सिंह ने उन दोनों बच्चों की परवरिश की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली और उन्हें पर्याप्त स्नेह तथा प्यार प्रदान किया।

उनको खिलाने पिलाने और देखभाल करने के अतिरिक्त उसने उनकी पेशिकाओं को ढीली करने के लिए शरीर की प्रतिदिन मालिश भी की। धीरे-धीरे दोनों बच्चे अपनी नर्स के प्रति स्नेह रखने लगे। लेकिन वे दूसरे बच्चों से कतराते थे और उन्हें काटने तथा नोचने पर भी उतारु हो जाते थे। उनको पकड़ने के ग्यारह मास बाद छोटी बच्ची अमला पेचिश के कारण मर गई। संभवतः वह सामान्य बालिका बन गई थी, क्योंकि थोडे से समय में ही एक बंगाली शब्द के द्वारा पानी मांगना सीख लिया था।

कमला को अमला की मृत्यु से गहरा धक्कालगा। वह उस स्थान से न हटी जहाँ अमला की मृत्यु हुई थी। दो दिन तक उसने खाने पीने से इनकार कर दिया। बाद में उसने श्रीमति सिंह की नम्रता का अच्छा प्रत्युत्तर दिया। शनैः शनैः वह समूह की स्वीकृत सदस्य बन गई उसने स्नेह प्राप्त किया और स्नेह दिया भी उसने मामूली कार्य जैसे बच्चों को खिलाना और पंखा चलाना सीख लिया। वह अंधेरे से भी डरने लगी। अनाथालय में आने के साढे पाँच वर्ष बाद ही वह अपने पैरों के बल चलना सीख सकी। लेकिन वह उचित ढंग से चलना नहीं सीख पाई और यदि उसे भागना होता, तो वह पैरों के अतिरिक्त हाथों का भी इस्तेमाल करती थी। उसका भाषा विकास बहुत धीमा हुआ। वह केवल 45 शब्द सीख सकी। 15 वर्ष की आयु में वह उतना ही बोल पाती थी, जितना एक दो वर्ष का बालक बोलता है। सन 1929 में लगभग 17 वर्ष की आयु में उसका देहांत हो गया।

स्रोत : बी. कप्पुस्वामी (1975): 146-47

2.6 भारत में समाजीकरण प्रक्रिया

भारत विभिन्नताओं में एकता वाला देश है जिसमें कई धर्म, जातियाँ निवास करती है ऐसे में किसक ख़ास धर्म या जाति का प्रभाव यहाँ कम ही देखा जाता है। भारत में विभिन्न संस्कृतियाँ एकदुसरे में शामिल होती रही हैं। इसलिए यहाँ सामाजिक मान्यताएँ, रीति-रिवाजों में भी एकरूपता नहीं दिखती है। बावजूद इसके इस मिलाप की संस्कृति को भारतीयता, हिंदूस्तानी तहजीब के नाम से जाना जाता है। इसमें भी प्रभु जाति, धर्मों का प्रभुत्व देखा जाता है, जिसका अनुकरण निम्न जातियाँ करती है। इस प्रक्रिया को

एम. एन. श्रीनिवासन 'संस्कृतिकरण' के नाम से उद्धृत करते हैं। बी. कप्पुस्वामी (1972) भारत में समाजीकरण को निम्नलिखित बिंदुओं के आधार पर रेखांकित करते हैं-

धर्म

भारत में समाजीकरण की प्रक्रिया धर्म की मूलभूत धारणा के परिवेश में संकेद्रित है। महाभारत में एक प्रसिद्ध श्लोक आता है, जिसमें भारत के समाजिक प्रतिमान को व्यापक रुप दिया गया है। "न राज्य या राजा, न गदा जिसमें अधिकारी विधान का उल्लघंन करने वालों को दंड देता है। या गदाधारी जनता पर शासन करता है। यह केवल धर्म ही है कि जिसमें परस्पर रक्षा की जाती है"

इस प्रकार इस पद्यांश में जो विचार प्रकट किया गया है उसका अभिप्राय यह है कि न तो अधिकारी और न ही दंड द्वारा सामाजिक व्यवहार पर नियंत्रण रखा जाता हैं बल्कि धर्म ही है जो सामाजिक व्यवहार पर अधि-शासन करता है। धर्म क्या है? यह धारणा भारत में पिछले 3000 वर्षों से भी अधिक समय से एक सजीव शक्ति के रूप रहती आई है। अनेक महान विचारकों ने इस धारणा की परिभाषा करने का प्रयास किया, लेकिन वे सफल न हो सके। इस प्रभुवर्ग द्वारा वर्णित धर्म की व्याख्या को इस प्रकार उद्धृत कर सकते है: "मन वचन और कर्म से जो यह प्रकट करता है कि उसके हृदय में सदैव प्रत्येक व्यक्ति के लिए शुभ विचार है, और वह दूसरे सब लोगों के कल्याण में अनवरत जुटा रहता है ऐसे व्यक्ति के बारे में कहा जा सकता है कि उसने धर्म को समझ लिया है" स्थूल रुप से हम कह सकते है कि यह सिद्धांत सामाजिक प्रतिमान की भाँति मूलभूत सिद्धांत है जो भारत में व्यक्ति के समाजीकरण को प्रभावित करता रहा है।

हिंदू विचारक निम्न चार कारकों को मानव जीवन और मानव के आचरण को प्रभावित करने वाला समझते है:

देश (स्थान)

काल (समय)

श्रम (प्रयत्न) तथा

गुण (स्वाभाविक लक्षण)

आश्रम धर्म

जहाँ तक श्रम (प्रयास) का संबंध है इसे मनुष्य के विकास के भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के रुप में देखा जाता है। आश्रम धर्म जीवन की भिन्न अवस्थाओं से संबंधित कर्तव्य है। जीवन की चार अवस्थाएँ मानी गई है।

ब्रह्मचर्य (विद्यार्थी अवस्था)

गृहस्थ (गृह स्वामी की अवस्था)

वानप्रस्थ (वन में निवास करने की दशा) तथा

सन्यास (वैरागी जीवन)

ज्ञान शांति मैत्री

पहली अवस्था में ब्रह्मचर्य का पालन तथा विद्या अर्जन, अध्ययन का काल है। बावजूद इसके सभी को शिक्षा दिलाने के लिए सरकार को सर्व शिक्षा योजना को लाना पड़ा। इसका कारण बी. कप्पुस्वामी बताते है कि भले ही निशुल्क शिक्षा का प्रावधान किया गया हो इसके बावजूद मातापिता बालक/बालिकाओं को इसलिए स्कूल नहीं भेजते, क्योंकि शिक्षा उस समूह के सामाजिक प्रतिमान के रूप में नहीं मानी जाती। दूसरी अवस्था में व्यक्ति गृहस्थ की शुरुआत करता है जिसमें विवाह कर वह अपने परिवार की जिम्मेदारी का वहन करने लगता है। तीसरी अवस्था में गृहस्थ जीवन से मुक्त होकर वह वनवास के लिए चला जाता है और चौथी और अंतिम अवस्था में व्यक्ति सन्यास धारण कर लेता है। समय बदला है किंतु न्यूनाधिक मात्रा में हिंदू संस्कृति में इस मनोवृत्ति में इसका क्षेत्र बना हुआ है।

इसके बावजूद भारतीय संदर्भ में वर्ण धर्म पुरुषार्थ, सद्गुण आदि कारकों के आधार पर समाज में व्यक्ति का समाजीकरण होता देखा जाता है।

(अधिक जानकारी के लिए देखें- बी. कप्पुस्वामी, सामाजिक मनोविज्ञान : 149-155.)

2.7 समाजीकरण के तरीके

व्यक्ति समाज में समायोजित होने के लिए विभिन्न व्यवहार सीखता है और जो व्यवहार लगातार, बार-बार करता है तब वह व्यक्ति के विशेष तरीके बन जाते हैं। पी. डी. मिश्र (1985) समाजीकरण के ढंग या तरीके के विभिन्न बिंदुओं की बात करते हैं। इसमें से कुछ निम्नानुसार है

1. पालन-पोषण
2. सहानुभूति
3. आत्मीकरण
4. अनुकरण
5. सहकारिता
6. निर्देशन
7. पारस्परिक व्यवहार
8. सामाजिक सीखना
9. पुरस्कार एवं दंड

शिशु जन्म के साथ अपनी माँ पर निर्भर होता है। ऐसे में परिवार में पालनपोषण के माध्यम से उसकी समाजीकरण प्रक्रिया की शुरुआत होती है। सहानुभूति वह तत्व है जिसके कारण बालक/बालिका संबंध स्थापना का कार्य करते हैं। इसी तरीके से वे अपने-पराए में भेद करना सीख जाते हैं। आत्मीकरण के अंतर्गत बालक/बालिका परिवार, मित्र समूह तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं में संबंध स्थापित करने के लिए सामाजिक भूमिका निर्वहन कर अपनत्व की भावना का विकास कर पाता है। वैसे ही अनुकरण, सहकारिता, निर्देशन तथा पारस्परिक व्यवहार से व्यक्ति समाज में समायोजन स्थापित करने की कोशिश

करता है। इसके बावजूद सामाजिक सीखने के तरीके के अंतर्गत व्यक्ति अपना सामाजिक व्यवहार विभिन्न तरीके जैसे- चालक (Drives), संकेत (Symbol), प्रत्युत्तर तथा पुष्टिकरण आदि से सीखता है। दूसरी ओर बालक/बालिका दंड एवं पुरस्कार सिद्धांत के आधार पर व्यवहार सीखता है। जिस व्यवहार की प्रशंसा हो उससे प्रोत्साहित होता है तथा जिस व्यवहार को करने के पश्चात दंड मिलता है उससे हतोत्साहित होकर उस व्यवहार से वह दूर रहने की कोशिश करते हैं।

2.8 समाजीकरण की संस्थाएँ

व्यक्ति अपनी ऐहिक तथा मनो-सामाजिक आवश्यकताओं के लिए समाज पर निर्भर होता है। उसी में उसकी आवश्यकताओं की संतुष्टि होती है। इसमें उसको विभिन्न संस्थाओं का सहयोग लेना पड़ता है। इस सहयोग प्राप्ति के लिए भी व्यक्ति में समाजीकरण की योग्यता का होना आवश्यक शर्त है। इसके बाद ही वे संस्थाएँ व्यक्ति के समायोजन में सहयोग दे सकेंगी। इन में से कुछ संस्थाएं निम्नलिखित हैं

सामाजिक संस्थाएँ

1. परिवार
2. विवाह
3. जाति-व्यवस्था
4. वर्ण-व्यवस्था तथा
5. धर्म आदि

अन्य संस्थाएँ

1. विद्यालय
2. पड़ोस
3. खेल समूह
4. राजनैतिक संस्थाएँ
5. आर्थिक संस्थाएँ
6. विभिन्न समूह, क्लब आदि

2.9 सारांश

इन सभी संस्थाओं के बावजूद आज के समय में कुछ समाजशास्त्री पुलिस,न्यायालय, अस्पताल तथा विश्वविद्यालय को भी समाजीकरण की संस्थाओं के अंतर्गत देखते हैं। इन सभी संस्थाओं की व्यक्ति के व्यवहार निर्धारण में महत्वपूर्ण भूमिका है। सामाजिक संस्थाएँ समाज का अभिन्न अंग है। इसके बावजूद अन्य संस्थाएँ व्यक्ति की अन्य आवश्यकताओं की संतुष्टि में भूमिका निभाते हैं। शुरूआती समय में आर्थिक आवश्यकताओं के लिए भारत में जातिव्यवस्था महत्वपूर्ण संस्था मानी गयी थी किंतु उसकी अनेक खामियों के कारण नई आर्थिक संस्थाओं का निर्माण हुआ, जिसमें व्यक्ति अपनी आर्थिक सुरक्षा

की खोज कर रहा है। इसके बावजूद पुलिस, न्यायालय जैसी संस्थाएँ व्यक्ति के व्यवहार पर नियंत्रण रखने का कार्य करती हैं।

वर्तमान में भागादौड़ी और जानलेवा स्पर्धा में व्यक्ति के पास इतना समय ही नहीं है कि वह क्या सही और क्या गलत कर रहा है। ऐसे में साधन नहीं साध्य महत्वपूर्ण बन गए हैं। वर्तमान सामाजिक व्यवस्था ने व्यक्ति को अधिक लक्ष्य केंद्रित बनाया है। सूचना प्रौद्योगिकी के उभारने सूचनाओं के क्षेत्र में क्रांति आई है। ऐसे में समाजीकरण की सामाजिक संस्थाएं ढहतीनज़र आ रही है। नई संस्थाओं के प्रति लोगों की जागरूकता कम होने के कारण लोग गलत रास्ते पर चले जा रहे हैं। ऐसे में समाज कार्य में उनके समायोजन के लिए उचित कार्य किया जाना चाहिए।

2.10 बोध प्रश्न

1. समाजीकरण से आप क्या समझते हैं? सोदाहरण स्पष्ट करें।
2. समाजीकरण के विभिन्न सिद्धांतों पर चर्चा करें।
3. समाजीकरण की विशेषताएँ बताते हुए उसके प्रकार्य की चर्चा करें।
4. भारत में समाजीकरण की प्रक्रिया की जाँच-पड़ताल करें।
5. विद्यालय में बालक/बालिका के समाजीकरण पर चर्चा करें।
6. समाज में व्याप्त समाजीकरण की संस्थाओं का वर्णन करें।

2.11 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

मिश्र, पी. डी. (1985). *सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य* (8th ed.). लखनऊ: उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान

सिंह, आर. एन. (2010). *आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान.* आगरा: अग्रवाल पब्लिकेशन्स.

कप्पुस्वामी, बी. (1975). *समाज मनोविज्ञान: एक परिचय* (5th ed.). पंचकुला: हरियाणा साहित्य अकादमी.

Green, A. W. (1952). *Sociology.* New York: McGraw Hill.

Johnson, H. M. (1961). *Sociology: A Systematic Introduction.* London: Routledge and Kegan Poul.

Young, K. (1957). *Handbook of Social Psychology. London:* Allege and Kegan poul.

Gilin, L.L. and Gilin, J. P. (1950). *Cultural Sociology.* New York: McGraw Hill.

N.A. (2016, may 16). *C. H. Cooley.* Retrieved June 2016, 09, from en.wikipedia.org: https://en.wikipedia.org/wiki/Charles_Cooley

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई-3 संवेदना-प्रत्यक्षीकरण

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 संवेदना
  3.2.1 संवेदन की प्रक्रिया
  3.2.2 संवेदन की विशेषताएँ और प्रकार
3.3 प्रत्यक्षीकरण
  3.3.1 प्रत्यक्षीकरण में शामिल प्रक्रियाएँ
  3.3.2 प्रत्यक्षीकरण के निर्धारक
3.4 व्यक्ति प्रत्यक्षीकरण
3.5 प्रत्यक्षीकरण के अन्य आयाम
3.6 संवेदना एवं प्रत्यक्षीकरण में अंतर
3.7 सारांश
3.8 बोध प्रश्न
3.9 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

3.0 उद्देश्य:

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप-

1. संवेदना की अवधारणा को समझते हुए उसकी विशेषताएँ तथा प्रकार्य समझ सकेंगे।
2. व्यक्ति में पाई जाने वाली विभिन्न संवेदनाओं को समझ सकेंगे।
3. प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया एवं विभिन्न आयामों से अवगत होंगे।
4. प्रत्यक्षीकरण तथा संवेदना के बीच अंतर कर पाएंगे।

3.1 प्रस्तावना

संवेदना से तात्पर्य अनुभूति से लगाया जाता है। अंग्रेज़ी शब्द Sense का अर्थ समझ, अनुभूति माना जाता है। लेकिन जब संवेदन की बात करें तो वह प्रक्रिया बन जाता है। यह प्रक्रिया संज्ञान या अनुभूति करने से हो सकती है। मनोविज्ञान में इसे अलग संवेदी मनोविज्ञान के रूप में पढ़ा जाता है। दैहिक आधार पर प्राप्त प्राथमिक सूचना को संवेदन के रूप में माना जाता है। मनोवैज्ञानिकों में आज भी यह बहस का मुद्दा है कि संवेदन जैसी कोई प्रक्रिया होती होगी। इसे ऐसे समझा जा सकता है कि 'किसी भौतिक या

अभौतिक संसार के वस्तुओं के प्रति प्राप्त किया गया प्राथमिक ज्ञान ही संवेदन है। अरस्तू ने सबसे पहले संवेदी कार्य तथा क्रियात्मक कार्य के बीच अंतर कर यह बताया कि वातावरण के बारे में मिलने वाली संवेदी सूचनाओं पर व्यक्ति के चिंतन का अच्छा प्रभाव पड़ता है(अरुण सिंह:477)। साथ ही अन्य विचारक हाब्ज, लाक, हार्टले आदि चेतना के तत्वों के संवेदी आधार पर बल डालते हैं। संवेदन प्रक्रिया को समझने के लिए वुन्ट (Wundt) तथा टिचेनर (Tichenar) के प्रायोगिक अध्ययन का आधार लिया जा सकता है। इन्होंने संवेदना चेतन के एक प्रमुख तत्व के रूप में प्रकाश डाला है। अपनी पुस्तक 'एन आउटलाइन ऑफ़ सायकालोजी (An Outline of Psychology)' में टिचेनर ने 42,415 तरह के संवेदनों की चर्चा की है (अरुण सिंह:477)। टिचेनर संरचनावादी थे अत: उन्होंने संवेदन की **चार** मुख्य विशेषताओं का भी वर्णन किया है गुण (Quality), तीव्रता (Intensity), अवधि (During), एवं स्पष्टता (Clearness) इन चार विशेषताओं के आधार पर टिचेनर ने संवेदन को अलग माना है। इसके आधार पर संवेदना को स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

समाज कार्य में एक व्यक्ति के व्यक्तित्व को जानने एवं उसके दैहिक आधारों की समझ एक समाज कार्यकर्ता को होनी जरूरी है। व्यक्ति में आने वाली समस्याओं को दैहिक आधार पर जानने के लिए संवेदना एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया है। किंतु यहाँ स्पष्ट करना होगा कि समाज कार्य के लिए यह जरूरी है का अर्थ यह नहीं कि हम अपने अनुसार चीजों को समझ ले। संवेदना के साथ-साथ हम प्रत्यक्षीकरण को भी समझेंगे। इस अनुक्रम में हम पहले संवेदना को तथा प्रत्यक्षीकरण को मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक धरातल पर समझेंगे। इसके पश्चात इसकी उपयोगिता के आधार पर समाज कार्य में इसके महत्व को स्पष्ट करने की कोशिश करेंगे।

3.2 संवेदना

अंग्रेज़ी शब्द sensation का हिंदी रूपांतरण 'संवेदन' समझा जाता है। संवेदना को मनुष्य द्वारा पर्यावरण से प्राप्त प्राथमिक ज्ञान माना जाता है। संवेदना को प्राथमिक ज्ञान इसलिए कहा जाता है कि यह किसी भी वस्तु का पूर्ण ज्ञान प्राप्त नहीं कराती है। संवेदना साधारण सूचनाओं को प्रदान करती है। इन अर्थों में संवेदना मात्र वस्तु के प्रति प्राथमिक ज्ञान तक सीमित रहती है।

संवेदना को परिभाषित करने का क्रम अरस्तू से चला आ रहा है किंतु मनोविज्ञान में इसे स्वतंत्र विज्ञान के रूप में पढ़ा जाता है। इसलिए यहाँ पर मनोवैज्ञानिकों द्वारा दी गयी संवेदन की परिभाषाओं को अपने आप बल प्राप्त हो जाता है। संवेदना की कुछ परिभाषाएँ निम्न है–

पोर्ट्नाव एवं फेडटाव (Portnov and Fedtov, 1969) *के अनुसार "संवेदनाएँ संज्ञानात्मक क्रियाओं की प्राथमिक अवस्थाएँ है। उन्हें प्राथमिक अवस्थाएँ इसलिए कहा जाता है क्योंकि वे वस्तु का समग्र ज्ञान नहीं कराती है, बल्कि उनके वैयक्तिक गुणों, जैसे –सफ़ेद, काला, कड़ा, मुलायम, चिकना, या भद्दा की ही झलक देता है। यह विशेषताएँ अति सामान्य है तथा इनसे वस्तु का पूरा ज्ञान प्राप्त नहीं होता है"*

रैथस ***(Rathus,1984)*** *के अनुसार, "संवेदना का आशय संवेदी संग्राहकों के उद्दीपन और केंद्रीय तंत्रिका तंत्र संवेदी सूचना के संचरण से है।*

उपर्युक्त परिभाषाओं से संवेदना को समझने में सहायता होगी,किंतु परिभाषा किसी भी विषय-वस्तु को सीमित कर समझने का दृष्टिकोण देती है। इसलिए हमारे लिए यह जरूरी बन जाता है कि उसका समग्रता में अध्ययन करें। फिर भी परिभाषा हमें एक दृष्टिकोण देती है। इसी के आधार पर डॉ. आर एन. सिंह (2010) संवेदन प्रक्रिया को समझने के लिए निम्नवत बिंदु प्रस्तुत करते हैं-

1. संवेदना, किसी वस्तु के बारे में प्रारंभिक संज्ञान मात्र है।
2. संवेदना से वस्तु के बारे में सामान्य न कि विस्तृत विवरण प्राप्त होता है।
3. संवेदना से वस्तु का पूरा अर्थ(स्वरुप) स्पष्ट नहीं होता।
4. संवेदना से किसी वस्तु का केवल आभास ही हो पाता है।
5. संवेदी स्नायुओं के उद्दीप्त होने तथा मस्तिष्क तक उसकी सूचना का प्रेषित किया जाना संवेदना माना जाता है।
6. संवेदना शुद्ध रूप में नहीं हो पाती। हमें वस्तु का स्वरूप स्पष्ट होने लगता है।अत: संवेदन एवं प्रत्यक्षीकरण के बीच सीमारेखा खींच पाना संभव नहीं है।

3.2.1 संवेदन की प्रक्रिया (Process of Sensation)

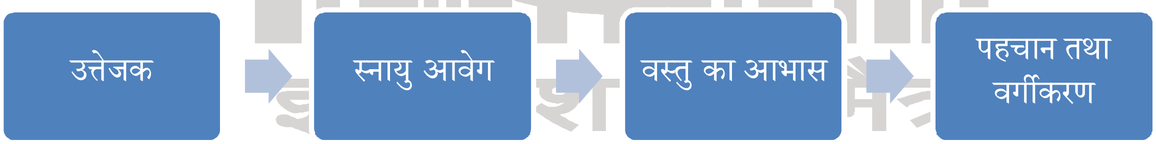

चित्र : 1 संवेदन की प्रक्रिया

उत्तेजक (Stimulus): हमारी ज्ञानेंद्रियों को उत्तेजित करने वाली प्रत्येक वस्तु उत्तेजना निर्माण करती है, जिसमें प्रतिमा, शब्द, रंग, हवा, आदि कुछ भी हो सकते हैं। डॉ. आर एन. सिंह (2010) के अनुसार संवेदना के लिए उत्तेजक होना आवश्यक है। जैसे दृष्टिसंवेदना के लिए प्रकाश तरंगों तथा श्रवण संवेदना के लिए ध्वनि तरंग। इनके द्वारा ज्ञानेन्द्रियों के संग्राहकों का उत्तेजित होना आवश्यक है। उत्तेजक के अभाव में संवेदन नहीं होगा। किसी उत्तेजक से कोई ज्ञानेन्द्रिय तभी उत्तेजित होगी जब उत्तेजक की तीव्रता समुचित होगी।

स्नायु आवेग (Nerve Impulse):- ज्ञानेंद्रियों के उद्दीप्त होने पर उनमें विद्युतीय-रासायनिक परिवर्तन (Electro-chemical change) उत्पन्न होता है। इसे स्नायु आवेग कहते हैं। इसका संचारण ज्ञानवाही तंत्रिकाओं द्वारा मस्तिष्क तक किया जाता है।

वस्तु का आभास (Impression of object):- स्नायु आवेग के मस्तिष्क में पहुँचने पर व्यक्ति को संबंधित वस्तु का आभास या साधारण ज्ञान होता है। इसे संवेदना कहा जाता है।

पहचानना तथा वर्गीकरण (Identification and classification): संवेदना के परिणामस्वरूप वस्तुओं की पहचान तथा वर्गीकरण किया जाता है।

उक्त चार चरणों से गुजरकर यह क्रिया पूर्णत्व प्राप्त करती है। इस प्रक्रिया को संवेदना कहा जाता है।

3.2.2 संवेदन की विशेषताएँ एवं प्रकार

संवेदना को समझने के लिए मनोवैज्ञानिकों ने कुछ विशेषताओं का उल्लेख किया है जिसमें-

गुण (Quality),

विस्तार (Extensity),

अवधि या सत्ताकाल (Duration),

तीव्रता (Intensity),

स्थानीय चिह्न (Local signs) और

कालगत संकलन प्रभाव आदि प्रमुख है। स्टाउट के अनुसार इन विशेषताओं के अभाव में संवेदना का अस्तित्व स्थापित नहीं हो सकता। इन विशेषताओं को संवेदना का अनिवार्य गुण मान सकते हैं।

संवेदना का शरीर तक पहुँचने का माध्यम इंद्रिया होती है। सर्वमान्य मत है कि इन्हीं के द्वारा संवेदना को ग्रहण किया जाता है। जैसे दृष्टि संवेदना (Visual sensation), रंग संवेदना (Colour sensation), श्रवण संवेदना (Auditory sensation), त्वचीय संवेदना (Cutaneous sensation), घ्राण या गंध संवेदना (Olfaction or Smell Sensation), स्वाद संवेदना (Sensation Of Taste), इन पाँच संवेदनाओं के साथ गति तथा आंगिक संवेदनाएँ (Kinesthetic And Organic Sensations) व्यक्ति में पाई जाती है।

संवेदना के प्रकार	**स्थान**	**प्रकार्य**
दृष्टि संवेदना (Visual sensation)	आँख	आँख की संरचना के कारण प्रतिमा को समझने का कार्य आँख द्वारा होता है।
रंग संवेदना (Colour sensation)	आँख	रंग संवेदना प्रकाश तरंगों की लंबाई पर निर्भर करती है। इसके आधार पर रंग में भेद के लिए सहायता होती है।

श्रवण संवेदना (Auditory sensation)	कान	कान के संग्राहकों का उद्दीपन, उद्दीपक की तीव्रता, अवस्था, समय एवं ध्वनि की दिशा निर्धारित करने में व्यक्ति की योग्यता एवं दूरी के आधार पर सुनने की क्रिया।
त्वचीय संवेदना (Cutaneous sensation)	त्वचा	त्वचा में स्थित संग्राहकों के माध्यम से दबाव, पीड़ा, सहित एवं उष्ण संवेदनाओं का ज्ञान प्राप्त होता है।
घ्राण या गंध संवेदना (Olfaction or Smell Sensation)	नाक	नाक में स्थित गंध संग्राहकों का हवा के माध्यम से उद्दीपन के कारण सुगंध, दुर्गंध आदि का ज्ञान।
स्वाद संवेदना (Sensation Of Taste)	जिह्वा/जीभ	जीभ का हर भाग एक अलग प्रकार की अनुभूति देता है अग्रभाग-मीठेपन, पृष्ठभाग- कड़वेपन, अगल-बगल, नमकीन तथा मध्य भाग-खट्टेपन की संवेदना का अनुभव होता है।
गति संवेदना (Kinesthetic Sensations)	माँसपेशियों, हड्डियों के जोड़	माँसपेशियों, हड्डियों के जोड़ में इसके संग्राहक पाए जाते है। शरीर के किसी भाग पर हाथ खिसकने से दबाव एवं गति का अनुभव होना इसका उदाहरण है।
आंगिक संवेदना(Organic Sensations)	श्वसन तंत्र, हृदय, पाचन तंत्र आदि आतंरिक अंग।	श्वसन तंत्र, हृदय, पाचन तंत्र आदि में जब भी कोई तकलीफ होती है तो उसका ज्ञान हमें इसके माध्यम से प्राप्त होता है। सामान्यत: यह कम स्पष्ट होती हैं।

मनोवैज्ञानिकों में यह बहस का मुद्दा है कि संवेदन और प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया की सीमाएँ कैसे तय होगी, क्योंकि यह एक दूसरे के साथ इतने संबंधित है कि इनमें भेद करना मुश्किल हो जाता है

3.3 प्रत्यक्षीकरण(Perception)

व्यक्ति अपनी ज्ञानेंद्रियों द्वारा प्राथमिक ज्ञान प्राप्त करता है उसे संवेदन की प्रक्रिया के रूप में जाना जाता है। इस प्रक्रिया को हम समझ चुके है। तब हम प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया को समझने का प्रयास यहाँ करेंगे। मनोवैज्ञानिकों के अनुसार संवेदन का तात्पर्य वस्तु का प्राथमिक ज्ञान हो सकता है, या हो सकता है वह आभासी हो, किंतु इसी प्रक्रिया के अंतर्गत वस्तु का पूर्ण ज्ञान या सोच को अर्थ प्राप्त होता है जिसका सीधा संबंध प्रत्यक्षीकरण से है। बहस का मुद्दा है कि इस पूरी प्रक्रिया में संवेदन कहाँ समाप्त होता है और प्रत्यक्षीकरण कहाँ से शुरू होता है। इसी प्रक्रिया को हमें समझना होगा।

प्रत्यक्षीकरण शब्द की उत्पति लैटिन भाषा के Percipere शब्द से हुई होगी, ऐसा माना जाता है। इसका अर्थ होता है 'समझना'(Comprehend)। अगर इस शब्द के आधार पर हम इसे समझने की कोशिश करेंगे तब कह सकते हैं कि प्रत्यक्षीकरण किसी भी वस्तु के बारे में निश्चित निष्कर्ष तक पहुँचने की प्रक्रिया है।

डॉ. आर. एन. सिंह (2010) के अनुसार प्रत्यक्षीकरण की सर्वमान्य परिभाषा देना सबसे कठिन काम है। फिर भी प्रत्यक्षीकरण प्रक्रिया को मनोवैज्ञानिकों द्वारा जिस प्रकार परिभाषित किया गया है, उनमें से कुछ परिभाषाएँ अधिक महत्वपूर्ण है वे निम्नलिखित हैं

सी.जे.ब्रूनो (C.J. Bruno) (1980) के अनुसार "*संवेदनाओं को सार्थक समग्रों में संगठित करना प्रत्यक्षीकरण है।"*

एस.ए.रैथस (S.A.Raithus) (1984) के अनुसार "*प्रत्यक्षीकरण एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है, जिसके द्वारा हम संवेदी सूचनाओं की व्याख्या करते हैं।*

इसके बावजूद **सामाजिक प्रत्यक्षीकरण** को परिभाषित करते हुए आलपोर्ट, एफ. एच. लिखते हैं कि सामाजिक प्रत्यक्षीकरण का अर्थ सामाजिक परिस्थिति के संबंध में व्यक्ति के संपूर्ण ज्ञान का विस्तार है। बैकमैन सामाजिक प्रत्यक्षीकरण को दो तरह से विभाजित करते हैं: प्रथम-अनुभवात्मक प्रक्रिया पर वैयक्तिक और सामाजिक कारकों के प्रभाव तथा द्वितीय-सामाजिक लक्षणों या वस्तुओं के संबंध में प्रत्यक्षात्मक अनुभवों का अध्ययन।

प्रत्यक्षीकरण एक प्रक्रिया के रूप में जाना जाता है, किंतु यह प्रक्रिया अत्यंत जटिल है। इसमें मानवीय विकास के निर्धारकों का महत्वपूर्ण कार्य होता है। जैसे सामान्य रूप से एक व्यक्ति अपने परिवार एवं सामाजिक परिवेश से अपनी कुछ समझ बनाता दिखाई पड़ता है। किंतु इन सब का प्रत्यक्षीकरण पर अच्छा खासा प्रभाव पड़ता है।

3.3.1 प्रत्यक्षीकरण में शामिल प्रक्रियाएँ

प्रत्यक्षीकरण में कुछ प्रक्रियाएँ सन्निहित होती है। प्रमुख प्रक्रियाएँ निम्नलिखित हैं

सांवेदिक उद्दीपन- प्रत्यक्षीकरण होने के लिए आवश्यक है कि पर्यावरण उद्दीपकों द्वारा इंद्रियाँ उद्दीप्त हो जाएँ अन्यथा प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया प्रारंभ नहीं होगी। उद्दीपनों द्वारा प्रभावित होने से संग्राहकों में एक विशेष प्रकार का विद्युत-रासायनिक परिवर्तन होता है।

स्नायु आवेग: संग्राहकों में उद्दीपनों के कारण उत्पन्न विद्युतीय रासायनिक परिवर्तन या स्नायु आवेग का संचारण संवेदीस्नायुओं द्वारा केंद्रीय तंत्रिका को किया जाता है।

मास्तिष्क द्वारा व्याख्या: संवेदी आवेग के मस्तिष्क में पँहुचने पर मस्तिष्क द्वारा उसकी व्याख्या की जाती है। उसका अर्थ निकाला जाता है और आवश्यक होने पर उनका पुनर्गठन भी किया जाता है।

उपर्युक्त परिभाषाओं तथप्रक्रियाओं के आधार पर प्रत्यक्षीकरण के बारे में निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं-

1. संवेदना को अर्थ प्रदान करना प्रत्यक्षीकरण है
2. यह एक जटिल संज्ञानात्मक प्रक्रिया है।
3. उसके द्वारा परिवेश की व्याख्या में सहायता मिलती है।
4. इंद्रियों के उद्दीप्त होने के बीच कुछ मध्यवर्ती प्रक्रियाएँ घटित होती है।
5. प्रत्यक्षीकरण वस्तुगत न होकर आत्मगत होता है।
6. प्रत्यक्षीकरण समग्र रूप में होता है।
7. प्रत्यक्षीकरण में सीखना महत्वपूर्ण साधन है।
8. विचारधारा का प्रभाव प्रत्यक्षीकरण पर पड़ता है।
9. प्रत्यक्षीकरण में चयनात्मकता निहित होती है।
10. प्रत्यक्षीकरण में अनेक सांवेदिक प्रक्रियाएँ सन्निहित है।
11. प्रत्यक्षीकरण केवल वर्तमान वस्तुओं का ही होता है अतीत या भविष्य की वस्तुओं का नहीं, क्योंकि इनके द्वारा इंद्रियों को उद्दीप्त नहीं किया जा सकता है।

प्रत्यक्षीकरण का जेस्टाल्टवादी सिद्धांत

जेस्टाल्ट जर्मन भाषा का एक शब्द है। इसका आशय 'आकृति' या 'रूप' से लगा सकते हैं। जर्मन में इसका अर्थ समग्र या संरुप से लिया जाता है।

रैथस (1984) के अनुसार "*जेस्टाल्ट विचारधारा प्रत्यक्षीकरणों को समग्र रुप में संगठित करने विभिन्न उद्दीपकों को सार्थक प्रतिमानों में समन्वित करने की प्रवृति पर बल देती है।*"

अर्थात इनका विचार था कि किसी वस्तु या उद्दीपक का प्रत्यक्षीकरण समग्र रुप में होता है। जेस्टाल्टवाद के समर्थकों ने यह विचार प्रस्तुत किया है कि हम किसी वस्तु का प्रत्यक्षीकरण समग्र रुप में करते हैं न कि अंशिक रुप में इन लोगों का कहना है कि किसी वस्तु काप्रत्यक्षीकरण वस्तु के विभिन्न अंगों के योग पर नहीं है। जैसे- यदि एक कुर्सी के विभिन्न भागों को अलग-अलग करके ढेर के रूप में रखा जाए तो उसका प्रत्यक्षीकरण कुर्सी के रुप में नहीं होगा। परंतु यदि कुर्सी के विभिन्न भागों को समुचित ढंग से जोड़कर किसी केसामने रखा जाए, तो प्रत्यक्षीकरण एक कुर्सी के रुप में होगा इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कुर्सी का प्रत्यक्षीकरण समग्र या एक इकाई के रुप में तभी होगा। जब उसके विभिन्न भागों में समुचित संबंध या समन्वय होगा। यहप्रत्यक्षीकरण समग्र रुप में होता है। इसे प्रमाणित करने के लिए जेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिकों ने कई नियमों का प्रतिपादन भी किया। ऐसे नियम अंततः समग्रता के नियम की पुष्टि करते हैं।

स्रोत : आर. एन. सिंह (2010) पृ.116

3.3.2 प्रत्यक्षीकरण के निर्धारक

प्रत्यक्षीकरण पर उत्तेजक कारकों के अतिरिक्त अन्य कारकों का भी प्रभाव पड़ता है। प्रात्यक्षिक संगठन के नियम उत्तेजक कारकों में आते है। इस पर प्राणिगत कारकों का भी प्रभाव पड़ता है। इन्हें केंद्रीय कारक भी कहते हैं-

1. अधिगम या अनुभव
2. आवश्यकता
3. उद्दीपक मूल्य
4. प्रबलन
5. मानसिक विन्यास
6. प्रात्यक्षिक सुरक्षा
7. प्रात्यक्षिक सतर्कता

इनके अतिरिक्त पी. डी. मिश्र (1985) सामाजिक प्रत्यक्षीकरण के निम्नलिखित निर्धारक बताते हैं-

1. पूर्व अनुभव
2. सामाजिक अंतःक्रिया का स्वरूप
3. सूचनाओं की मात्रा एवं क्रम
4. मूल्य व्यवस्था
5. सामाजिक बल
6. दूसरे व्यक्ति कीविशेषताएँ आदि।

3.4 व्यक्ति प्रत्यक्षीकरण

समाज कार्य में व्यक्ति का अध्ययन महत्वपूर्ण है। इसलिए व्यक्ति प्रत्यक्षीकरण को देखना अनिवार्य होगा। व्यक्ति प्रत्यक्षीकरण का अर्थ बताते हुए पी. डी. मिश्र (1985) लिखते हैं कि व्यक्ति प्रत्यक्षीकरण का तात्पर्य उस प्रक्रिया से है, जिसके द्वारा व्यक्ति में अन्य व्यक्तियों के संबंध में धारणाएँ, मत या अनुभूति बनती है। इससे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रत्यक्षीकरण केवल संवेदनाओं से ही नहींबल्कि अन्य व्यक्तियों से प्राप्त सूचनाओं से भी प्रभावित होता है। एक व्यक्तिके दूसरे व्यक्ति के साथ के संबंध में विचार, धारणाएँ तथा भावनाएँ प्रत्यक्षीकरण को प्रभावित करती है। यह निम्नलिखित तीन परिस्थितियों पर निर्भर होता है-

1. अन्य व्यक्तियों के संबंध में प्राप्त सूचना
2. अंतःक्रिया की मात्रा
3. संबंधों की मात्रा।

उदाहरण के लिए व्यक्ति जब पहली बार अन्य किसी व्यक्ति से मिलता है, तब उसके बारे में अल्पज्ञान के कारण अंतःक्रिया सीमित होती है। परंतु मेलजोल बढ़ने के साथ-साथ अंतःक्रिया की मात्रा बढ़

जाती है, जिससे उसके प्रति ज्ञान में वृद्धि हो जाती है। परिणामतः व्यक्ति के प्रत्यक्षीकरण का दायरा बढ़ जाता है।

3.5 प्रत्यक्षीकरण के आयाम

व्यक्ति समाज में रहते हुए बाह्य वातावरण से शरीर के माध्यम से संदेश प्राप्त करता है। जैसे आग के पास बैठने के बाद गर्मी महसूस होती है। यह महसूस करना ऊपर से सरल लगने वाली प्रक्रिया है किंतु इसके लिए मनुष्य की दैहिक इंद्रियाँ काम करती हैं। ऐसा व्यक्तिगत संबंधों में भी देखा जा सकता है। जैसे एक व्यक्ति के प्रति समूह में बने विचार, अभिमत ऐसे ही बनते हैं। व्यक्ति अपने निजी अनुभवों के बल पर अमुक व्यक्ति के बारे में यह मत बना लेता है कि वह स्वार्थी है। यह मत बनने के लिए उस व्यक्ति के साथ वह विभिन्न अंतःक्रिया कर चुका होता है। इसी के आधार पर वह मत प्रकट करता है। इसके बाद अन्य किसी व्यक्ति को उस स्वार्थी व्यक्ति को समझने के लिए पुनः प्रक्रिया से गुजरना नहीं पड़ता है।

इसके बावजूद प्रत्यक्षीकरण एक व्यक्तिगत प्रक्रिया है, जिससे दूसरा व्यक्ति ठीक वैसे ही महसूस करे ऐसा नहीं होता। जैसे कोई भावुक व्यक्ति अपघात को देखने के बाद बेहोश हो सकता है। वहीं कोई दूसरा व्यक्ति उसी घटना को अनदेखा कर आराम से आगे निकल जा सकता है। ऐसे में यह कहना कठिन है कि सबका प्रत्यक्षीकरण एक जैसा होगा। कभी-कभी आपने देखा होगा कि कोई व्यक्ति रस्सी को साँप समझ बैठता है। यह भ्रम की स्थिति में होता है। साथ ही यह स्थिति सामाजिक तौर पर भी देखी जा सकती है। जैसे कोई व्यक्ति दूसरे का भला कर रहा है और वह किसी गलत विचारधारा के कारण उसे अपना दुश्मन समझ रहा है। प्रत्यक्षीकरण प्रक्रिया में प्रयोगों के बाद ऐसे कई भ्रम (Illusion), विभ्रम (Hallucination), आकृति पश्चात प्रभाव, प्रात्यक्षिक स्थैर्य, गति, समय, दूरी आदि के आधार पर वास्तविकता से अलग कर देते हैं, जिससे उचित प्रत्यक्षीकरण में बाधा आती है।

भ्रम आकार तथा दिशा आदि के साथ हो सकता है। विभ्रम के विभिन्न कारण है। बुरी आदतें तथा जन्मजात कारक भी हो सकते है, जिसके कारण श्रवण तथा दृष्टि विभ्रम होता है। आकृति पश्चात प्रभाव का संबध आकृतियों के प्रत्यक्षीकरण में आने वाली बाधा है। आपने कई सारे पोस्टर देखें होंगे, जिसमें एक समान आकृतियाँ सहजता से देखने से अलग-अलग आकार की प्रतीत होती है। प्रात्यक्षिक स्थैर्य के अंतर्गत उस प्रेक्षण को रखा गया है, जिसमें हम किसी एक वस्तु, आकृति को देख सकते हैं, जिसमें स्थिर रूप से देखने के बाद उसमें कुछ और ही दिखने लगता है। जैसे रात में अचानक जागने के बाद अँधेरे में किसी एक चीज को लगातार देखने के बाद हमें अपनी कल्पित डरावनी चीज उसमें नज़र आने लगती है। या ऐसा चित्र आपने देखा होगा जिसको लगातार देखने के बाद वह घूम रही है या गतिमान हुई है ऐसा महसूस होने लगता है।

गति, समय, दूरी के आधार पर भी कभी-कभी गलत प्रत्यक्षीकरण हो जाता है। गति प्रत्यक्षीकरण का अच्छा उदाहरण है कि घर में हम फैन चलाते है। इसकी गति धीमी करने के बाद हमें उसके पत्ते नज़र आने

ज्ञान शांति मैत्री

लगते है, परंतु गति बढाने के बाद यह बताना मुश्किल होगा किउसमें कितने पत्ते लगे हैं- तीन या चार। साथ ही वह फैन एक गोल चीज़ नज़र आएगा। समय से तात्पर्य है संवेदना महसूस करने के समय से है। एक वस्तु हम दस फीट की दूरी से देखते हैं और वहीं बीस फीट से देखते हैं तब संवेदना समय में अंतर आ जाता है। और दोनों बार अलग-अलग प्रत्यक्षीकरण होता है। इन सभी के बावजूद मनोविज्ञान में आज भी यह विवाद का विषय है कि प्रत्यक्षीकरण जन्मजात है या अर्जित।

3.6 संवेदना एवं प्रत्यक्षीकरण में अंतर

संवेदना एवं प्रत्यक्षीकरण दोनों ही संज्ञानात्मक मानसिक प्रक्रियाएँ है क्योंकि इन दोनों प्रक्रियाओं द्वारा प्राणी अथवा व्यक्ति का वातावरण अथवा उसके किसी पक्ष के बारे में जानकारी प्राप्त होती है। परंतु दोनों प्रक्रियाओं में मूल अंतर यह है कि संवेदना एक साधारण संज्ञानात्मक प्रक्रिया, है जबकि प्रत्यक्षीकरण एक जटिल मानसिक प्रक्रिया है। संवेदना द्वारा केवल प्रारंभिक ज्ञान प्राप्त होता है जबकि प्रत्यक्षीकरण द्वारा पूर्ण प्राप्त होता हैं। इस आधार पर संवेदना एवं प्रत्यक्षीकरण में निम्नलिखित अंतर प्रस्तुत कर सकते है-

1. संवेदना साधारण प्रक्रिया है, जो सामान्यत: मानवीय जीवन के साथ जुड़ी है, किंतु प्रत्यक्षीकरण जटिल प्रक्रिया है। इसका संबध विभिन्न कारकों से होता है।
2. संवेदना द्वारा किसी भी वस्तु का प्राथमिक ज्ञान प्राप्त होता है। जैसे, रंग, रूप आदि किंतु प्रत्यक्षीकरण पूर्ण ज्ञान है। वह केवल किसी एक आयाम से नहीं उत्पन्न होता, इस कारण किसी भी वस्तु का पूर्ण परिचय इससे हो जाता है।
3. संवेदना में साहचर्य का अभाव पाया जाता है, जबकि प्रत्यक्षीकरण में मस्तिष्क का साहचर्य क्षेत्र भी सक्रिय होता है।
4. संवेदना में पूर्वानुभवों के लिए कोई जगह नहीं है किंतु प्रत्यक्षीकरण में पूर्वानुभवों की भूमिका महत्वपूर्ण है। प्रत्यक्षीकरण में किसी वस्तु के प्रति पूर्ण ज्ञान प्राप्ति के लिए पूर्वानुभवों का उपयोग होता है।
5. संवेदना में पृथक्करण नहीं पाया जाता, जबकि प्रत्यक्षीकरण में यह गुण पाया जाता है। यह ठीक वैसे ही है, जैसे संवेदना से पता चला कि यह एक चित्र है, किंतु चित्र में आकार और पृष्ठभूमि को अलग करने की क्षमता प्रत्यक्षीकरण में ही होती है।
6. संवेदना में उत्क्रमण (Reversal) प्रभाव का अभाव है वहीं प्रत्यक्षीकरण में उत्क्रमण का गुण देखा जाता है।
7. प्रत्यक्षीकरण के अंतर्गत किसी वस्तु, विचार को किसी अन्य के साथ संबंध करना शामिल है। इसे ही वस्तुकरण/पदार्थीकरण (Objectification) कहा जाता है। संवेदना में इसका अभाव है।

8. मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि संवेदना द्वारा केवल वस्तु का आभास होता है और प्रत्यक्षीकरण द्वारा उसके बारे में पूर्ण ज्ञान पाप्त होता है। इसलिए संवेदना को अमूर्त और प्रत्यक्षीकरण को मूर्त माना जाता है।

3.7 सारांश

विद्वानों में यह भ्रम बना है कि संवेदना कहाँ ख़त्म होती है और प्रत्यक्षीकरण कहाँ से शुरू होता है? फिर भी व्यक्ति व्यवहारों को समझने के लिए संवेदना और प्रत्यक्षीकरण महत्वपूर्ण मनोसामाजिक प्रक्रियाएँ हैं। दूसरी ओर यह भी बहस का मुद्दा है कि प्रत्यक्षीकरण जन्मजात है या अर्जित। बावजूद इसके संवेदना व्यक्ति को आंतरिक एवं बाह्य वातावरण से सूचनाएँ प्राप्त करने में मदद करती है। वही प्रत्यक्षीकरण इन प्राप्त सूचनाओं के आधार पर पूर्ण ज्ञान प्राप्ति में मदद करता है। अगर किसी व्यक्ति में प्रत्यक्षीकरण की प्रक्रिया में गड़बड़ी आती है, तब वह कई मानसिक बीमारियों का शिकार होता है, जैसे कि मनोविदलन। इसके साथ वह अन्य स्नायुविक रोगों का शिकार बन जाता है, जिससे उसकी समायोजन की प्रक्रिया खंडित होती है। ऐसे में उस व्यक्ति को सहायता की जरूरत होती है। उसको वास्तविकता का सही अर्थ समझाने के लिए उसकी मनो-सामाजिक प्रक्रिया को समझना पड़ेगा, जिसमें प्रत्यक्षीकरण महत्वपूर्ण प्रक्रिया है।

3.8 बोध प्रश्न

1. व्यक्ति के व्यवहार में संवेदना की भूमिका को स्पष्ट करें।
2. संवेदन प्रक्रिया का विश्लेषण करें।
3. संवेदना के प्रकारों की चर्चा करते हुए उसकी विशेषताओं की चर्चा कीजिए।
4. प्रत्यक्षीकरण का अर्थ स्पष्ट करते हुए उसमें शामिल प्रक्रियाओं का वर्णन कीजिए।
5. प्रत्यक्षीकरण के निर्धारकों पर चर्चा करते हुए उसके सिद्धांत पर चर्चा कीजिए।
6. संवेदना और प्रत्यक्षीकरण के बीच अंतर स्पष्ट कीजिए।
7. व्यक्ति प्रत्यक्षीकरण की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।

3.9 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रन्थ

मिश्र, पी. डी. (1985). *सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य* (8th ed.). लखनऊ: उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान

सिंह, आर. एन. (2010). *आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान*. आगरा: अग्रवाल पब्लिकेशन्स.

कप्पुस्वामी, बी. (1975). *समाज मनोविज्ञान: एक परिचय* (5th ed.). पंचकुला: हरियाणा साहित्य अकादमी.

Raithus, S. A. (1984). *Psychology. USA* : holt, rinehart and winston.

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई-4 अभिवृत्ति

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 मनोवृत्ति
4.3 मनोवृत्ति के लक्षण तथा विशेषताएँ
4.4 मनोवृत्तियों का वर्गीकरण
4.5 मनोवृत्तियों का निर्माण तथा परिवर्तन
4.6 मनोवृत्ति मापन विधियाँ
4.7 सारांश
4.8 बोध प्रश्न
4.9 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप-

1. व्यक्ति की मनोवृत्ति को स्पष्ट कर सकेंगे।
2. मनोवृत्ति के लक्षणों की पहचान कर सकेंगे।
3. व्यक्ति में पाई जाने वाली विभिन्न मनोवृत्तियों का वर्गीकरण कर सकेंगे।
4. मनोवृत्ति का निर्माण तथा उसमें परिवर्तन प्रक्रिया से अवगत होंगे।
5. मनोवृत्ति की मापन प्रणाली को स्पष्ट कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

अभिवृत्ति (Attitude) या मनोवृत्ति शब्द का उपयोग हम अपने दैनिक जीवन में करते रहते हैं। अत: इस शब्द से हम सब परिचित हैं। लेकिन, मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से मनोवृत्ति शब्द काफ़ी जटिल तथा विवादग्रस्त है। इसकी एक भी वैज्ञानिक परिभाषा उपलब्ध नहीं हैं, जिस पर सभी मनोवैज्ञानिक तथा समाजशास्त्री सहमत हों (सुलैमान, 2005, पृ. 185)। सन 1920 से लेकर सामाजिक अभिवृत्तियों का जितना अध्ययन हुआ है इतना सामाजिक विज्ञान में किसी अन्य शाखा का नहीं हुआ है। सामाजिक मनोविज्ञान में इसे केंद्रभूत समस्या के रूप में देखा जाता है। व्यक्तियों में सामाजिक अभिवृत्तियों का निर्माण समाजीकरण की प्रक्रिया का वास्तविक परिणाम है। ये अभिवृत्तियाँ व्यक्ति के शब्दों तथा कार्यों से झलकती हैं। दूसरे व्यक्तियों तथा समूहों के साथ व्यक्ति की अन्योन्यक्रिया, सांस्कृतिक अनुष्ठानों के प्रति

व्यवहार इन सब बातों से हम सामाजिक अभिवृत्ति का प्रभाव देख सकते हैं (कुप्पुस्वामी, 1972, पृ. 190)।

किसी व्यक्ति में एक बार अभिवृत्ति का निर्माण हो जाने के बाद उसमें परिवर्तन लाना अत्यंत जटिल कार्य होता है। इसलिए एक सामाजिक कार्यकर्ता को यह जानना आवश्यक बन जाता है कि व्यक्तियों में अभिवृत्ति का निर्माण कैसे होता है? मनोवैज्ञानिकों का मानना है कि अभिवृत्ति व्यक्ति के व्यवहार में परिवर्तन लाती है अगर ऐसा है तो यह कार्य कैसे होता है? इसको जानना भी आवश्यक हो जाता है। बी० कुप्पुस्वामी का मानना है कि "यह समुचित सामाजिक अभिवृत्ति के निर्माण द्वारा ही संभव है कि एक व्यक्ति हिंदू, मुसलमान या ईसाई बन जाता है।" पिछले काफ़ी समय से सामाजिक अभिवृत्ति निर्माण, परिवर्तन तथा मापन के बारे में पर्याप्त अध्ययन हो चुका है। इस इकाई में हम इसी अभिवृत्ति को विस्तार से समझेंगे।

4.2 अभिवृत्ति (Attitude)

मनोवृत्ति शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा से हुई हैं जिसका अर्थ योग्यता है। अर्थात व्यक्ति की योग्यता को निर्धारित करने तथा विकसित करने में मनोवृत्तियों का विशेष हाथ होता है। सामाजिक मनोविज्ञान से संबंध रखने वाले कई विद्वानों ने अभिवृत्ति को परिभाषित किया है। उनमें से कुछ की परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं-

बी० कुप्पुस्वामी (1972) अपनी पुस्तक सामाजिक मनोविज्ञान एक परिचय में लिखते हैं कि "अभिवृत्ति किसी व्यक्ति समूह या संस्था विशेष के प्रति व्यक्ति के समायोजन को प्रकट करती है। पर्यावरण के किसी खास पहलू के प्रति अभिवृत्ति का निर्माण यह दर्शाता है कि उस व्यक्ति में अनुक्रिया के लिए तत्परता निहित है।"

किम्बाल यंग (1960) अपनी किताब हैंडबुक *ऑफ सोशल सायकोलोजी* में अभिवृत्ति को परिभाषित करते हुए लिखते है कि *"आवश्यक रुप से मनोवृत्ति पूर्व ज्ञान रुपी प्रतिक्रिया का स्वरुप और क्रिया का आरंभ है, जिसका पूर्ण होना आवश्यक नहीं हैं। इसके अतिरिक्त प्रतिक्रिया की इस तत्परता में किसी प्रकार की विशिष्ट या सामान्य परिस्थिति निहित रहती है।"*

ड्रेवर जेम्स (1968) *डिक्शनरी ऑफ सायकोलोजी* में लिखते हैं कि *"मनोवृत्ति, मत, रुचि अथवा उद्देश्य की एक लगभग स्थायी तत्परता या प्रवृत्ति है, जिसमें एक विशेष प्रकार के ही अनुभव की आशा और एक उपयुक्त प्रतिक्रिया की तैयारी निहित होती है।"*

इनके बावजूद क्रेच तथा क्रेचफील्ड का मानना था कि *व्यक्ति की सामाजिक क्रियाएँ उसकी मनोवृत्तियों को प्रदर्शित करती है। ये किसी सामाजिक वस्तुओं के प्रति धनात्मक या ऋणात्मक मूल्यांकनों संवेगात्मक भावों तथा पक्ष या विपक्ष के क्रियात्मक झुकावों की अपेक्षाकृत स्थाई पद्धतियाँ हैं।* तथा ग्रीन

वी. एफ. का मानना है कि *मनोवृत्ति की अवधारणा में एक क्रमशीलता या प्रत्युत्तरों के बारे में भविष्यवाणी करना निहित है।*

पी. डी. मिश्र (1985) मानना है कि मनोवृत्ति *मस्तिष्क की एक स्थाई तत्परता होती है। जो ज्ञान एवं अनुभव द्वारा निर्मित होती है और व्यक्ति को कार्य अथवा प्रत्युत्तर के लिए तैयार करती है।* क्रेच तथा क्रेचफील्ड के अनुसार मनोवृत्तियाँ व्यक्ति में अनेक महत्वपूर्ण कार्य कराती हैं, यह व्यक्तित्व को निरंतरता प्रदान करती है। उसके दैनिक प्रत्यक्षीकरण और प्रक्रियाओं को अर्थपूर्ण बनाती है तथा उसके विभिन्न उद्देश्यों को प्राप्त करने में सहायता देती है।

अत: अभिवृत्ति विशिष्ट परिस्थितियों में किसी विशेष ढंग से अनुक्रिया करने की तैयारी अथवा तत्परता की स्थिति है। व्यवहार निर्धारण में मनोवृत्तियाँ महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। व्यक्ति की जैसी मनोवृत्तियाँ होती है वह उसी प्रकार का व्यवहार करते हैं, क्योंकि यह एक मानसिक दशा है जो स्नायु संबंधी तत्परता को प्रदान करती है।

4.3 मनोवृत्ति लक्षण तथा विशेषताएँ

कोई भी अभिवृत्ति जो किसी पर्यावरण के विशेष पहलू से संबंधित व्यवहार के लक्षण या उसकी संगत प्रणाली का निर्धारण करती है, आंतरिक कारक कहलाती है। वे कौन-सी कसौटियाँ है जो अभिवृत्तियों को आंतरिक कारक के रूप में दूसरे कारकों से पृथक करती है। बी कुप्पुस्वामी (1972) अपनी पुस्तक *सामाजिक मनोविज्ञान एक परिचय* में शेरिफ़ द्वारा दी गई कुछ कसौटियों को उल्लेखित करते हुए लिखते हैं कि अभिवृत्तियों को आंतरिक कारकों के रूप में दूसरे आंतरिक कारकों से पृथक नहीं किया जा सकता, बल्कि स्वयं अभिवृत्तियों के लक्षणों के बारे में ज्ञान भी प्राप्त किया जा सकता है। अभिवृत्ति के निम्नलिखित विशिष्ट लक्षण है-

1. अभिवृत्तियाँ जन्मजात नहीं होती।
2. अभिवृत्तियाँ न्यूनाधिक रूप से स्थायी होती हैं।
3. अभिवृत्तियों में व्यक्ति, वस्तु का संबंधभाव निहित हैं।
4. अभिवृत्तियाँ व्यक्तियों को तथा समूहों को भी सम्मिलित करती हैं।
5. अभिवृत्तियों में अभिप्रेरक-प्रभावी गुण होते हैं तथा
6. अभिवृत्तियाँ समूह के सदस्यों में समान रूप में रहती हैं।

इन विशिष्ट लक्षणों के बावजूद अभिवृत्ति के सामान्य लक्षण निम्नलिखित हैं-

1. अभिवृत्ति सामाजिक स्थितियों के संबंध में बनती है तथा
2. अभिवृत्ति समूह के सब सदस्यों में जो विचलित हैं उन्हें छोड़कर बाकी में समान रूप में निहित रहती है।

ज्ञान शांति मैत्री

अभिवृत्ति के लक्षणों को देखने बाद हम इसकी विशेषताओं पर एक नज़र डालेंगे, जिससे अभिवृत्ति को समझने में हमें मदद मिलेगी। पी. डी. मिश्र (1985) ने अपनी पुस्तक *सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य* में निम्नलिखित मनोवृत्तियों की विशेषताओं की बात की है:

1. मनोवृत्ति सीखी जाती है।
2. मनोवृत्ति स्थाई होती है।
3. मनोवृत्तियों तथा संप्रेरणाओं में संबंध होता है।
4. मनोवृत्ति तथा विषयवस्तु में संबंध होता है।
5. मनोवृत्तियाँ व्यवहार के ढंग निश्चित करती है।
6. मनोवृत्तियाँ प्रायः व्यक्ति की आवश्यकताओं तथा समस्याओं से संबंधित होती है।
7. मनोवृत्ति का प्रभाव सापेक्ष होता है।
8. मनोवृत्ति का संबंध संवेग तथा भावना से होता है।
9. मनोवृत्ति पर व्यक्तित्व का प्रभाव पड़ता है।
10. मनोवृत्ति अमूर्त होती है।

4.4 मनोवृत्तियों का वर्गीकरण

मनोवृत्ति एक अमूर्त धारणा है इसलिए इसे किसी खास शब्दावली के अंतर्गत वर्गीकृत करना या प्रकारों में बांटना असंभव है। फिर भी कुछ विद्वानों ने समाज में पाई जाने वाली अभिवृत्तियों के चलन को एकत्रित कर वर्गीकृत किया है। इसमें आलपोर्ट महत्वपूर्ण हैं। पी डी. मिश्र (1985) अपनी किताब *सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य* में आलपोर्ट को उद्धृत करते हैं। आलपोर्ट ने मनोवृत्तियों को तीन वर्गों में विभक्त किया है:

सामाजिक मनोवृत्तियाँ – यह मनोवृत्तियाँ सामाजिक स्थिति परिस्थिति के परिणामस्वरुप बनती है। इस अभिवृत्ति के कारण व्यक्ति में समाज के प्रति दृष्टिकोण का विकास होता है। इस दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप व्यक्ति सहयोग करता हैं तथा समरूपता का भाव भी आता है। उदाहरण के लिए एक बच्चों में इस अभिवृत्ति को देखा जाता है कि अगर उसके दोस्त ने स्कूल में खाना बाँटकर खाया है, तो वह भी उसके साथ खाना बाँटना शुरू करता है। यह लेन-देन की प्रवृत्ति विकसित ही जाती है। वहीं कोई बालक/बालिका, जिसके साथ कोई खाना बाँटकर नहीं खाता ऐसे में वो भी कभी अपना सामान किसी के साथ बाँटना नहीं चाहेगी। दोनों के साथ विभिन्न परिस्थितियाँ है इस कारण अलग-अलग मनोवृत्ति का विकास हुआ।

विशिष्ट व्यक्तियों के प्रति मनोवृत्तियाँ- समाजीकरण के परिणामस्वरुप व्यक्ति अंतर्क्रिया करना सीखता है और इस अंतर्क्रिया द्वारा अनेक व्यक्तियों से संबध स्थापित करता है। उसके व्यवहार में भिन्नता

इसीलिए होती है, क्योंकि वह व्यक्तियों की विशेषताओं तथा संबंधों से परिचित हो जाता है। उसकी मनोवृत्ति माता-पिता भाई-बहन तथा अन्य व्यक्तियों के साथ भिन्न-भिन्न होती है।

विशिष्ट समूहों के प्रति मनोवृत्ति- इन मनोवृत्तियों की उत्पत्ति समूहों के संबंध में ज्ञान प्राप्त करने के पश्चात होती है। जब व्यक्ति किसी समूह के विषय में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से कोई जानकारी प्राप्त करता है तो वह उसी के अनुरुप सोचने लगता है, जैसे-धार्मिक समूह, राजनैतिक समूह, जातीय समूह, विद्यालय, कारखाना आदि। उदाहरण के लिए एक भारतीय का पाकिस्तानी व्यक्ति के प्रति क्या रवैया होगा? यकीनन भारत में पले एक व्यक्ति के मन में विभाजन के समय की चीखें गूंज रही होगी। वहीं दूसरे पड़ोसी मुल्क नेपाल के प्रति दया भाव क्यों? इस तरह की अभिवृत्ति इसलिए बनी है, क्योंकि भारत के लिखित इतिहास में पाकिस्तान को एक दुश्मन के रूप में चित्रित गया है। साथ ही सरहद की तनावपूर्ण स्थिति पाकिस्तान के नागरिकों के प्रति द्वेष उत्पन्न करता है। सामूहिक सहमति द्वारा इसमें और इज़ाफा ही होता है। नेपाल के प्रति ऐसा कुछ भाव न होने के कारण एक नेपाली के साथसौहार्दभरा व्यवहार होता है। इन दो मनोवृत्ति से पता चलता है कि कैसे विशिष्ट मनोवृत्ति का निर्माण होता है।

इन तीन वर्गीकरणों के बावजूद समाज में प्रचलित अभिव्यक्तियों को एकत्रित कर उन्हें सामान्य और विशिष्ट **दो** प्रकारों में विभाजित किया जा सकता है। सामान्य मनोवृत्तियाँ वे हैं जो किसी व्यक्ति समूह घटना आदि के प्रति होती है। उदाहरण के लिए यह माना जाता है कि शहर के लोग चालाक होते हैं तथा गाँव के लोग भोले-भाले, सीधे-सादे होते हैं। दूसरे प्रकार में विशिष्ट मनोवृत्ति को रखा जाता है जिसका संबंध विशिष्ट व्यक्ति या परिस्थिति से होता है। उदाहरण के लिए माता-पिता के प्रति मनोवृत्ति एक विशिष्ट मनोवृत्ति है। इसमें माता-पिता और वह व्यक्ति के संबंध के दर्शाता है। दूसरे उदाहरण से हम विशिष्ट परिस्थिति जन्य अभिवृत्ति को समझेंगे। भारतीय जनमानस में यह अभिवृत्ति देखी जाती है कि किसी व्यक्ति के बाद उसके अच्छे-बुरे सारे कर्म उसी के साथ चले जाते हैं। इसलिए यह देखा गया है कि चाहे चोर या डाकू की मृत्यु हुई हो लोगों के मुँह से यही सुनने को मिलता है"आदमी अच्छा था"

4.5 मनोवृत्तियों का निर्माण तथा परिवर्तन

मनोवृत्ति के निर्माण की प्रक्रिया मनुष्य के साथ-साथ चलती है। इस प्रक्रिया में विभिन्न कारक अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। साथ ही मनोवृत्ति की अपनी अलग से कोई निर्माण प्रक्रिया घटित नहीं होती, बल्कि अन्य अभिप्रेरकों, लक्ष्य निर्धारण तथा सामाजिकता की प्रक्रिया से गुजरते हुए उनका विकास सहज रूप से होने लगता है। मनोवृत्ति का निर्माण कार्य अन्य कई स्थितियों में किसी प्रबल माध्यम (जो एक व्यक्ति, समूह या समूदाय हो सकता है) के द्वारा किया जाता है। इसका अर्थ यह होता है कि यदि अभिवृत्ति का निर्माण किया जा सकता है तो इसमें परिवर्तन लाना भी संभव है। पी. डी. मिश्र के अनुसार इस अभिवृत्ति निर्माण मेंनिम्नलिखित कारक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते है

1. सांस्कृतिक कारक
2. सामाजिक या सामूहिक कारक

3. सामाजिकता सीखना
4. प्रेरणात्मक कारक
5. मनोवैज्ञानिक कारक
6. उद्दीपक
7. परिचय प्रगाढ़ता
8. क्रियात्मक कारक
9. सूचना एवं प्रसार
10. व्यक्तित्व

सांस्कृतिक कारक के अंतर्गत आने वाले समाज के रीति-रिवाजों, धर्म, व्यवहार के तरीके, प्रथाएँ, परंपराएँ, मानक तथा नियम यह सब मनुष्य समाज में रहते हुए उम्र के साथ-साथ अन्य लोगों का अवलोकन करके सीखता हैं। व्यक्ति जिस परिवेश में पला-बढ़ा है उसी के अनुरूप उसकी मनोवृत्ति का विकास होता है।

व्यक्ति जिस समाज में या समूह में अधिवास करता है उस समाज या समुदाय का असर उसके अभिवृत्ति पर देखा जा सकता है इसे **सामाजिक या सामूहिक कारक** कहते हैं। उदाहरण के लिए भारत जैसे समाज में महिलाओं के लिए जीन्सपहनने की फैशन को नकारात्मक दृष्टिकोण से देखा जाता था इस कारण काफ़ी महिलाओं को इसके दंश झेलना पड़ता था। यह स्थिति आज भी कई गाँवों में हैं। इसलिए कई सारी महिलाएँ शहर में रहते हुए इस फैशन को अपनाती है, किंतु गाँव जाते समय वही साड़ी, ड्रेस पहनना पसंद करती है। गाँव को समाज या समुदाय द्वाराउनके इस व्यवहार की आलोचना बचने के लिए वे ऐसा करती हैं।

व्यक्ति समाज में रहकर विभिन्न संस्थाओं के साथ जुड़कर समाजीकरण की प्रक्रिया के अंतर्गत विभिन्न व्यवहार सीखता है इसे **सामाजिकता सीखना** कहते हैं। अभिवृत्ति निर्माण में इस प्रक्रिया की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। प्राथमिक समूह परिवार के रूप में जुड़कर व्यक्ति बहुत कुछ सीखता है। इसमें वे सारे कर्मकांड भी सीख लेता है। उदाहरण के लिए भारत में किसी भी शुभ कार्य की शुरुआत नारियल फोड़कर की जाती है। आज के तार्किक युग में भी यह धारणा ज्यों-की-त्यों बनी है, क्योंकि यह समाज द्वारा सीखा हुआ व्यवहार है। ऐसे व्यवहार के लिए किसी तर्क या विज्ञान की मान्यता जरूरी नहीं होती है।

वह प्रेरणा ही होती है जिसके अंतर्गत व्यक्ति लक्ष्य निर्धारण कर अपनी आवश्यकताओं की संतुष्टि करता है। अभिवृत्ति निर्माण में **प्रेरणात्मक कारक** महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। व्यक्ति जिन प्रेरक तत्वों की संतुष्टि कर लेता है या उसे पूरा करते समय कोई व्यवधान उत्पन्न नहीं होता उसके प्रति व्यक्ति मनोवृत्ति सकारात्मक बन जाती है। इसी के आधार पर व्यक्ति की रुचियाँ तथा आकांक्षाएँ तय होती है।

मनोवैज्ञानिक कारकों के अंतर्गत स्वभाव, मानसिक क्षमता, बुद्धि, आशा, इच्छा, प्रत्यक्षीकरण आदि विशेषताएँ आती हैं। परिवेश जिस तरह से है उसी तरह से व्यक्ति की राय बनती है। उदाहरण के लिए

हिंदुओं में गोमांस खाना गलत माना गया है। उसकी मानसिकता में यह रचबसा है। ऐसे में उसकी कभी भी इच्छा नहीं होगी कि वो गोमांस खाए। इसलिए गोमांस खाने की प्रवृत्ति के विरोध में हिंदुओं में विरोधी मनोवृत्ति का विकास होगा।

उद्दीपक से तात्पर्य किसी वस्तु, घटना आदि से है, जो व्यक्ति को उद्दीप्त करती है। किसी उद्दीपक की बार-बार पुनरावृत्ति होती है तो उससे संबंधित भावनाएँ बनती है और मनोवृत्ति को दिशा प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए व्यक्तियों में इसी प्रक्रिया से कई आदतें विकसित होती है, जिसका रूपांतरण अभिवृत्ति में हो जाता है।

परिचय प्रगाढ़ता यह वह कारक है, जिसके आधार पर व्यक्ति किसी व्यक्ति, घटना आदि के प्रति अपनी राय तय कर लेता है। उदाहरण के लिए नए व्यक्ति के संबंध में कोई भी व्यक्ति अपनी राय प्रकट नहीं करता, किंतु उस व्यक्ति से परिचय बढ़ने के बाद उसके बारे में राय बनाने की क्षमता विकसित हो जाती है। इन कारकों के बावजूद क्रियात्मक कारक, सूचना एवं प्रसार तथा व्यक्तित्व आदि कारक भी महत्वपूर्ण हैं। व्यक्ति जिस तरह की क्रियाएँ करता है, धीरे-धीरे उन पर उसका विश्वास होने लगता है। इसलिए कई अभिवृत्तियों के निर्माण में क्रियाओं की भूमिका होती है। वर्तमान युग सूचना युग के रूप में जाना जाता है ऐसे में कई सारे माध्यम हैं जिनके द्वारा किसी समूह, समुदाय में एक खास अभिवृत्ति का निर्माण संभव हैं। इन सब में अभिवृत्ति निर्माण में महत्वपूर्ण कारक है व्यक्तित्व। समाज में विभिन्न व्यक्तित्व के लोग देखे जाते हैं। उनमें भिन्न-भिन्न प्रकार की अभिवृत्तियाँ भी पाई जाती है। उदाहरण के तौर पर बहिर्मुखी व्यक्तित्व तथा अंतर्मुखी व्यक्तित्व इन दो अलग-अलग व्यक्तित्व वाले लोगों की रुचि आवश्यकताएँ भिन्न-भिन्न होगी। अंतर्मुखी व्यक्तित्व का व्यक्ति भीड़ से अलग एकांत में रहना पसंद करेगा वही बहिर्मुखी व्यक्तित्व का व्यक्ति एकांत से दूर सदैव लोगों के साथ रहना पसंद करेगा। इन दोनों अभिवृत्ति निर्माण में उनका व्यक्तित्व महत्वपूर्ण भूमिका निभाएगा।

जैसे कि हमने बात की है मनोवृत्तियों का निर्माण संभव हैं तो उसमें परिवर्तन भी संभव हैं। सामाजिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में इस कई सारे साक्ष्य भी प्रस्तुत किए जाते हैं पी. डी. मिश्र (1985) का मानना है कि व्यक्ति के मनोवृत्तियों में परिवर्तन लाने के लिए निम्नलिखित उपाय कारगर हैं-

1. प्रचार
2. शिक्षा
3. संपर्क
4. प्रतिष्ठित व्यक्ति का प्रभाव
5. व्यक्तिगत अनुभव
6. संस्कृति का मिलाप

अभिवृत्ति निर्माण तथा परिवर्तन का उदाहरण

बीसवी सदी में अंतरराष्ट्रीय स्तर पर बड़े पैमाने पर परिवर्तन हुए हैं। इस आलोक में बी कुप्पुस्वामी (1972) भारतीय संदर्भ में अभिवृत्ति निर्माण तथा लोगों के अभिवृत्ति का परिवर्तन का उदाहरण देते हुए गांधी के सामाजिक कार्य को इंगित करते हैं। भारत में गांधी जी ने उन लाखोंलोगों की अभिवृत्तियों को बदलने के लिए विशाल कार्य हाथ में लिया, जो अंग्रेज़ी अधिराज्य के प्रति उदासीन थे अथवा वस्तुत भयभीत थे। उनहोंने भारतीयों में 'स्वराज्य' तथा लोकतंत्र के प्रति अनुकूल अभिवृत्ति विकसित करने और विदेशी शासन के विरुद्ध अभिवृत्ति बनाने का प्रयत्न किया। ठीक उसी समय उन्होंने अंग्रेजों की अभिवृत्ति को बदलने का प्रयास किया ताकि वे उपनिवेशवाद का अंत करने के अनुकूल हो सकें तथा निशस्त्र सत्याग्रहियों के विरुद्ध हिंसा का प्रयोग करने के प्रतिकूल हो सकें। उसके बाद उन्होंने हिंदूओं और मुसलमानों कीअभिवृत्ति को बदलने की कोशिश की, आपसी रिश्ते सौहार्दपूख ताकि हो सके। गांधीजी ने राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, शैक्षणिक तथा जिन अन्य क्षेत्रों में परिवर्तन उत्पन्न किए हैं, उन सभी की सूची देने की यहाँ औचित्यनहीं है। यह हमारी अभिवृत्तियों को पूर्ण तथा व्यापक रूप से परिवर्तन ही है, जिसके बल पर उन्होंने एक राष्ट्र का निर्माण किया, जिसने स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद आने वाली सभी कठिनाइयों को झेल लिया है।

स्रोत: बी. कुप्पुस्वामी, सामाजिक मनोविज्ञान एक परिचय, पृ. 202

उक्त कारकों का उपयोग कर मनुष्य में उचित अभिवृत्तियों का विकास कराया जा सकता है। इसका पहला और प्रमुख माध्यम है प्रचार, उदाहरण के तौर पर देखते हैं कि महिलाओं के प्रति बढ़ते हिंसाचार को रोकने के लिए पुरुष मानसिकता में बदलाव या महिलाओं के प्रति नज़रिए में बदलाव लाना आवश्यक है। अर्थात पुरुषों की इस अभिवृत्तिमें परिवर्तन की आवश्यकता है। ऐसे में विभिन्न माध्यमों द्वारा प्रचार कर पुरुषों की इस अभिवृत्ति को बदला जा सकता है। साथ ही इस अभिवृत्ति को बदलने के लिए'जेंडर संवेदना' कार्यशालाओं में पुरुषों तथा महिला दोनों को शिक्षित किया जा सकता है। दूसरी ओर हम देखते हैं कि यह अभिवृत्ति क्यों हैं? इसके कारणों के तह में जाते हैं तो पता चलता है कि भारतीय समाज में स्त्री-पुरुषों के बीच बातचीत की कमी है या इसके लिए महिलाओं के पास कोई जगह ही नहीं हैं। ऐसे में इन दो भिन्नता रखने वाले समूहों को लगातार एकत्रित कर दोनों के बीच विचार गोष्ठी आदि कार्यक्रमों का आयोजन कर संपर्क का दायरा बढ़ाने में मदद होगी। वे एक-दूसरे के साथ बातचीत करेंगे तो उनको एक दूसरे को समझने का मौका मिलेगा। जिससे वे वास्तविकता के साथ रूबरू हो पाएँगे। इन गतिविधियों से हो सकता है कि उनके मनोवृत्ति में बदलाव हो।

महिलाओं के प्रति होने वाले हिंसाचार को पुरुष जितना ज़िम्मेदार है उतनी स्त्री भी है। इसलिए उन्हें भी जागरूक बनाने का कार्य करना पड़ेगा। बहुत-सी महिलाओं को देखा गया हैं जो पुरुषों द्वारा होने वाले हिंसाचार को नियति मानकर चुप रहती है। ऐसे में उनके सामने एक उदाहरण के रूप में किसी सेलिब्रेटी अथवा प्रतिभावान स्त्री को लाकर खड़ा करना पड़ेगा। क्योंकि माना जाता है कि प्रतिभावान व्यक्तियों का

लोगों पर प्रभाव पड़ता है। ऐसे में महिलाओं का मनोबल बढ़ाने का काम प्रतिष्ठित लोगों द्वारा किया जा सकता है। बहुत सारे मामले में यह देखा गया है कि केवल कहने सुनने का कुछ लोगों पर प्रभाव नहीं पड़ता, क्योंकि महिलाओं में पुरुषों का अत्याचार रोज़मर्रा की बात लगती है। किंतु यही बात किसी अत्याचार पीड़िता से कहलवाई जाए तो उसके बातों का असर महिलाओं पर ज़्यादा होगा, क्योंकि उसके पास उन अत्याचार के विरुद्ध लड़ने का अनुभव है। सामान्य भाषा में कहे तो वो जो बोल रही है वह उसने किया होता है ऐसे में उसकी बातों में वास्तविकता महसूस कर स्त्री तथा पुरुष दोनों में परिवर्तन लाया जा सकता है। परिणामत: महिलाओं प्रति हिंसाचार की प्रवृत्ति में कमी आएगी।

इन परिवर्तन के उपायों के बावजूद भी कई सारे उपाय हैं, जिसका उपयोग कर व्यक्ति, समूह तथा समाज में किसी एक घटना, समस्या के प्रति लोगों की अभिवृत्ति में परिवर्तन लाना संभव हैं। हालांकि यह माना जाता है कि चरम अभिवृत्ति के लोगों में परिवर्तन की दर काफ़ी कम होती है।

4.6 मनोवृत्ति मापन विधियाँ

किसी भी अभिवृत्ति में पर्यावरण के कुछ पक्षों के संबंध में विश्वास या अविश्वास, स्वीकृति या अस्वीकृति तथा अनुकूलता या प्रतिकूलता का भाव निहित रहता है। अभिवृत्तियों को मापने के लिए ऐसे अनुमाप बनाए गए हैं, जिनमें से किसी विषय या विचाराधीन संस्था के अनेक पक्षों के बारे में संक्षिप्त कथनों का समावेश रहता है। प्रत्येक कथन किसी विश्वास के प्रति सहमति या असहमति की निश्चित मात्रा का प्रतिनिधित्व करता है (कुप्पुस्वामी, 1972, पृ. 196)। पी. डी. मिश्र (1985) का मानना है कि मनोवृत्तियों का अध्ययन व्यक्तित्व को समझने के लिए आवश्यक होता है मनोवृत्तियों के मापने की निम्नलिखित प्रमुख विधियाँ है-

- थर्स्टन स्केल
- लिकर्ट स्केल

थर्स्टन स्केल- थर्स्टन ने सर्वप्रथम सामजिक समस्याओं (जैसे- युद्ध, संतति विरोध, चर्च आदि) के विषय में मनोवृत्ति जानने के लिए मनोवृत्तियों के मापन की यह स्केल बनाई है। इस विधि में कथनों के जोड़े प्रस्तुत किए जाते है और व्यक्ति की सहमति या असहमति ज्ञात की जाती है। यदि किसी स्केल में 20 कथन है तो 190 तुलनात्मक निर्णय बनते हैं, जिस संबध में मापन करना होता है। उससे संबंधित प्रश्नों की पसंद या नापसंद दोनों के बीच में प्रश्न निर्माण करतेहैं। तथा प्रश्नों को क्रमबद्ध किया जाता है। इन प्रश्नों के जोड़ों को अनियमित क्रम से सेवार्थी के सामने प्रस्तुत किए जातेहैं। इस प्रक्रिया में सेवार्थी अपनी वरीयता भूल जाएगा और सहमति या असहमति व्यक्त करता है।

थर्स्टन ने समविस्तार पद्धति का विकास किया। इस पद्धति में किसी भी विचार को जानने के लिए 11 श्रेणियाँ होती है। अनुकूल व प्रतिकूल मनोवृत्ति की मात्रा ज्ञात करने के लिए ऐसा किया जाता है। बीच का स्थान या कथन न्यूट्रल होता है। दोनों ओर श्रेणियों को स्पष्ट करने वाले प्रश्न होते हैं। थर्स्टन ने अपनी इस

ज्ञान शांति मैत्री

विधि के लिए 300 सेवार्थियों (Respondent) को चुना था, लेकिन बाद के अध्ययनों से पता चला है कि विश्वस्त मूल्यांकन केवल20-30 सेवार्थियों की सहायता से प्राप्त किया जा सकता है।

लिकर्ट स्केल- यह विधि थर्स्टन के अनुमाप विधि से सरल है। इस विधि में भी विषय से संबंधित कथनों को एकत्रित करना पड़ता है। लिकर्ट ने इस स्केल का निर्माण अंतरराष्ट्रीय तथा नीग्रो लोगों की मनोवृत्तियों को जानने के लिए किया गया था। इसके धनात्मक तथा ऋणात्मक कथनों को अधिक से अधिक एकत्र किया जाता है। प्रत्येक कथन के सामने 5 स्तर बनाए जाते हैं, जैसे- अधिक सहमति, सहमति, निश्चित नहीं, असहमति, अत्याधिक असहमत। इन उत्तरों को 5-1 या 1-5 के रूप में उत्तर की अनुकूलता एवं प्रतिकूलता के अनुसार सांख्यिकीय मूल्य अंकित किया जाता है। इसप्रकार से उच्च प्राप्तांक अनुकूल अभिवृत्ति के परिचायक होते हैं। किसी विशेष अभिवृत्तिअनुमाप पर व्यक्तिगत प्राप्तांक उसके उन सभी क्रम निर्धारणों का योग है जो अनुमाप में प्रत्येक मद पर आधारित है। इस अनुमाप के प्राप्तांकों को केवल तत्संबंधी आधार पर ही व्यक्त किया जा सकता है। अर्थात इस आधार पर कि क्या प्राप्तांक ऊँचा है या नीचा और क्या उससे यह संकेत मिलता है कि व्यक्तिगत अभिवृत्ति अधिक अनुकूल है या अधिक प्रतिकूल है?

प्रयोगों के बाद पता चला है कि इन दो भिन्न अनुमाप वाली मापों में बहुत साधिक सहसंबंध पाया गया। लेकिन यह बात अवश्य ध्यान रखनी चाहिए कि थर्स्टन स्केल में एककों की निरपेक्ष पद्धति निहित है और वह अधिक विश्वसनीय है। यद्यपि लिंकर्ट की पद्धति में सेवार्थी द्वारा मूल्यांकन नहीं होता फिर भी हम इसे पूर्ण लाभप्रद पाते हैं। लिकर्ट स्केल का दूसरा लाभ यह है कि उसमेंविचार की गहनता तथा विचार का निर्देश भी पाया जाता है (कुप्पुस्वामी, 1972, पृ. 200)। इन अनुमापों के बावजूद समाजमनोविज्ञान के क्षेत्र में **बोगार्डस का स्केल**, **मास्टर स्केल** तथा **गटमैन स्केल** उपलब्ध हैं, जिसके आधार पर व्यक्ति के अभिवृत्तियों का मापन संभव हैं।

पी. डी. मिश्र (1985) का मानना है कि मनोवृत्ति में आंतरिक तथा मानसिक पक्ष निहित होते हैं। अत इसे सही-सही मापना बहुत कठिन है। अभिवृत्ति मापन में वैयक्तिक भिन्नताएँ, अभिवृत्ति की अमूर्तता तथा अभिवृत्ति को प्रभावित करने वाले कारकों की अधिकता के कारण अभिवृत्ति का वास्तविक मापन असंभव है। यह वे कारक हैं जो अभिवृत्ति मापन में कठिनाई पैदा करते हैं।

4.7 सारांश

विद्वानों का मानना है कि अभिवृत्तियों के बारे में हम केवल अनुमान लगा सकते हैं कि लोग परिस्थितियों तथा क्षेत्र विशेष के प्रति सकारात्मक या नकारात्मक रूप से अनुक्रिया करने के लिए किस प्रकार तत्पर हैं। इसके बाद ही अभिवृत्ति निर्माण किसी स्थिति विशेष के प्रति एक स्थिर तथा विशिष्ट प्रकार की प्रतिक्रिया को जन्म देता है। अभिवृत्ति परिवर्तन से तात्पर्य यह है कि किसी विषय या समस्याके प्रति व्यक्ति के दृष्टिकोण में परिवर्तन। इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि अभिवृत्ति निर्माण तथा अभिवृत्ति परिवर्तन दोनों ही स्वत:स्फूर्त नहीं हैं। अभिवृत्ति निर्माण तथा अभिवृत्ति परिवर्तन इन दोनों में भी

अंतरवैयक्तिक-संबद्ध निहित होते हैं। अर्थात अभिवृत्ति निर्माण तथा परिवर्तन में आंतरिक तथा बाह्य दोनों प्रकार के कारक शामिल होते हैं। आंतरिक कारकों में व्यक्तियों के प्रेरक एवं उनके आदर्श आदि सम्मिलित होते हैं। बाह्य कारकों में व्यक्ति के अनुभव तथा समूह के अन्य लोगों से प्राप्त सूचना-संचार आदि शामिल होते हैं।

4.8 बोध प्रश्न

1. मनोवृत्ति को परिभाषित करते हुए उसकी अवधारणा को स्पष्ट करें।
2. मनोवृत्ति के लक्षण तथा विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।
3. मनोवृत्तियों के विभिन्न वर्गीकरणों पर चर्चा करें।
4. मनोवृत्ति का निर्माण तथा परिवर्तन सोदाहरण स्पष्ट करें।
5. मनोवृत्ति मापन विधियों पर चर्चा करें।

4.9 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

कुप्पुस्वामी, बी. (1972). *समाज मनोविज्ञान एक परिचय* (पंचम ed.). (श. ए. शशि, Trans.) पंचकुला: हरियाणा साहित्य अकादमी.

सुलैमान, मु. (2005). *उच्चतर समाज मनोविज्ञान* (पुनर्मुद्रित ed.). दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास.

मिश्र, पी. डी. (1985). *सामाजिक वैयक्तिक सेवा कार्य* (6th ed.). लखनऊ: उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान

James, D. (1968). *Dictionary of Psychology*. London: Penguin.

N.A. (8, June 2016). *https://en.wikipedia.org/wiki/Attitude_(psychology)*. Retrieved June 09, 2016, from en.wikipedia.org: https://en.wikipedia.org/wiki/Attitude_(psychology)

ज्ञान शांति मैत्री

खंड - 4

व्यक्तित्व के सिद्धांत

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई-1 फ्रायड एवं जुंग

इकाई की रूपरेखा

1.0 उद्देश्य
1.1 प्रस्तावना
1.2 सिग्मंड फ्रायड
1.2.1 मनोविश्लेषण
1.3 स्थलाकृतिक संरचना
1.4 संरचनात्मक मॉडेल
1.5 मानसिक ऊर्जा तथा मूल प्रवृत्ति का सिद्धांत
1.6 मनोलैंगिक विकास की अवस्थाएँ
1.7 दुश्चिंता तथा रक्षा तंत्र
1.8 कार्ल गस्टेव जुंग
1.9 वैश्लेषिक मनोविज्ञान
1.10 अभिवृत्ति एवं कार्य
1.11 व्यक्तित्व विकास की अवस्थाएँ
1.12 समाज कार्य में प्रासंगिकता
1.13 सारांश
1.14 बोध प्रश्न
1.15 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

1.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप -

1. सिग्मंड फ्रायड के विभिन्न अवधारणाओं को समझा सकेंगे।
2. मनोविश्लेषण के उत्पत्ति पर बात कर सकेंगे।
3. मनो-लैंगिक व्यक्तित्व विकास के चरणों को रेखांकित कर सकेंगे।
4. चिंता, मूल प्रवृत्ति आदि अवधारणाओं को स्पष्ट कर सकेंगे।
5. वैश्लेषिक मनोविज्ञान को जान पाएंगे।
6. जुंग के व्यक्तित्व विकास प्रक्रिया को समझा सकेंगे।

1.2 प्रस्तावना

बीसवी सदी के शुरुआत में विश्व को सबसे ज़्यादा प्रभावित करने वाले विद्वानों में से एक सिग्मंड फ्रायड (Sigmund Freud) (1856-1939) भी थे। पढ़े-लिखे लोग किसी अन्य मनोविज्ञानी को जाने या न

ज्ञान शांति मैत्री

जाने, किंतु फ्रायड का नाम और उसके विचारों को (गलत ही सही) अवश्य जानते हैं। आज भी बहुत सारे ऐसे लोग हैं जो फ्रायड के विचारों को ही मनोविज्ञान समझते हैं (अजीमुर्रहमान अशराफ़, 1992, पृ. 387)। वर्तमान में ऐसी कोई ज्ञान शाखा नहीं होगी, जिसमें फ्रायड के विचारों को नहीं पढ़ा जाता हो। साहित्य, कला, दर्शन, जैसे सदियों पुराने ज्ञान के क्षेत्र को फ्रायड के विचारों ने प्रभावित किया है। ऐसे में समाज कार्य भी इससे अछूता नहीं रहा है। समाज कार्य में मेरी रिचमंड की दो पुस्तकें, *सोशल डायग्नोसिस* (1917) एवं *व्हाट इज ए सोशल केस वर्क* (1922) बाइबल की तरह पढ़ी, पढ़ाई जाती हैं। समाज कार्य शिक्षा, व्यवसाय को लेकर अन्य विद्वानों के टिका-टिप्पणी के प्रतिउत्तर में मेरी रिचमंड ने इन दो किताबों की रचना की थी। इन किताबों पर समकालीन विद्वानों का असर दिखता है। ख़ास कर मनोविज्ञान से संबंधित सिग्मंड फ्रायड का। यही कारण रहा होगाकि इसमें निदान, ट्रीटमेंट जैसे मेडिकल के शब्दों का उपयोग हुआ है।

समाज कार्य में सेवार्थी को समझने के लिए आज भी फ्रायड के विभिन्न सिद्धांतों का अध्ययन किया जाता है। मनोविश्लेषण (Psychoanalysis), संरचनात्मक मॉडेल (Structural Model) तथा स्थलाकृतिक संरचना (Topographical structure) और मनोलैंगिक विकास (Psychosexual Development) सिद्धांत का समाज कार्य में काफ़ी गहनता से अध्ययन किया जाता है। व्यक्ति को समझने तथा उसके व्यक्तित्व को समझने तथा इतना ही नहीं उसकी महत्वाकांक्षा तथा बचाव तंत्रों को भी समझने के लिए समाज कार्य में सिग्मंड फ्रायड केविचारों को समझना आवश्यक माना जाता है।

दूसरी ओर फ्रायड के साथ कार्यरत कार्ल जुंग(Carl Jung 1875-1961), जिन्होंने फ्रायड की कुछ अवधारणाओं को नकारते हुए विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान की स्थापना की थी। जुंग के भी बहुत से सिद्धांतों को आवश्यक रूप से समाज कार्य मेंशामिल किया जाता है।

इस इकाई में हम सिग्मंड फ्रायड और कार्ल जुंग दोनों के सिद्धांतों को समझेंगे। दोनों ही विद्वानों के विचारों का असर समाज कार्य के विभिन्न प्रणालियों, मॉडेल तथा तकनीकों पर पड़ा है।

1.2सिग्मंड फ्रायड

सिग्मंड फ्रायड का जन्म 6 मई 1956 में औस्ट्रिया में हुआ। तीन साल की उम्र में वे अपने परिवार के साथ

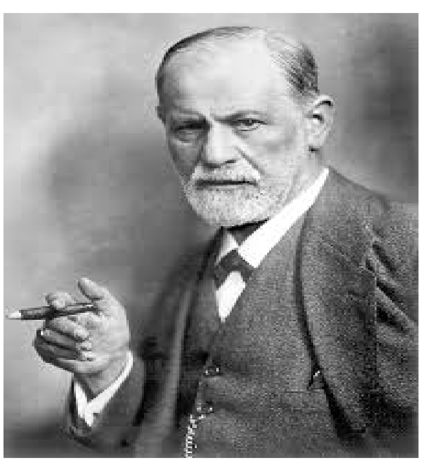

वियाना चले गए। यहीं उन्होंने अपना जीवन बिताया, किंतु हिटलर के नाजी विद्रोह के कारण उन्हें लंदन जाना पड़ा। वहीं उनकी मृत्यु हुई। फ्रायड अपने भाई-बहनों में सबसे बड़े थे। फ्रायड ने चिकित्साशास्त्र में एम. डी. की उपाधि प्राप्त की थी। फ्रायड का झुकाव तंत्रिकाविज्ञान(Neurology) में था। कुछ वर्षों बाद उन्होंने अपनी निजी प्रैक्टिस शुरू की, हालांकि उनका यह व्यवसाय ज़्यादा सफल नहीं रहा। 1881 में उनका संपर्क जोसेफ ब्रियुअर से हुआ। इनके साथ मिलकर सन 1895 में बहुचर्चित शोधपत्र **स्टडीज इन**

हिस्ट्रिया का प्रकाशन किया। इस शोधपत्र में दोनों ने मिलकर बार्था पपेनहेम (Bertha Papenheim) के हिस्ट्रिया का विश्लेषण Anna O (बदला हुआ नाम) किया था। मनोविज्ञान के विद्वानों का मानना है कि यहीं से मनोविश्लेषण के बीज अंकुरित हो रहे थे।यह मनोविश्लेषण की शुरुआत थी, जिसने आगे चलकर विभिन्न सिद्धांतों के निर्माण में सहयोग प्रदान किया। वह विभिन्न सिद्धांत तथा मनोविश्लेषण को विस्तार से हम यहाँ समझेंगे।

1.2.1 मनोविश्लेषण

मनोविश्लेषण की औपचारिक शुरुआत 1895 से मानी जाती है। इस समय तक मनोविज्ञान के क्षेत्र में वूँटवादियों का वर्चस्व था। मनोविज्ञान के क्षेत्र के अन्य विचारधाराओं का विकास विश्वविद्यालयों में हुआ किंतु मनोविश्लेषण का जन्मस्थल मानसिक रोगों के इलाज के क्रम में मानसिक चिकित्सालयों में हुआ (अजीमुर्रहमान. अशराफ़, 1992, पृ. 388)। बाकी विचारधाराओं से अलग मनोविश्लेषण ने**व्यक्तित्व तथा उसकी विकृतियों को अपना केन्द्रीय अध्ययन विषय** माना। साथ ही अपने **अध्ययन विधि में नैदानिक अवलोकन** को शामिल किया। मनोविश्लेषण ने अपने आप को शुद्ध विज्ञान से हटाकर **व्यवहारिकता पर ज़ोर** दिया अर्थात मानसिक रोगियों के सुधार को अपना लक्ष्य बनाया।

मनोविश्लेषण के निर्माण के लिए एक लंबी अवधि लगी है। लगभग चालीस वर्षों तक इसका निर्माण कार्य चलता रहा इसलिए मनोविश्लेषण के अंतिम रूप निश्चिति में काफ़ी समय लगा। फ्रायड के अपने विचार भी समय-समय पर बदलते रहें। यही कारण हो सकता है कि फ्रायड के विचार को मानने वालों में मनोविश्लेषण के विभिन्न रूप बाद के समय में उभरते रहें, जिनमें नवफ्रायडवाद महत्वपूर्ण था। यह देखने को मिलता है कि फ्रायड के मनोविश्लेषण को मानने वालों का एक गुट और दूसरा गुट नवफ्रायडवादियों का था, जिसकी बुनियाद मनोविश्लेषण पर ही टिकी है। फ्रायड के मनोविश्लेषण की काफ़ी आलोचनाएँ भी हुई है, इस कारण उसके विचारों को नकारा भी गया है। किंतु इसके सिद्धांतों की बुनियादी अवधारणा इतनी महत्वपूर्ण है कि उसको नकारने के लिए नई धारणाओं का विकास करना पड़ेगा,जो फिलहाल असंभव है। इसे भारतीय मनोवैज्ञानिक गिरीश्वर मिश्र ऐसे कहते हैं कि"भलेही फ्रायड गलत है, फिर भी हमारे पास इसका दूसरा कोई विकल्प नहीं हैं।' फ्रायड के मनोविश्लेषण की मुख्य अभिधारणाएँ निम्नलिखित हैं, जिसपर सभी मनोविश्लेषणवादियों की सहमति है-

1. सभी मानसिक घटनाएँ पूर्ण रूप से निर्धारित होती हैं।
2. मानव व्यवहार के निर्धारण में अचेतन की महत्वपूर्ण भूमिका होती है।
3. मानव मन अभिप्रेरणात्मक बल का भंडार है, जो सभी प्रकार के व्यवहारों की व्याख्या में सक्षम है।
4. वर्तमान व्यवहार के उत्पत्ति में व्यक्ति के सभी बीते हुए अनुभवों की भूमिका होती है।

यह अभिधारणाएँ (Postulates) इसलिए महत्वपूर्ण है, क्योंकि इनके बगैर फ्रायड के विचारों को नहीं समझा जा सकता। अभिधारणाओं को देखने के पश्चात हम फ्रायड के विभिन्न विचारों की ओर अग्रसर होते हैं। इस अनुक्रम में हम सबसे पहले स्थलाकृतिक संरचना पर विचार करेंगे।

1.3 स्थलाकृतिक संरचना (Topographical Structure)

फ्रायड को विश्वास था कि मनुष्य अपनी इच्छाओं, यौन-कामनाओं और आवश्यकताओं की पूर्ति में नाकाम रहने पर होने वाली तकलीफ़ के एहसास को दबाता है। इस प्रक्रिया में उसके भीतर अपूर्ण कामनाओं के प्रति अपराध-बोध पैदा हो जाता है, जिससे कुंठा, आत्मालोचना और एक सीमा के बाद आत्म-हीनता और आत्म-घृणा की अनुभूतियाँ जन्म लेती हैं। यह तमाम कार्यव्यापार अवचेतन के भीतर चलता है। यह अवचेतन हमेशा दबा हुआ नहीं रहता और सपनों के रूप में या घटनाओं के प्रति अनायास या तर्कसंगत न लगने वाली अनुक्रियाओं (जैसे तेज़ रफ़्तार से कार चलाना या किसी परिजन पर गुस्सा करने लगना) के रूप में सामने आता है।

फ्रायड मन को तीन भागों (इड यानी कामतत्व, ईगो यानी अहं और सुपरईगो यानी पराअहं) में बाँट कर देखते हैं। उन्होंने अहं को यथार्थमूलक और आत्ममोह को जन्म देने वाले दो रूपों में बाँटा है। यथार्थमूलक अहं की मध्यस्थता सुख की तरफ़ धकेलने वाले कामतत्व और यथार्थ का समीकरण विनियमित करती है। इसी के प्रभाव में अपनी कामनाएँ पूरी करने के साथ-साथ व्यक्ति सामाजिक अपेक्षाओं पर भी ख़रा उतरने की कोशिश करता है। फ्रायड ने यह स्पष्ट किया कि मानसिक जीवन का एक छोटा सा हिस्सा ही चेतन होता हैं। अर्द्धचेतन से तात्पर्य वैसे मानसिक तत्वों से होता है, जो चेतन में तो नहीं होते है। परंतु थोड़ा सा प्रयास करने पर उन्हें चेतना में आसानी से लाया जा सकता है। यही कारण है कि इसे प्राप्त स्मृति भी कहा जाता है। अर्द्धचेतन की अंतर्वस्तु के दो स्रोत होतेहैं- पहला स्रोत *चेतन, प्रत्यक्षण* है। व्यक्ति जो कुछ भी प्रत्यक्षण करता है। वह थोड़ी देर के लिए चेतन में रहता है और बाद में जब व्यक्ति का ध्यान किसी दूसरी चीज़ पर जाता है, तो वह तुरंत ही अर्द्धचेतन में चला जाता है। दू*सरा स्रोत* अचेतन है। अचेतन की कुछ इच्छाएं अर्द्धचेतन होते हुए चेतन में प्रवेश करती है और अर्द्धचेतन की अवस्था में थोड़े समय के लिए बने होते है। ऐसे विचार या इच्छाएं काफ़ी आसानी से चेतना से बाहर जो जाते है।

फ्रायड के अनुसार *अचेतन* मन का सबसे बड़ा हिस्सा होता है। इसमें वे सारे मानसिक तत्व होते है, जो चेतन में नहीं आ पाते है या बड़ी कठिनाई से चेतन में आ पाते है। इसमें बाल्यावस्था की इच्छाएं, लैंगिक इच्छाएं तथा मानसिक संघर्ष आदि से संबंधितइच्छाएं होती है, जिन्हें सामान्यतः व्यक्ति अपने दिन प्रतिदिन की जीवन में पूरा नहीं कर पाता है। फ्रायड का मत था कि अचेतन की इच्छाओं का महत्व मानव व्यवहार के निर्धारण में काफ़ी हैं। इसलिए माना जाता है कि अचेतन की इच्छाएं चेतन में विकृत रुप अपनाकर प्रवेश करती है। व्यक्ति अपनी दैनिक जीवन में जो गलतियाँ करता है, उसके पीछे अभिप्रेरणात्मक बल यही अचेतन की इच्छाएं ही होती है।

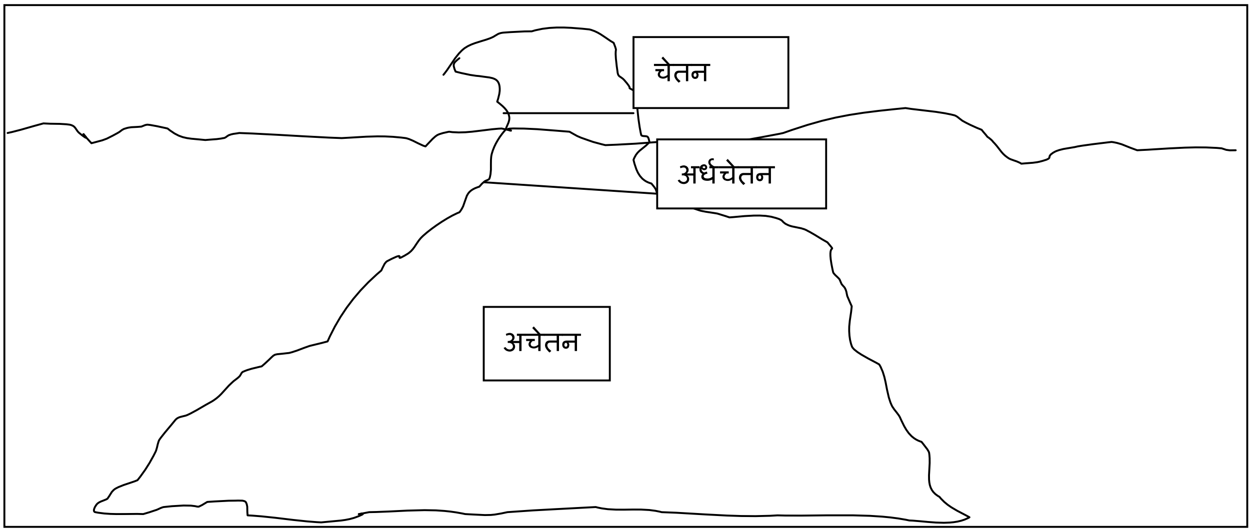

चित्र : 01 मन की संरचना

चित्र: 01 में देख सकते हैं कि चेतनतथा अचेतन के आकार के स्वरुप की तुलना पानी में डूबे हुए बर्फ के एक विशाल खंड से की गई हैं बर्फ के टुकडे का बड़ा भाग पानी में डूबा होता है, जो दिखाई नहीं देता है और जो दिखाई देता है, वह उपर का छोटा सा भाग होता है। ठीक उसी तरह से अचेतन विशाल बर्फ खंड का उपरी भाग के समान आकार में बड़ा होता है। जिस तरह वह बड़ा खंड व्यक्ति को दिखाई नहीं देता, ठीक उसी तरह अचेतन के बारे में स्वयं व्यक्ति कुछ नहीं जानता। अर्थात अचेतन के विस्तृत भंडार, जिसमें मूलतः दमित, कामुक, अनैतिक, असामाजिक तथा घृणित इच्छाएं होती है। इनसे व्यक्ति स्वयं अवगत नहीं रहता है।

ज्ञान शांति मैत्री

1.4 संरचनात्मक मॉडल (Structural Model)

फ्रायड ने मन को संरचनात्मक दृष्टिकोण से निम्नलिखित तीन भागों में बांटा है-

- इड (Id)
- ईगो (Ego)
- सुपर ईगो (Super Ego)

- **इड (Id)** व्यक्तित्व का जैविक तत्व होता है, जो जन्मजात होती है तथा व्यक्ति की शारीरिक सरंचना से इसका संबंधहोता है। इड (Id) की इच्छाएं एवं आवेग असंठित होते है तथाकिसी नियम तथा कानून को नहीं मानते है। इड (Id) अपनी इच्छाओं की तुरंत पूर्ति करना चाहता है तथा वह उसके परिणाम की चिंता कुछ भी नहीं करता है। फ्रायड ने इसे आनंद नियम

(Principles of Pleasure) की संज्ञा दी है। इसका वास्तविकता से कोई संबंध नहीं होता है। अतः यह समय बीतने या व्यक्ति की अनुभूतियों से परिवर्तित नहीं होता है। फ्रायड के अनुसार इड (Id) दो प्रक्रमों को अपनाकर तनाव दूर करने की कोशिश करता है। वे दो तंत्र है प्रतिवर्त क्रिया तथा प्राथमिक प्रक्रिया। प्रतिवर्त प्रक्रिया में प्राणी तनाव उत्पन्न करने वाले स्रोत के प्रति इड (Id) स्वतः प्रतिक्रिया करता है और तनाव को दूर करता हैं जैसे- खांसना, आंख मटकाना, छींकना आदि प्रतिवर्त क्रिया के कुछ उदाहरण हैं। प्राथमिक प्रक्रिया से तात्पर्य एक ऐसी प्रक्रिया से होती है, जिसमें तनाव दूर करने के लिए व्यक्ति वास्तविक तथा अवास्तविक के बीच अंतर नहीं कर पाता है। उदाहरण के लिए एक शिशु पूर्णतः प्राथमिक प्रक्रिया के सहारे ही अपना तनाव दूर करता है।

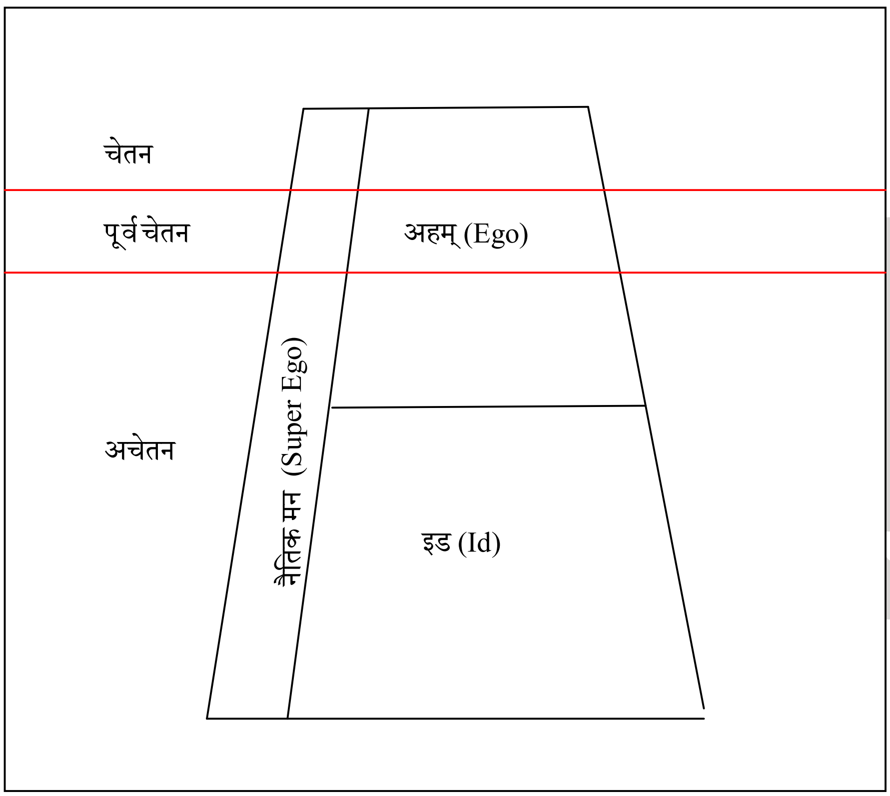

स्रोत : आर. एन. सिंह (2010). पृ. 324

जब शिशु कुछ बड़ा हो जाता है, तो उसके इड (Id) की प्रवृत्तियों से ही ईगो (Ego) का विकास होता है। वह व्यक्ति के पूरे जीवन काल तक विकसित होते रहता है।

- **ईगो (Ego)** मन का वह भाग होता है, जिसका संबंध वास्तविकता से होता है। यह वास्तविकता के नियमों द्वारा निर्धारित होती ह, जिसमें व्यक्ति सामजिक वास्तविकता को ध्यान में रखते हुए अपनी शारीरिक एवं मानसिक उर्जाओं का उपयोग करता है। यह नियम मूलप्रवृत्ति के तुष्टि की अनुमति तब देता है जब उसके लिए उपर्युक्त पर्यावरणीय अवसर होते हैं। इस तरह से

वास्तविकता के नियम का मूल उद्देश्य व्यक्तित्व में अखंडता बनाए रखना होता है।चूँकि ईगो (Ego) का संबंध बाह्य वास्तविकता से होता हैं अतः यह व्यक्तित्व का कार्यपालक या निर्णय लेने वाली शाखा होता है। चूँकि ईगो (Ego) अंशतः चेतन अंशतः अचेतन तथा अंशतः अर्द्धचेतन होता है। अतः यह तीनों स्तर पर निर्णय लेने का कार्य करता है। ईगो (Ego) द्वारा मूलतः दो तरह के कार्य होते है। पहला, यह रक्षा प्रक्रमों के सहारे धमकी भरे आवेगों को चेतन में आने से रोकता है तथा इस तरह चिंता को कम करता है। दूसरा, यह सुपर ईगो (Super Ego) एवं बाह्य दुनिया के बीच उत्तम संपर्क बनाए रखताहै।

- **सुपर ईगो (Super Ego)** व्यक्तित्व का नैतिक कमांडर होता है। ईगो के समान इसकी अपनी कोई उर्जा नहीं होती। इसका निर्धारण आदर्शवादी नियम द्वारा होता है। सुपर ईगो(Super Ego) इस अर्थ में ईगो (Ego) से भिन्न होता हैं कि इसका वास्तविकता से कोई संबंध नहीं होता है। इसलिए यह जो पूर्णता की मांग करता हैं वह पूर्णतः अवास्तविक होता है। फ्रायड ने सुपर ईगो (Super Ego) के दो उपतंत्र बतलाए है- अंतःकरण (Conscience) तथा ईगो-आदर्श (Ego-Ideal)। हालांकि फ्रायड इन दोनों के बीच अंतर करने पर कम बलडालते हैं। लेकिन इससे इतना तो पता चलता है कि एक बालक/बालिका कोई व्यवहार करने के बाद उसे दंड मिलताहै, तब उसमें अंतःकरण विकसित होता है, जिससे वह उस व्यवहार को दोहराने में कतराता है। वहीं दूसरी ओर बालिका/बालक कोई व्यवहार करने के बाद उन्हें पुरस्कार, प्रोत्साहन मिल जाता है ऐसे में उनमें ईगो आदर्श विकसित होता है।

अंत में फ्रायड ने यह भी स्पष्ट कर दिया कि मन के इन तीनों शाखाओं अर्थात इड(Id), ईगो (Ego), सुपर ईगो (Super Ego) के बीच कोई तीखा अंतर नहीं होता है। इन तीनों शाखाओं का विकास विभिन्न व्यक्तियों में भिन्न-भिन्न होता है। कुछ व्यक्तियों में सुपर ईगो (Super Ego) आधिक विकसित होता है तथा कुछ व्यक्तियों में इड (Id) अधिक विकसित होता है। एक सामान्य स्वस्थ व्यक्ति में इड (Id) ईगो (Ego) तथा सुपर ईगो (Super Ego) तीनों ही काफ़ी समन्वित होते हैं तथा एक दूसरे के साथ मिलकर कार्य करते हैं।

1.5 मानसिक उर्जा तथा मूल प्रवृत्ति का सिद्धांत

फ्रायड का मत था कि मानव जाति में एक जटिल उर्जा तंत्र होता है। उन्होंने दो तरह के उर्जा शक्ति का वर्णन किया हैं- दैहिक उर्जा तथा मानसिक उर्जा। दैहिक उर्जा की उत्पत्ति भोजन से होती है और इसका उपयोग शारीरिक क्रियाओं जैसे सांस लेना, टहलना, दौड़ना लिखना आदि में किया जाता है। मानसिक उर्जा की उत्पत्ति उत्तेजन के तंत्रिका-दैहिक अवस्था से होता है। उन्होंने यह भी मत जाहिर किया है कि ये दोनों उर्जाएं एक दूसरे मेंपरिवर्तित हो सकती है तथा उसका उपयोग मनोवैज्ञनिक क्रियाओं, जैसे चिंतन करने में किया जाता है। इड (Id) ही वह बिंदु है जो दैहिक उर्जा तथा मानसिक उर्जा के बीच मध्यस्तता करता है। फ्रायड का मानना है कि प्रत्येक व्यक्ति में इसकी मात्रा सीमित होती है और इसे व्यक्ति उन

मानसिक क्रियाओं को करने में खर्च करता है, जो विभिन्न तरह की आवश्यकताओं से उत्पन्न शारीरिक उत्तेजनाओं को कम करने के लिए करता है। इन शारीरिक उत्तेजनाओं या आवश्यकताओं के मनोवैज्ञानिक या मानसिक कल्पना या चित्रण को मूल प्रवृत्ति कहा जाता है। दूसरे शब्दों में किसी दैहिक आवश्यकता को पूरा करने के लिए जिस इच्छा या मनोवैज्ञानिक कल्पना का निर्माण होता है उसे मूल प्रवृत्ति कहा जाता है। जैसे प्यास कीमूल प्रवृत्ति शारीरिक कोशिकाओं में पानी की कमी से उत्पन्न होती है और पानी पीने की मानसिक इच्छा के रुप में अभिव्यक्त होती है। अतः मूलप्रवृत्ति एक साथ मिलकर व्यक्तित्व के कुल उर्जा का निर्धारण करती है। संक्षेप में मूलप्रवृत्ति एक तरह का आंतरिक प्रणोद(Drive) होता है, जो सतत अभिप्रेणात्मक बल के रुप में क्रिया करता है। मूल प्रवृत्ति की उत्पत्ति तो इड (Id) से अवश्य है परंतु उसका नियंत्रण ईगो(Ego) द्वारा होता है।

मूल प्रवृत्ति के चार मुख्य विशेषताएं होती हैंजो निम्नानुसार है:

- व्यक्ति की शारीरिक आवश्यकताओं कीतुष्टि करना मूल प्रवृत्ति का एक स्रोत होता है
- मूल प्रवृत्तिका एक निश्चित उद्देश्य होता है।

एक निश्चित समय में मूल प्रवृत्तिकी ये दोनों विशेषताएं लगभग स्थिर रहती है।

- मूल प्रवृत्तिके संतुष्टि के लिएएक निश्चित वस्तु होती है।
- मूल प्रवृत्ति में एक प्रेरकशक्ति होती है, जो व्यक्ति के सामर्थ्य को दर्शाती है।

1920 के बाद के लेखन में फ्रायड ने मूल प्रवृत्ति के दो प्रकारबताते हैं **जीवन मूल प्रवृत्ति** (life Instinct) तथा **मृत्यु मूल प्रवृत्ति**(Death Instinct)। जीवन मूल प्रवृत्ति को इरोस(Eros) तथा मृत्यु मूल प्रवृत्ति को थैनेटोस (Thanatos) भी कहा जाता है। जीवन मूल प्रवृत्ति में वे सारे बल होतेहैं, जो प्राणी के महत्वपूर्ण दैहिक प्रक्रियाओं को संयोजित करतेहैं तथा प्रजातियों के प्रजनन को प्रोत्साहित करते हैं। यौन मूल प्रवृत्तिको फ्रायड द्वारा काफ़ी अधिक महत्वपूर्ण रूप में दर्शाया गया हैं। यौन मूल प्रवृत्तिकी उर्जा को **लिबिडो** की संज्ञा दी गई है। फ्रायड यौन मूल प्रवृत्ति पद का प्रयोगथोडा विस्तृत अर्थ में करते हैं। लिबिडो से फ्रायड का तात्पर्य न केवल जननांगीक लैंगिक सुख से ही नहीं, बल्कि अन्य शारीरिक क्षेत्रों से उत्पन्न आनंद से भी है। मृत्यु मूल प्रवृत्तिमें वे सारे बल सम्मिलित होते हैं, जिससे प्रेरित होकर व्यक्ति ध्वंसात्मक कार्य करता है, जैसे- आत्महत्या, दूसरों को जान से मार देना, आक्रामकता, निष्ठुरता आदि। फ्रायड का मत है कि मृत्यु मूल प्रवृत्ति का आनुभाविक आधार होता है, क्योंकि प्रत्येक जीवित प्राणी में जीवहीनता की स्थिति (Inanimate State) में लौटने की प्रवृत्ति होती हैं। यही कारण है कि फ्रायड ने कहा हैं, ‘‘सभी के जीवन का लक्ष्य मृत्यु होता है।’

व्यक्ति में जीवन मूल प्रवृत्तितथा मृत्यु मूल प्रवृत्तिदोनों ही एक दूसरे के साथ अंतःक्रिया करते हैं तथा वास्तविकता के नियम के निर्देश के अनुरुप कार्य करते हैं। ये दोनों मूल प्रवृत्तियां एक साथ मिलकर भी कार्य करती हैं, जैसे- खाने की क्रिया का ही उदाहरण ले लिया जाए। खाने की क्रिया प्राणी के जीवन को

संपोषित करती है। लेकिन इसमें ध्वंसात्मक कार्य, जैसे- काटना, चबाना, निगलना आदि कार्य भी सम्मिलित होते हैं। कभी-कभी जीवन मूल प्रवृत्ति को तटस्थ भी कर देता हैं जैसा कि हम उस परिस्थिति में पाते हैं, जब एक ही व्यक्ति या वस्तु को कोई व्यक्ति प्यार करता है तथा घृणा भी करता है। कभी-कभी मृत्यु मूल प्रवृत्ति की प्रबलता अधिक बढ़ जाती है जैसा कि हम पाते है कि व्यक्ति कभी-कभी अपने प्रिय वस्तु या व्यक्ति को काफ़ी हानि पहुंचाता है।

1.6 मनोलैंगिक विकास की अवस्थाएं (Stages of Psycho-Sexual Development)-

फ्रायड का मानना है कि व्यक्तित्व विकास के दृष्टिकोण से किसी भी व्यक्ति के शुरूआती पांच वर्ष काफ़ी महत्वपूर्ण होते हैं फ्रायड व्यक्तित्व को मनोगत्यात्मक मानते हैं। उनके अनुसार शिशु में जन्म के समय से ही यौन शक्ति उपस्थित रहती है। फ्रायड ने इसे लिबिडो (Libido) कहा है। इसका विकास व्यक्ति के विकास के साथ-साथ चलता है। विभिन्न अवस्थाओं से गुज़रते हुए इसके क्षेत्र में भी परिवर्तन आता रहता है। फ्रायड द्वारा दी गई पांच अवस्थाएं निम्नलिखित हैं

मनोलैंगिक विकास की अवस्थाएं (Stages of Psycho-Sexual Development)		
अवस्था	आयु	कामुकता का क्षेत्र
मुख अवस्था (Oral Stage)	जन्म से एक वर्ष तक	मुंह
गुदावस्था (Anal Stage)	द्वितीय वर्ष तक	गुदा
लिंग प्रधान अवस्था (Phalic Stage)	तीन से छह वर्ष तक	जननेंद्रिय
अव्यक्त अवस्था (Latent Stage)	छह वर्ष से किशोरावस्था के प्रारंभ तक	लैंगिक ऊर्जा का उदात्तीकरण
जननेंद्रिय अवस्था (Genital Stage)	किशोरावस्था से आगे	विषमलिंगी कामुकता

ज्ञान शांति मैत्री

फ्रायड के अनुसार शिशु में जन्म के समय से शुरुआती एक साल तक कामुकता का क्षेत्र मुख होता है। चूसने, भोजन करने आदि प्रक्रिया से बच्चे आनंदित होते हैं। आपने देखा होगा की बच्चों को कोई भी चीज़ जब हम देते हैं, तो वह मुंह में ही डालता है। द्वितीय अवस्था में शिशु के कामुकता का क्षेत्र विस्थापित होकर गुदा क्षेत्र में आ जाता है। इस समय में बालक/बालिका मल-मूत्र त्यागने से संबंधित क्रियाओं से आनंद प्राप्त करते हैं। इसमें दो तरह की क्रियाएँ निहित हैं बहिष्कारक क्रियाएं तथा गुदा धारणात्मक क्रियाएं। पहली में बालक/बालिका माल/मूत्र त्यागने से लैंगिक सुख प्राप्त करता है। दूसरी प्रक्रिया में बालक/बालिका मल-मूत्र को रोककर रखता है, जिससे उसके मूत्राशय में हल्का तनाव उत्पन्न होता है। बालक/बालिका इससे भी आनंद की अनुभूति करतेहैं। फ्रायड का मानना है कि इन दोनों क्रियाओं से आगे चलकर व्यक्ति में दो अलग-अलग शीलगुणों का विकास होता हैं।

लिंग प्रधान अवस्था तीन से छह वर्ष के दौरान उत्पन्न होती है। इस अवस्था में कामुकता का क्षेत्र जननेंद्रिय हता है। बालक/बालिका इस अवस्था में अपने जननेंद्रिय को छू कर, मल कर तथा खींचने से जो संवेदनाए उत्पन्न होती है, उससे आनंद प्राप्त कर लेते हैं। इसी अवस्था में बालक में मातृ-मनोग्रंथि (Oedipus Complex) तथा बालिका में पितृ-मनोग्रंथि (Electra-Complex) का विकास होता है। लड़के का माता की ओर आकर्षित होना मातृ-मनोग्रंथि (Oedipus Complex) माना जाता है। इन संबंधों को पिता की मान्यता नहीं मिलेगी और कहीं उनको पता चलेगा तो वो मेरा शिश्न ही न काँट ले, यह डर बालक में बना रहता है। इसे फ्रायड बधियाकरण की चिंता के नाम से दर्शाते हैं। दूसरी ओर बालिकाओं में ठीक इसके विरूद्ध पिता के प्रति आकर्षण होता है, जिसे फ्रायड ने पितृ-मनोग्रंथि (Electra-Complex) का रूप दिया है। बालिकाओं में बालकों में पाई जाने वाली बधियाकरण की चिंता के प्रतिरूप में शिश्न ईर्ष्या जागरूक हो जाती है। इस ईर्ष्या का रूप यह होता है कि लड़की यह समझती है कि उसके पास अपने पिता, भाई जैसा शिश्न था जिसे सजा के रूप में उसकी माँ ने छिन लिया है। इसका परिणाम यह होता है कि वह माँ का द्वेष करती है। ऐसे में लड़कियों में बचपन से ही एक हीनता मनोग्रंथि का विकास होता है, जिसका उचित समाधान न होने के कारण व्यक्तित्व विकास पर इसका गहरा असर पड़ता है।

छह वर्ष से किशोरावस्था तक बालक/बालिका अव्यक्त अवस्था में होते हैं। इस समय में इनमें किसी भी प्रकार का कामुकता का क्षेत्र विकसित नहीं होता। लैंगिक इच्छाएँ सुषुप्त हो जाती है। सही अर्थों में इनकी लैंगिक इच्छाओं का उदात्तीकरण हो जाता है जिसे वे अपने अन्य क्रियाकलापों में लगाते हैं, जैसे- चित्रकारी, खेल-कूद, शिक्षा आदि। अंत में किशोरावस्था में जननेंद्रिय अवस्था में किशोर/किशोरी प्रवेश करते हैं, जो आगे निरंतर चलती रहती है। इसके शुरुआती समय में शरीर में विभिन्न प्रकार के परिवर्तन होते हैं, जिससे वे परिपक्वता की ओर अग्रसर होते हैं। फ्रायड का मानना है कि इस अवस्था के शुरुआत में किशोर/किशोरी अपने जैसे ही लिंग के प्रति आकर्षित होते हैं जिसे हम समलैंगिकता कहते हैं। किंतु

ज्ञान शांति मैत्री

बाद में वयस्क की ओर अग्रसर होते हुए उनमें विषमलिंगी-कामुकता की प्रवृत्ति पनपती है। इसकी संतुष्टि के लिए समाज में रहते हुए व्यक्ति विवाह करता है।

फ्रायड का यह मत था कि वयस्क व्यक्ति के स्वभाव में किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं लाया जा सकता, क्योंकि उसके व्यक्तित्व की नींव बचपन में ही पड़ जाती है, जिसे किसी भी तरीके से बदला नही जा सकता। हालाँकि बाद के शोधों से यह साबित हो चुका है कि मनुष्य मूलतःभविष्योन्मुख होता है। एक शैक्षिक (अकादमिक) मनोविज्ञानी के समान फ्रायड के मनोविज्ञान में क्रमबद्धता नहीं दिखाई देती, परंतु उन्होंने मनोविज्ञान को एक नई परिभाषा दी, जिसके आधार पर हम आधुनिक मनोविश्लेषानात्मक मनोविज्ञान को खड़ा पाते हैं और तमाम आलोचनाओं के बाद भी असामान्य मनोविज्ञान और नैदानिक मनोविज्ञान में फ्रायड के योगदान को अनदेखा नही किया जा सकता।

1.7 दुश्चिंता एवं रक्षा तंत्र (Anxiety and Defence Mechanisms)

जब व्यक्ति के ईगो (Ego) को किसी तरह के संकट से खतरा पहुंचता है तब दुश्चिंता उत्पन्न होती है। अतः फ्रायड के अनुसार दुश्चिंता एक ऐसी सांवेगिक दुखद अवस्था है, जिसमें ऐसा दैहिक संवेदन होता है जो व्यक्ति को संभावित खतरे से सतर्क होने की सूचना देता है। उन्होंने दुश्चिंता के तीन प्रकार बतलाए हैं।

- **वास्तविक (Realistic) दुश्चिंता-** इसे वस्तुनिष्ठ दुश्चिंता भी कहा जाता है। यह एक ऐसी दुश्चिंता,है जिसमें पर्यावरण में उपस्थित वास्तविक खतरे के प्रति एक सांवेगिक अनुक्रिया होती है। दूसरे शब्दों में बाह्य दुनिया पर जब ईगो (Ego) की निर्भरता बढ़ जाती हैं, तो इससे वास्तविक दुश्चिंता की उत्पत्ति होती है। नौकरी चली जाने के बाद परिवार के निर्वहन की चिंता इसी का उदाहरण है।
- **तंत्रिकातापी (Neurotic) दुश्चिंता-** इस तरह की दुश्चिंता में ईगो(Ego) को इड (Id) की प्रवृत्तियों से धमकी मिलती है। इसका मतलब यह हुआ कि जब ईगो (Ego) की निर्भरता इड (Id) पर बढ़ जाती है तो इससे तंत्रिकातापी दुश्चिंता की उत्पत्ति होती है।उदाहरण के लिए आपने कई सारे ऐसे चित्रकार, गायक, अभिनेता देखे होंगे जो मद्यपान के बिना सादरीकरण (Performance) नहीं कर पाते हैं।
- **नैतिक (Moral) दुश्चिंता-** जब ईगो (Ego) को सुपर ईगो (Super Ego) से धमकी मिलती हैं, तब व्यक्ति में नैतिक दुश्चिंता उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दों में जब ईगो(Ego) की निर्भरता सुपर ईगो (Super Ego) पर हो जाती हैं। इससे व्यक्ति में नैतिक दुश्चिंता उत्पन्न होता है। ऐसी दुश्चिंता से व्यक्ति में दोष भाव, आत्मालोचना तथा लज्जा आदि तीव्र मात्रा में उत्पन्न हो जाती है। उदाहरण के लिए चोरी करने के बाद कोई व्यक्ति अन्य से नजरें चुराने लगता है।

दुश्चिंता का चाहे कोई भी प्रकार क्यों न हो व्यक्तिका ईगो (Ego) अपने आप को उससे सुरक्षित करना चाहता है। इसके लिए वह कुछ विशेष तंत्र को अपनाता है, जिसे रक्षा तंत्र कहा जाता है। इन तंत्रों के सहारे

व्यक्ति अपने ईगो (Ego) को इड (Id) की प्रवृत्तियों तथा उसका विरोध करते हुए सुपर ईगो के निर्देशों से बचा पाता है। इन रक्षा प्रक्रमों की दो विशेषताएं होती है।

रक्षा तंत्र अचेतन स्तर का कार्य करते हैं। अर्थात इनके सक्रिय होने का ज्ञान व्यक्ति को नहीं रहता है। अतः वे आत्म भ्रामक होते हैं।

रक्षा तंत्र व्यक्ति की दुश्चिंता के तीव्रता के स्तरको इसलिए कम कर देते हैं, क्योंकि इससे वास्तविकता का ज्ञान विकृत हो जाता है।

फ्रायड ने कई रक्षा प्रक्रमों की चर्चा की है, जिसमें निम्नांकित प्रमुख है

1. **दमन-** फ्रायड के अनुसार यह सबसे प्रमुख रक्षा तंत्र है। इस तंत्र में व्यक्ति आवांछित एवं कामुक इच्छाओं और भावनाओं को चेतन से हटाकर अचेतन में कर देता हैं। ऐसे दमित इच्छाओं के बारे में जानने के लिए फ्रायड ने स्वप्न विश्लेषण, स्वतंत्र सहचर्य तथा सम्मोहन आदि विधियों को प्रस्तावित किया है।
2. **प्रतिक्रिया निर्माण-** इस मनोरचना में व्यक्ति अपने ईगो (Ego) को किसी अप्रिय इच्छा तथा प्रेरणा से ठीक विपरीत इच्छा या प्रेरणा विकसित कर बचाता है। इसमें दो चरण सम्मिलित होते हैं। पहले चरण में व्यक्ति अपने अप्रिय एवं कष्टकर विचारों एवं इच्छाओं को अचेतन में दमन कर देता है तथा दूसरे चरण में वह इन दमित इच्छाओं एवं विचारों के ठीक विपरीत इच्छा चेतन स्तर पर व्यक्त कर अपने तनाव को दूर करता है। एक भ्रष्ट नेता द्वारा भ्रष्टाचार के विरोध में भाषण देना प्रतिक्रिया निर्माण का उदाहरण है।
3. **प्रतिगमन** - प्रतिगमन का शाब्दिक अर्थ पीछे की ओर जाना होता हैं। जब कोई वयस्क अपनी इच्छाओं, प्रेरणाओं एवं व्यवहारों को बाल्यावस्था की इच्छाओं प्रेरणाओं एवं व्यवहारों के अनुकूल बना लेता है, तो इसे प्रतिगमन की संज्ञा दी जाती है। एक वयस्क जब बचकाना ढंग से अपनी इच्छाओं एवं प्रेरणाओं की अभिव्यक्ति करता ,हैतो उसकी उन इच्छाओं से संबंधित मानसिक चिंता तथा तनाव अपने आप थोड़ा कम होजाता है।
4. **प्रक्षेपण-** दूसरे लोगों या वातारण के प्रति अपनी अमान्य प्रवृतियों, अभिवृत्तियों एवं व्यवहारों को अचेतन रुप से आरोपित करने की प्रक्रिया को प्रक्षेपण कहा जाता है। अतः प्रक्षेपण में व्यक्ति निकृष्ट, अनैतिक एवं घृणित प्रवृत्तियों तथा विचारों को दूसरों में देखता है।
5. **यौक्तिकीकरण-** यौक्तिकीकरण में व्यक्ति अपने अयुक्तिसंगत व्यवहारों को एक युक्तिसंगत एवं तर्कसंगत व्यवहार के रुप में परिणत करके अपने आप की संतुष्टि करता है। इसके ज़रिए वह अपना मानसिक संघर्ष दूर करने की कोशिश करता है। इसका उदाहरण यह युक्ति है- नाच न जाने आंगन टेढ़ा। नाच न आने वाला व्यक्ति यह कहकर उसे टाल देता है कि आंगन ही टेढ़ा है।
6. **उदात्तीकरण-** इस तंत्र में व्यक्ति अपनी असंतुष्ट इच्छाओं की पूर्ति समाज द्वारा स्वीकृत लक्ष्यों या उददेश्यों के रुप में प्रतिस्थापित करके करता है। व्यक्ति अपनी असफलताओं को छिपाने के लिए

वास्तविक कारण की जगह अवास्तविक कारणों के आधार पर किसी बात का औचित्य सिद्ध करने लगता है, इस प्रक्रिया को उदात्तीकरण कहते हैं।

7. **विस्थापन**- इस रक्षा तंत्र में व्यक्ति अपने ईगो (Ego) को कष्टकर एवं अनैतिक इच्छाओं से उत्पन्न द्वंद्वों एवं संघर्षों से बचाता है। माता-पिता द्वारा पिटाई होने पर बालक द्वारा अपने छोटे भाई या बहन को पीटना या झिटकना विस्थापन का एक अच्छा उदाहरण है।

फ्रायड के कार्य और उन पर आधारित उनकी मान्यताओं के देखने पर हम यह पाते हैं कि फ्रायड ने मानव की पाशविक प्रवृति पर जरुरत से अधिक बल डाला था। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि निम्नतर पशुओं के बहुत सारे गुण और विशेषताएं मनुष्यों में भी दिखाईदेती हैं। उनके द्वारा परिभाषित मूल प्रवृति की संकल्पना भी इसके अंतर्गत आती है।

फ्रायड द्वारा प्रतिपादित मनोविश्लेषण का संप्रदाय अपनी लोकप्रियता के कारण बहुत चर्चित रहा। इतना ही नहीं, इसका प्रभाव मनोविज्ञान के कुछ खास शाखाओं, जैसे- असामान्य मनोविज्ञान, नैदानिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में सर्वाधिक रहा है। शायद इन्हीं सब कारणों से मनोविश्लेषण को मनोविज्ञान का 'प्रथम बल' कहा जाता हैं। फ्रायड ने कई पुस्तकें लिखीं जिनमें से *'इंटरप्रीटेशन ऑफ़ ड्रीम्स'*, *'ग्रुप साइकोलोजी एंड द एनेलेसिस ऑफ़ दि ईगो'*, *'टोटेम एंड टैबू'* और *'सिविलाईजेसन एंड इट्स डिसकानटेंट्स'* प्रमुख हैं।

1.8 कार्ल गस्टेव जुंग

मनोविश्लेषण सिद्धांत संप्रदाय के संस्थापक फ्राइड, एडलर और जुंग ये तीनों ही माने जाते हैं। जुंग, फ्राइड के सहयोगी एवं शिष्य थे। फ्राइड के बाद मनोविश्लेषण संप्रदाय के कार्य को सबसे अधिक जुंग ने ही आगे बढ़ाया।

कार्ल गस्टेव जुंग का जन्म स्विट्ज़रलैंड के कैस्विल नगर में 26 जुलाई 1875 को हुआ। इनके पिता पादरी थे। इस कारण जुंग के प्रारंभिक जीवन पर दर्शन और धर्म का पर्याप्त प्रभाव पड़ा। उन्होंने चिकित्साशास्त्र में उपाधि प्राप्त की। 1907 में वे फ्राइड के संपर्क में आए।

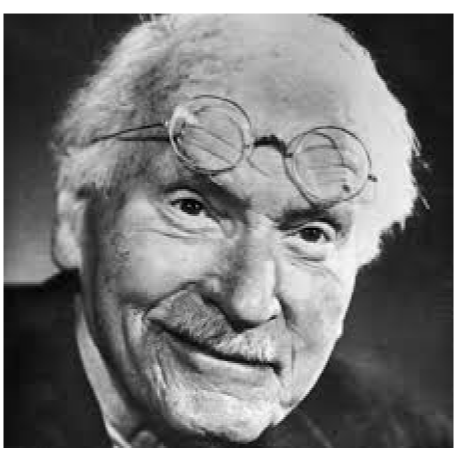

फ्राइड, जुंग और एडलर ने मिलकर मनोविश्लेषण संप्रदाय की स्थापना की और इसके विकास के लिए तीनों साथ-साथ कार्य करने लगे। परंतु कालांतर में जुंग ने 1912 में फ्राइड का साथ छोड़ दिया। फ्राइड से अलग होने का कारण यह था कि फ्राइड हर क्षेत्र में काम (Sex) तथा लिबिडो (Libido) पर अधिक बल देता था। जुंग ने स्वीकार किया कि व्यक्ति के जीवन में काम या लिबिडो का महत्त्वपूर्ण स्थान है, परंतु इसे इतना अधिक महत्व नहीं देना चाहिए जितना फ्राइड ने दिया।

1913 में उसने नए संप्रदाय की स्थापना की। इस संप्रदाय को 'विश्लेषी मनोविज्ञान' (Analytical Psychology) के नाम से जाना गया। जुंग ने कई देशों के साथ भारत की भी यात्रा की और ये भारतीय संस्कृति तथा इसके दर्शन से बहुत प्रभावित हुए।

जुंग ने व्यक्तित्व संरचना में अहम् तथा स्व (Ego and Self), व्यक्तिगत अचेतन (Personal unconsciousness) एवं सामूहिक अचेतन (Collective unconscious), मुखौटा (Persona), एनिमा या अंतःनारी (Anima), एनिमस या अंतःनर (Animus), छाया (Shadow) संबंधी संकल्पनाओं को प्रस्तुत किया। लिबिडो या कामवासना पर भी उसने अपने विचारों को प्रस्तुत किया।

(अधिक जानकारी के लिए देखें https://hi.wikipedia.org/wiki/कार्ल_गुस्टाफ_जुंग)

1.9 वैश्लेषिक मनोविज्ञान (Analytical psychology)

वैश्लेषिक मनोविज्ञान (Analytical psychology या Jungian psychology) मनोविज्ञान की एक शाखा है, जिसका आरंभ स्विस मनोविकारविज्ञानी कार्ल जुंग (Carl Jung) ने किया। यह सिग्मंड फ्रायड के मनोविश्लेषी संप्रदाय (psychoanalytic school) से बिल्कुल भिन्न है। वैश्लेषिक मनोविज्ञान का मुख्य ध्येय सार्थक जीवन है, जिसमें जीवन के परार्ध (second half) में व्यक्तित्व विकास तथा समाज को पर्याप्त योगदान देने पर विशेष ध्यान दिया जाता है। आत्म-ज्ञान, परिवर्तन तथा आत्मसिद्धि के चक्रीय तंत्र को लगातार चलाकर इसे प्राप्त किया जाता है।

जुंग के विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान का योगदान

जुंग फ्रायड के दूसरे(पहले विरोधी एडलर) प्रमुख विरोधी थे, जिन्होंने उनसे अलग होकर अपना एक अलग मनोविज्ञान स्थापित किया। इसे विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान के नाम से जाना जाता है। वे अपने इस मनोविज्ञान में फ्रायड के कई अवधारणाओं को स्वीकार करते हैं, परंतु कई अन्य अवधारणाओं को इस आधार पर अस्वीकृत करते हैं कि उनमें यौन पर ज़रुरत से ज़्यादा बल डाला गया है। जुंग के विश्लेषणात्मक मनोविज्ञान के प्रमुख योगदानों को निम्नलिखित चार प्रमुख भागों में बांटकरदेखा जा सकता है-

- चेतन तथा अचेतन
- अभिवृत्ति एवं प्रकार्य जुंग का मनोवैज्ञानिक प्रकार
- मनसिक उर्जा
- व्यक्तित्व विकास

चेतन एवं अचेतन: फ्रायड के त्रिस्तरीय सिद्धांत को नकारते हुए जुंग ने मानसिक संरचना के दो भाग बताएं है। चेतन एवं अचेतन। कोई भी मानसिक घटना जिसका अनुभव ईगो(Ego) द्वारा होता उसे चेतन की संज्ञा दी जाती है तथा कोई भी मानसिक घटना, जिसका अनुभव ईगो को नहीं होता है, उसे अचेतन में रखा जाता है। अतः जुंग के लिए ईगो (Ego) की पहचान मन के चेतन पहलु से होती है। जुंग ने ईगो

ज्ञान शांति मैत्री

(Ego) को आत्म पहलु से भिन्न माना है, क्योंकि आत्म की पहचान चेतन तथा अचेतन दोनों पहलुओं से होती है। अतः आत्म का संपर्क समग्र व्यक्तित्व से है, जबकि ईगो (Ego) का संबंध मात्र मन के चेतन पहलु से होता है।

अचेतन मन का वह पहलु होता है, जिसका संबंध ईगो(Ego) से नहीं होता है। इसमें सभी तरह के दमित चेतन इच्छाएं एवं प्रतिमाएं होती हैतथा साथ ही साथ इसमें वे सारी मानसिक घटनाएं भी होती हैं, जो कभी चेतन में नहीं थी, जुंग के लिए अचेतन अधिक महत्वपूर्ण है। शायद यही कारण हैकि वे इस पर फ्रायड की तुलना में अधिक बल डालते हैं। उन्होंने अचेतन को दो भागों में बांटा है। **व्यक्तिगत अचेतन** तथा **सामूहिक अचेतन**। व्यक्तिगत अचेतन में बाल्यावस्था की दमित इच्छाएं भूलीबिसरी यादें आदि संचित होती है। इसे व्यक्तिगत इसलिए कहा है, क्योंकि एक ही समय में विभिन व्यक्तियों में यह भिन्न-भिन्न होता है तथा स्वयं व्यक्ति के लिए अपूर्व होता है। व्यक्तिगत अचेतन के अंतर्वस्तु कोमनोग्रंथि या भाव ग्रांथि कहा जाता है। जुंग का व्यक्तिगत अचेतन फ्रायड द्वारा प्रतिपादित अचेतन के अवधारणा से काफ़ी भिन्न है। सामूहिक अचेतन जुंग की सबसे महत्पूर्ण परंतु विवादास्पद अवधारणा है। इसमें आदिकालीन प्रतिमाएं होती है तथा इसमें वैसी यादें होती है जो बहुत पुराने समय से पीढ़ी-दर-पीढ़ी से चली आती हैं। व्यक्ति के पूर्वजों द्वारा पृथ्वी, सूर्य, ईश्वर के अवधारणा से प्राप्त होने वाली अनुभूतियांइसमें संचित होती है। साथ ही धार्मिक विश्वास, दंतकथाए, देवकथाएं आदि सामूहिक अचेतन में ही सम्मिलित होती है। सामूहिक अचेतन के अंतर्वस्तुको आद्यरुप कहा जाता हैं। यह व्यक्तिगत अचेतन के मनोग्रंथियों से इस अर्थ में भिन्न होता है कि यह समान्यीकृत होता है, जबकि मनोग्रंथि वैयक्तिकृत होती है। समानता यह है कि आद्यरुप में मनोग्रंथि के समान हीसंवेगिकतत्व होत हैं। जुंग ने पांच प्रमुख तरह के आद्यरुप का वर्णन किया हैं :

- परसोना
- एनिमा
- एनिमस
- छाया
- आत्म

परसोना एक तरह का बाहरी व्यक्तित्व है, जिसे आम लोग देखते हैं तथा समझते हैं। इससे व्यक्ति के उस रुप का पता चलता है, जिसे वह लोगों के सामने रखना चाहता है। फ्रायड के समान जुंग का यहविचार था कि सभी मानव प्राणी उभयलिंगी होता है तथाउसमें स्त्रैण एवं पौरुषदोनों गुण होते हैं। पुरुष केस्त्रैण पहलू को **एनिमा** तथा स्त्री के पौरुष पहलु को **एनिमस** कहा जाता है। **छाया** से तात्पर्य मानव में उन पाशविक मूल प्रवृत्तियों से हैं जिसे वह विकासात्मक चक्र के दौरान विकसित कर लेता है। **आत्म**

आद्यरुप से तात्पर्य वैसे आद्यरुप से होता है जो व्यक्ति को संपूर्णता की ओर अग्रसर करता है। यह वैयक्तिकीकरण की प्रक्रिया को नियंत्रित करता है तथा व्यक्ति में सर्जनात्मकता की वृद्धि करता है।

1.10 अभिवृत्ति एवं कार्यः जुंग का मनोवैज्ञानिक प्रकार

जुंग का मत है कि व्यक्तित्व के दो पहलु होते हैं, जो चेतन तथा अचेतन दोनों ही स्तरों पर कार्य करते हैं, वे हैं अभिवृत्ति तथा कार्य। उन्होंने अभिवृत्ति के दो प्रकार बतलाए हैं- अंतर्मुखता तथा बहिर्मुखता।

अंतर्मुखता की अभिवृत्ति रखने वाले व्यक्ति का ध्यान अपने निजी अनुभूतियों पर आधिक होता है तथा वे उसी से निर्देशित होते हैं। ऐसे लोग आत्मकेंद्रित शुष्क एवं अल्पभाषी होते हैं। जिन व्यक्तियों की अभिवृत्ति **बहिर्मुखता** की होती हैं, वे बाहरी अनुभूतियों एवं क्रियाओं पर निजी अनुभूतियों की तुलना में अधिक ध्यान देते हैं। ऐसे लोग सक्रिय एवं सामजिक होते हैं। इससे यह स्पष्ट स्पष्ट होता है कि ये दोनों तरह की अभिवृत्ति एक दूसरे के विपरीतहै तथा उनमें से किसी एक का व्यक्तित्व पर प्रभुत्व होता है तथा दूसरा दमित एवं अचेतन में होता है।

कार्य के चार प्रकार होते हैं चिंतन, भाव, ज्ञान, तथा अंतर्ज्ञात। *चिंतन* में व्यक्ति विभिन्न विचारों को आपस में संबंधित करता है ताकि वह किसी समस्या का उत्तम ढंग से समाधान कर सके तथा संसार को ठीक ढंग से समझ सके। इस तरह चिंतन एक तरह का बौद्धिक कार्य है।*भाव* में व्यक्ति में सुख, दुख, दर्द, क्रोध आदि से संबंधित आत्मनिष्ठ अनुभूतियां उत्पन्न होती है। अतः इसके द्वारा मूल्यांकन संबंधी कार्य किए जाते हैं। *ज्ञान* कार्य में व्यक्ति को अपने तथा वतावरण की वस्तुओं, घटनाओं का प्रत्यक्षण होता है।*ज्ञान* कार्य में व्यक्ति को प्रभावशाली (Subliminal) प्रत्यक्षण या अचेतन (Unconscious) प्रत्यक्षण होता है। ज्ञान तथा अंतर्ज्ञान के कार्य चूँकि मूल्यांकन से संबंधित नहीं है इसलिए इसे अविवेकी कार्य भी कहा जाता है।

इन चार कार्यों की एक मुख्य विशेषता यह है कि इनमें से कोई एक कार्य प्रबल तथा चेतन होता है, जबकि बाकी अन्य तीन कार्य सुषुप्त तथा अचेतन होते हैं। जुंग का मत है कि प्रत्येक का एक अपनी अभिवृत्ति तथा कार्य होता है और इन दोनों के आधार पर उन्होंने आठ प्रमुख मनोवैज्ञानिक प्रकारों का वर्णन किया है। अंतर्मुखता चिंतन, बहिर्मुखता चिंतन, अंतर्मुखता भाव, बहिर्मुखता भाव, अंतर्मुखता संवेदन, बहिर्मुखता संवेदन, अंतर्मुखता अंतर्ज्ञान तथा बहिर्मुखता अंतर्ज्ञान।

मानसिक उर्जा- फ्रायड के समान जुंग का भी मत था कि मानसिक उर्जा एक ऐसी उर्जा होती हैं, जिसे नष्ट नहीं किया जा सकता हैं। मानसिक उर्जा व्यक्तित्व संरचना का एक महत्वपूर्ण अंश है। मानसिक उर्जा का स्वरुप कुछ ऐसा होता है कि इसे दमित किया जा सकता है, विस्थापित हो सकता है तथा परिशुद्ध किया जा सकता है। उन्होंने दो नियमों का उल्लेख किया है, जिनमें मानसिक उर्जा नियंत्रित होती है। तुल्यता का नियम तथा इंट्रोपी का नियम।

तुल्यता का नियम, जो उष्मा-गतिकी का प्रथम नियम है यह बतलाता है कि उर्जा का रुप में भले ही परिवर्तित हो जाता है, परंतु वह नष्ट नहीं होता है। मानसिक उर्जा का स्वरूप भी ठीक इस नियम से नियंत्रित

होता है। इसका एक उदाहरण इस प्रकार दिया जा सकता है- मान लिया जाए कि कोई विद्यार्थी पढ़ाई-लिखाई की ओर ध्यान न देकार घूमने-फिरने एवं दोस्तों के साथ आतिशबाजी में अधिक ध्यान देता है। इसका मतलब यह हुआ कि शैक्षिक क्रियाओं में संलग्नउर्जा घूमने-फिरने एवं आतिशबाजी के कार्यों में परिणत हो गई है। वह परिवर्तित हुई है न कि नष्ट। इंट्रोपी का नियम यह बतलाता है कि जब दोचीजें एक साथ रखी जाती हैं, तो उच्चतर आवेश वाली चीज़ से उर्जा निकलकर निम्नतर आवेश वाली चीज़ की ओर तब तक जाते रहता है, जब तक कि इन दोनों की उर्जा शक्ति सम या बराबर न हो जाए। इस नियम को व्यक्तित्व के विभिन्न तंत्रों के उर्जा आवेशों के बीच एक संतुलनके रूप में पाया जाता है। इस संतुलन के कारण व्यक्तित्व के कार्यों में संतुलनआता है तथा व्यक्ति एक विशेष अभिवृत्ति भी विकसित कर लेता है। यही कारण है कि इसे उर्जा नियमों की समता कहा जाता है। इंट्रोपी के नियम का एक उत्तम उदाहरण है। जैसे कि बहिमुर्खता तथा अंतमुर्खता के परस्पर विरोधी अभिवृत्तियों मेंदेखा जा सकता है। प्रारंभ में ऐसे परस्परविरोधी मनोवृत्तियों से व्यक्ति में तनाव होता है। अगर इन दोनों तरह की अभिवृत्तियों की शक्ति लगभग समान हो जाए तो कहीं बीच में एक नई, स्थिर अभिवृत्ति का जन्म होता है और धीरे-धीरे यह स्थिर हो जाती है।

1.11 व्यक्तित्व विकास की अवस्थाएँ

जुंग ने यह स्पष्ट किया है कि व्यक्तित्व विकास कई अवस्थाओं के क्रम से गुज़रताहुआ वैयक्तिकता के बिंदुपर पहुंच कर समाप्त होता है। उन्होंने व्यक्तित्व विकास के चार अवस्थाओं का वर्णन कियहैं:

- बाल्यावस्था (Childhood)
- प्रारंभिक यौवनावस्था (Young Adulthood)
- मध्यावस्था (Middle Age)
- वृद्धावस्था (Old Age)

बाल्यावस्था व्यक्तित्व विकास की प्रथम अवस्था है, जिसकी तुलना जुंग ने उगते सूर्य से की है। जिस तरह उगते सूरज में पूर्ण अंतःशक्ति होती है, परंतु प्रकाश के स्तर में कमी होती है ठीक उसी तरह बाल्यावस्था होती है। जुंग ने बाल्यावस्था को तीन उपभागों में बांटा है अराजक, राजतंत्रीय, द्वैतवादी।

प्रारंभिक यौवनावस्था में व्यक्तित्व का एक निश्चित आकार एवं प्रारूप तैयार होने लगता है। इस अवस्था में व्यक्ति अपने माता-पिता से मानसिक एवं दैहिक स्वतंत्रता चाहता है। इस मामले में उसे कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है। इसी अवस्था में वह अपना परिवार बसाता है तथा दुनिया में अपना स्वतंत्र अस्तित्व बनाएँ रखता है। इस अवस्था में व्यक्ति का ध्यान बाह्य वस्तुओं पर अधिक होता है तथा उसकी मनोवृत्ति में बहिर्मुखता ज़्यादा होती है।

ज्ञान शांति मैत्री

मध्यावस्था व्यक्ति के जीवन का तीसरी अवस्था होती है। जुंग का मानना है कि मध्यावस्था 35-40 वर्ष की आयु से प्रारंभ होती है। इस अवस्था में व्यक्ति को व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं को एक साथ संबंधित करने का पर्याप्त मौका मिलता है और इससे आत्म के विकास या सिद्धि में पर्याप्त मदद मिलती है। अतः जुंग ने आत्म सिद्धि को व्यक्तित्व का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य माना है। परंतु उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि व्यक्ति में स्नायुविकृत प्रवृतियां भी उस समय मौजुद रहती है और व्यक्ति का व्यवहार बहुत हद तक विभिन्न कारकों या बलों के बीच एक संतुलन बनाए रखने की क्षमता या सामर्थ्यता पर निर्भर करता है।

वृद्धावस्था को जुंग ने जीवन की शाम कहा है, जैसे शाम को सूरज का प्रकाश धुंधला हो जाता है वैसे ही व्यक्ति में चेतन क्रियाओं के स्तर में कमी आने लगती है। धीरे-धीरे वह अचेतन में डूबने लगता है और अंत में वह उसी में लुप्त हो जाता है।

व्यक्तित्व विकास की व्याख्या करने में जुंग ने दो पदों का प्रयोग किया है- वैयक्तिकता तथा अनुभवातीत कार्य। वैयक्तिकता में विश्लेषणात्मक प्रक्रियाएं, जैसे- व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं को एक दूसरे से अलग करना तथा उसे विस्तृत करना आदि सम्मिलित होता है। अनुभवातीत कार्य में सांश्लेषिक प्रक्रियाएं, जैसे- अचेतन को चेतन सामग्रियों के साथ समन्वित करना, व्यक्तित्व के विभिन्न पहलुओं को समन्वित करना आदि सम्मिलित होती हैं। एक स्वस्थ व्यक्तित्व विकास में इन दोनों तरह की प्रक्रियाएं घुली-मिली होती है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि फ्रायड के समान जुंग ने भी मनोविज्ञान के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान किए हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित आत्मसिद्धि की अवधारणा बाद के मनोविज्ञानियों जैसे- मैसलों, ऑलपोर्ट तथा मर्फी आदि के लिए महत्वपूर्ण प्रेरणा स्रोत रही है। इसी तरह से जुंग के शब्द साहचर्य परीक्षण को कई तरह के आधुनिक मनौवैज्ञानिक शोधों का प्रेरणा स्रोत माना गया है।

1.12 समाज कार्य में प्रासंगिकता

विद्वानों का मानना है कि समाज कार्य स्वयं मनोविज्ञान और समाज विज्ञान का मिला-जुला स्वरूप है। व्यक्ति का अध्ययन मूलतः मनोविज्ञान का विषय रहा है, किंतु समाज कार्य के उद्भव के पश्चात व्यक्ति की समस्या को केंद्र में रखते हुए समाज कार्य नियत रूप से कार्य करने लगा है। शुरुआती समाज कार्य के इतिहास से पता चलता है कि मेरी रिचमंड के पूर्व तक इसकी अपनी कोई प्रविधि और न ही कोई निश्चित प्रणाली थी। सामाजिक कार्यकर्ता मनचाहे ढंग से, जो उचित लगे उसी तरीके से लोगों को सहयोग प्रदान करते थे। किंतु मेरी रिचमांड के उभार के बाद इसमें कमी आई। मेरी रिचमंड जो वैयक्तिक सेवा कार्य की जनक मानी जाती हैं। इन्हीं की बदौलत समाज कार्य में व्यक्तिगत तौर पर सेवा देने की प्रणाली का विकास हो पाया। इनके विचारों के पीछे फ्रायडियन विचारों की प्रेरणा नज़र आती है। फ्रायड के विचारों ने बीसवीं सदी में समकालीन सभी ज्ञानशाखाओं को प्रभावित किया था। यही कारण है कि मेरी रिचमंड अपनी पुस्तकों में मनोविज्ञान की शब्दावली का प्रयोग बड़ी मात्रा में करती हैं।

फ्रायड के विभिन्न विचार, जिसने समाज कार्य के लिए नए द्वारा खोले, मनोविश्लेषण विधि, मुक्त सहचर्य, मनोलैंगिक विकास की अवस्थाएँ तथा मनोरोग एवं चिंता आदि को हम आज भी समाज कार्य में पढ़ते हैं। समाज कार्य में इसका अध्ययन करने के पीछे यह तर्क भी है कि फ्रायड के विचार, सिद्धांत व्यवहारिक और प्रायोगिक थे। इसलिए हम समाज कार्य में देखते हैं कि वैयक्तिक सेवा कार्य के अंतर्गत व्यक्ति को सेवा देने की प्रक्रिया में व्यक्ति की समस्या का वर्गीकरण करने, व्यक्ति की समस्या का निदान करने तथा उसको सहयोग देने में भी फ्रायडियन विचारों का प्रभाव दिखता है। फ्रायड के विरोध से उत्पन्न कार्ल जुंग ने भी समाज कार्य को काफ़ी प्रभावित किया है। सेवार्थी केंद्रित सेवाएं तथा व्यक्ति विश्लेषण के लिए सेवार्थी के व्यक्तित्व का विश्लेषण महत्वपूर्ण चरण होता है। ऐसे में सामाजिक कार्यकर्ता को जुंग का व्यक्तित्व सिद्धांत काफ़ी मदद करता है। ईड, ईगो तथा सुपर ईगो साथ ही चेतन व अवचेतन की मूल अवधारणा को समझे बिना सेवार्थी को समझना कार्यकर्ता के लिए कठिन कार्य होता है। यह इन विद्वानों की ही देन है कि समाज कार्य में व्यक्ति को समझने के लिए इन्होंने बुनियादी सिद्धांत प्रदान किए है। इससे स्पष्ट होता है कि फ्रायड और जुंग के विचार समाज कार्य में आज भी प्रासंगिक है।

1.13 सारांश

इस इकाई में हमने फ्रायड तथा जुंग के विभिन्न अवधारणाओं को समझते हुए उनके व्यक्तित्व विकास के सिद्धांतों पर विस्तार से चर्चा की है। फ्रायड के मनोविश्लेषण तथा जुंग के वैश्लेषिक मनोविज्ञान दोनों ही आधारों पर हमने व्यक्तित्व क्या होता है और उसका विकास किन-किन चरणों से गुजरकर होता है इन बातों को समझा। फ्रायड की मनोलैंगिक विकास की अवस्थाएँ तथा जुंग के व्यक्ति के जीवन की विभिन्न अवस्थाएँ दोनों को ही हमने विस्तार से समझा है। इसके बावजूद इन दो विद्वानों के सिद्धांतों को समझने के लिए जिन अवधारणाओं को समझना अति आवश्यक था, उन्हें भी हमने संक्षेप देखा है। इन अवधारणाओं के मदद से आप इन विद्वानों के सिद्धांतों को सहजता से समझ सकते हैं और अंत में समाज कार्य में इन सिद्धांतों की प्रासंगिकता को स्पष्ट किया है।

1.14 बोध प्रश्न

1. मनोविश्लेषण की अभिधारणाओं के समझाएँ
2. फ्रायड के स्थलाकृतिक संरचना तथा संरचनात्मक मॉडेल पर चर्चा करें।
3. मानसिक ऊर्जा तथा मूल प्रवृत्ति पर फ्रायड के विचार स्पष्ट करें।
4. फ्रायड के व्यक्तित्व विकास के सिद्धांत की चर्चा करें।
5. कार्ल जुंग के वैश्लेषिक मनोविज्ञान की अवधारणा को स्पष्ट करें।
6. जुंग की व्यक्तित्व विकास की अवस्थाओं को विस्तार से स्पष्ट करें।

1.15 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

अजीमुर्रहमान अशराफ़, ज. (1992). *मनोविज्ञान का संक्षिप्त इतिहास* (पुनर्मूद्रित ed.). दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास.

सिंह, आर. एन. (2010). *आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान.* आगरा: अग्रवाल पब्लिकेशन्स.

सिंह, ए. के. (1995). *मनोविज्ञान के संप्रदाय एवं इतिहास* दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास.

सिंह, ए. के. एवं सिंह ए. के. (2000). *व्यक्तित्व का मनोविज्ञान* (8th ed.). दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास.

Freud, S. (1899). The Interpretation of Dreams.

Jung, C. (1954). The Development of Personality.

https://hi.wikipedia.org/wiki/मनोविश्लेषण Retried june 9, 2016

https://hi.wikipedia.org/wiki/सिग्मंड_फ्रायड Retried june 9,2016

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई-2 एडलर एवं अल्बर्ट बंडुरा

इकाई की रूपरेखा

2.0 उद्देश्य

2.1 प्रस्तावना

2.2 अल्फ्रेड एडलर

2.3 सफलता का प्रयास

- **2.3.1** हीनता

2.4 व्यक्तित्व की एकता

- **2.4.1** जीवन की शैली

2.5 व्यक्तित्व का विकास

- **2.5.1**अभिभावकों का व्यवहार
- **2.5.2** परिवार पुंज

2.6 मानसिक स्वास्थ्य

2.7 अलबर्ट बंडुरा

2.8 नियतिवाद/अनोन्य निर्धार्यता

2.9 आत्म तंत्र

2.10 मॉडलिंग प्रेक्षण द्वारा सीखना

2.11 सारांश

2.12बोध प्रश्न

2.13 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

ज्ञान शांति मैत्री

2.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप -

1. अल्फ्रेड एडलर के व्यक्तित्व विकास के सिद्धांत को रेखांकित कर सकेंगे।
2. अल्फ्रेड एडलर के सिद्धांत में प्रयुक्त विभिन्न अवधारणाओं को समझा सकेंगे।
3. अलबर्ट बंडुरा के नियतिवाद/अनोन्य निर्धार्यता को समझ सकेंगे।
4. मॉडलिंग द्वारा व्यक्ति कैसे सीखता है, को जान पाएंगे।

2.1 प्रस्तावना

जुंग के अलावे फ्रायड के साथ काम करने वाले, उनके साथ वैचारिक मतभेदों के कारण अपने विचारों को स्वतंत्र रूप से रखने वाले अल्फ्रेड एडलर को फ्रायड-विरोधी के रूप में हम सब जानते हैं। उनके द्वारा प्रतिपादित वैयक्तिक मनोविज्ञान का सिद्धांत आज भी हम समाज कार्य में पढ़ते हैं। व्यक्तित्व को समझने के लिए दिए गए तमाम सिद्धांतों में से एडलर का सिद्धांत समझने में काफ़ी सामान्यहै। इसने व्यक्ति के अनोखेपन पर बल डालते हुए अपने सिद्धांत की बुनियाद रखी है। इसी संदर्भ में उन्होंने जीवन शैली,जन्म क्रम, व्यक्तित्व की एकता, सर्जनात्मक शक्ति आदि अवधारणाओं का वर्णन भी किया है। एडलर का मानना था कि व्यक्तित्व पर वैयक्तिक तथा सामाजिक वातावरण के बीच होने वाली अत:क्रिया का प्रभाव पड़ता है। उसी से व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्धारण भी होता है। अन्य मनोवैज्ञानिक जिस तरह जैविक कारकों तथा आवश्यकताओं पर बल देते हैं उन्हें एडलर नकारते हैं। एडलर द्वारा दी गई विभिन्न अवधारणाओं को समझते हुए इस इकाई मेंहम अल्फ्रेड एडलर के व्यक्तित्व विकास के सिद्धांत को समझेंगे। साथ ही दूसरे विद्वान अल्बर्टबंडुरा द्वारा प्रतिपादित *व्यक्तित्व का सामाजिक सीखने का सिद्धांत* को भी समझेंगे। इसके लिए उनके द्वारा दी गई विभिन्न अवधारणाओं को हमें समझना होगा। व्यक्ति किस तरह से व्यवहार सीखता है और व्यवहार सीखने की प्रक्रिया के अंतर्गत ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्धारन भी कैसे होता है? इस प्रक्रिया का पूर्ण विश्लेषण अल्बर्ट बंडुरा के सिद्धांत में हमें मिलेगा। बी. एफ. स्कीनर द्वारा प्रतिपादित व्यवहार सिद्धांत को आधार बनाते हुए अल्बर्ट बंडुरा ने *व्यक्तित्व का सामाजिक सीखने के सिद्धांत* का प्रतिपादन किया है। इन दोनों विद्वानों के व्यक्तित्व विकास के सिद्धांतों को हम क्रमशः विस्तार से समझेंगे।

2.2 अल्फ्रेड एडलर (Alfred Adler, 1870-1937)

1870 में औस्ट्रिया में वियना (Penzing) के उपनगर में एडलर का जन्म एक यहूदी परिवार में हुआ। बाद में उन्होंने अपना धर्म परिवर्तित कर क्रिश्चन धर्म अपनाया। 1895 में एडलर ने चिकित्सा की पदवी प्राप्त की और अपनी प्रैक्टिस शुरू की। 1910 में वे फ्रायड के साथ मनोविश्लेषण में जुड़े, उनके साथ मिलकर उन्होंने काफ़ी कार्य किया। किंतु वैचारिक मतभेदों के कारण एडलर ने फ्रायड से संबंध तोड़ लिए।1912 में उन्होंने अपनी स्वतंत्र *सायकोएनालिटिक एसोशिएशन* की स्थापना की थी।

एडलर बच्चों की समस्याओं में ज़्यादा रुचि रखते थे। यही कारण था कि उन्होंने अपने शोधों के दौरान पूरे यूरोप और विएना में लगभग 50 बाल निर्देशन ग्रहों का निर्माण किया। इसके अलावे एडलर ने फ्रायड के मनोविश्लेषण स्कूल से अलग होने के बाद नए सिरे से अध्ययन कर वैयक्तिक मनोविज्ञान (Individual Psychology) की नींव डाली।

अंतत: 1937 में 67 वर्ष की आयु में उनका देहांत हुआ। एडलर केव्यक्तित्व विकास के सिद्धांत को समझने से पहले हम उसके सिद्धांत का पूर्वदर्शन करेंगे, जो निम्नलिखित है-

एडलर के सिद्धांत का पूर्वदर्शन		
अ. क्र.	अवधारणा	विश्लेषण
1.	व्यक्तिगत भिन्नता	प्रत्येक व्यक्ति के जीवन के लक्ष्य अलग होते हैं, उसे प्राप्त करने के प्रयत्न ही *जीवन शैली* है।
2.	अनुकूलन और समायोजन	स्वास्थ्य में शामिल प्रेम, कार्य, और सामाजिक अंत:क्रिया प्रत्येक व्यक्ति की ज़िम्मेदारी है। इसके प्राप्ति के लिए स्वार्थपरकता से ज़्यादा सामाजिक हितों की आवश्यकता है।
3.	संज्ञानात्मक प्रक्रिया	चेतन अनुभव एवं विचार समान्यत: विश्वासपरक तथा महत्वपूर्ण है।
4.	समाज	सामाजिक भूमिका जिसमें यौन भूमिका(Sex Role) भी शामिल है, इसके द्वारा समाज लोगों को प्रभावित करता है। इस कड़ी में विद्यालय महत्वपूर्ण प्रभावक है।
5.	जैविकीय प्रभावक	जैविकीय हीनता व्यक्ति को व्यक्तित्व विकास में मार्गदर्शन प्रदान करती है, जिससे व्यक्ति हीनता से क्षतिपूर्ति करता है।
6.	बालक/बालिका (Child) विकास	बालक/बालिका को प्रभावित करने में माता-पिता की भूमिका महत्वपूर्ण होती है, हालांकि यह भूमिका कठिन है। बालक/बालिका के बचकानी हरकतों में गहन निर्देश देना, खास कर लाड़-प्यार से दूर रखना। बालक/बालिका का उनके भाई-बहनों के साथ के संबंध तथा उनका जन्मक्रम भी उनके विकास को प्रभावित करता है।
7.	वयस्क विकास	जीवन की निरंतरता में लक्ष्य निर्धारित कर उसके माध्यम से लोग स्वयं अपना व्यक्तित्व विकास करते हैं।

स्रोत: S. C. Cloninger, 2004. पृ. 104

एडलर के सिद्धांत का पूर्वदर्शन करने के बाद हम उसके मूल अवधारणाओं की ओर अग्रसर होंगे। इसी अनुक्रम में हम एडलर के वैयक्तिक मनोविज्ञान की महत्वपूर्ण विशेषताओं पर एकनज़र डालेंगे, जो निम्नलिखित हैं-

- एडलर का मनोविज्ञान एक सामान्यबोधक मनोविज्ञान के समान है, जिसे समझना काफ़ी आसान है
- एडलर का मनोविज्ञान काफ़ी आशावादी है, क्योंकि उन्होंने मानव व्यवहार की व्याख्या में हमेशा एक वास्तविक दृष्टिकोण को अपनाया है।

एडलर द्वारा प्रतिपादित व्यक्तित्व का सिद्धांत एक मितव्ययी सिद्धांत हैं, क्योंकि इसके कुछ निम्न संप्रत्यय (Concept) हैं, जिनके द्वारा ही व्यक्तित्व की संपूर्ण व्याख्या हो पाती है(सिंह, 2000, पृ. 215)। एडलर द्वारा प्रतिपादित संप्रत्यय तथा अवधारणाओं को हम निम्नलिखित समझेंगे

2.3 सफलता का प्रयास

एडलर अपने सिद्धांत में बुनियादी अभिप्रेरक के रूप में किसी ख़ास अभिप्रेरक की बात नहीं करते उनका मानना है कि लोग अपने जीवन में क्रियाकलाप करते समय अंतिम समय तक संघर्ष करते हुए विभिन्न रास्ते अपनाते हुए आखिर तक प्रयत्नशील होते हैं, भले ही इनमें से कुछ उनकी क्षमता से बाहर के कार्य होते हैं। जिन लोगों ने यह कार्य छोड़ दिया, वो पराजित हो जाते हैं (Cloninger, 2004, p. 106)। कहने का तात्पर्य यह है कि लोग लगातार समाज में रहते हुए विभिन्न अभिप्रेरकों से प्रेरित होकर सफलता हासिल करने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं।

2.3.1 हीनता (Inferiority)

हीनता की अवधारणा को विकसित करने का श्रेय अल्फ्रेड एडलर को ही जाता है। प्रत्येक व्यक्ति इस शब्द से खुद में कमी महसूस करने लगता है, जैसे- मूल्य, भावना आदि। एडलर अपने सिद्धांत में *आंगिक हीनता, आक्रामक प्रणोद* तथा *पुरुषोचित प्रतिरोध* की बात करते हैं। इन्हें अरुण कुमार सिंह (1995) निम्नलिखित रूप से लिखते हैं-

1907 में एडलर ने एक महत्वपूर्ण शोध पत्र प्रकशित किया, जिसका नाम था *दी स्टडी ऑफ आर्गन इन्फेरियोरिटी एंड इटस फिजिकल कंपेनसेशन* इस शोध पत्र में एडलर ने यह मत जाहिर किया कि जिन व्यक्तियों में कुछ **आंगिक हीनता** जैसे- दृष्टि की कमजोरी, सुनने की कमजोरी आदि होती है, वे अन्य क्षेत्रों में श्रेष्ठता स्थापित करके इस कमी की क्षतिपूर्ति करने की कोशिश करते हैं। इसमें महत्वपूर्ण बात यह होती है कि व्यक्ति अपने आप के प्रति किस तरह की मनोवृत्ति विकसित करता है। वह अपनी हीनता की क्षतिपूर्ति के लिए सक्रिय प्रयास कर सकता हैं या मात्र रक्षात्मक उपायों को अपनाकर अपने आप को संतुष्ट कर ले सकता हैं।

1910 में वह हीनता की अवधारणा का थोडा विस्तार कर यह बताने की कोशिश करते हैं कि हीनता का भाव जन्मजात होता है, अतः इसकी प्रकृति सर्वसार्विक है। बच्चों में इस तरह की भावना को दूर करने के उद्देश्य से व्यक्ति में श्रेष्ठता के प्रयास का जन्म होता हैं। अतः एडलर ने यह स्पष्ट किया कि यह हीनता का भाव ही है, जिससे पर्याप्त क्षतिपूर्ति की प्रेरणा व्यक्ति को मिलती है। मानव इतिहास के क्षेत्र से उठाकर एडलर ने इसके कई सटीक उदाहरण पेश किए हैं, जैसे- डोमोस्थ्रीनस जो एक हकलानेवाले व्यक्ति थे, एक अच्छे वक्ता बनकर आंगिक दोष से उत्पन्न हीनता के भाव को उन्होंने दूर किया। उसी तरह से भारतीय इतिहास में सूरदास को देखा जा सकता है, जो अंधे होकर एक श्रेष्ठ कवि बने।

हीनता से संबंधित दूसरा संप्रत्यय् जिसे एडलर ने अपने सिद्धांत में शामिल किया वह है **आक्रामक प्रणोद**। लोग जीवन में संघर्ष करते हुए इस कगार पर पहुँचते है, जहां से स्वरूप परिवर्तित होकर वे क्रूरता, मार-धाड़ को अपनाते हैं या समाज द्वारा स्वीकृत, समाजीकृत स्वरूपों का वह चयन करते हैं, जैसे- दौड़ में सफलता के लिए अन्य पर प्रभुत्व स्थापित करना तथा राजनीति करना आदि। खेल-कूद के दौरान आक्रामकता में यह सब शामिल होने लगता है। इसके बावजूद आक्रामक बातचीत, आक्रामक व्यवसायिक वार्तालाप आदि इसके उदाहरण है। शायद चेतना के स्तर पर आक्रामक प्रणोद का अनुभव क्रोध से ही होता है। (Cloninger, 2004, पृ. 107)

हीनता तथा क्षतिपूर्ति के संप्रत्यय से संबंधित एक और संप्रत्यय है जिस पर एडलर ने विचार किया है, वह संप्रत्यय है **पुरुषोचित विरोध**। पुरुषोचित विरोध से एडलर का तात्पर्य हीनता तथा दमित भावनाओं के क्षतिपूर्ति के लिए श्रेष्ठ बनने की कोशिश से है। बाद में एडलर ने पुरुषोचित विरोध के संप्रत्यय को श्रेष्ठता की कोशिश से प्रतिस्थापित कर दिया तथा पुरुषोचित विरोध को एक ख़ास अर्थ के लिए प्रयोग में लाया गया। अन्य विद्वानों का मानना है कि अब इसका प्रयोग महिलाओं द्वारा अपनी स्त्रैणभूमिकाओं के प्रति प्रकट किए जाने वाले विरोध के लिए होता है। आधुनिक समय में महिलाओं का स्वतंत्रता आंदोलन पुरुषोचित विरोध का एक उदाहरण माना जा सकता है।

एडलर की इस अभिप्रेरणा की अवधारणा में लगातार परिवर्तन दिखते हैं। 1908 में एडलर ने यह बताया कि सभी अभिप्रेरकों के पीछे गत्यात्मक बल आक्रामकता है, परंतु कुछ ही समय बाद वे प्रणोद का नाम बदलकर पुरुषोचित विरोध कर देते हैं। 1912 में एडलर पुरुषोचित विरोध की अवधारणा को श्रेष्ठता की कोशिश के साथ प्रतिस्थापित कर देते हैं। उनका मत था कि पुरुषोचित विरोध की अवधारणा से मानव अभिप्रेरणा की व्याख्या ठीक ढंग से नहीं होती हैं। बाद में *श्रेष्ठता की कोशिश* के पद को परिवर्तित करके उसका नामकरण *सफलता या पूर्णता की कोशिश* कर दिया। सफलता या पूर्णता की कोशिश से एडलर का तात्पर्य पूर्णता की प्राप्ति की ओर बढ़ने की मौलिक प्रेरणा से हैं। एडलर ने इसके चार विशेषताओं का उल्लेख किया है। जो इस प्रकार हैः

- सफलता की कोशिश अभिप्रेरण जन्मजात होता है और जन्म के समय ही शिशुओं में मौजुद रहता है। अतः हीनता के भाव से इसका जन्म नहीं होता है, बल्कि इस भाव के उत्पन्न होने के पहले से ही यह शिशु में मौजुद होता है।
- सफलता की कोशिश अभिप्रेरण जन्मजात होता हैं तथा जन्म के समय मौजुद होता है। हालांकि इसका विकास बाद में हाता हैं जन्म के समय यह मात्र एक अंत:शक्ति के रुप में उपस्थित रहता है। अतः यह पूरे जीवन के दौरान विकसित होते रहता है।
- सफलता की कोशिश कई अभिप्रेरकों का एक सम्मिश्रण नहीं है, बल्कि यह एक अकेला अभिप्रेरक है जो जन्म प्रणोदनों (Drives) को निर्धारित भी करता है।
- सफलता की कोशिश एक सर्वसार्विक प्रणोद (Universal Drives) है, जो सामान्य एवं स्नायुविकृत दोनों तरह के व्यक्तियों में पाया जाता है। यह बात जरुर है कि इन दोनों तरह के व्यक्तियों द्वारा लक्ष्य पर पहुंचने के लिए जो मार्ग ग्रहण किए जाते है, वे अलग-अलग होते है। स्नायुविकृत व्यक्तियों द्वारा वैयक्तिक श्रेष्ठता का अतिरंजित मार्ग अपनाया जाता है, जबकि मानसिक रुप से स्वस्थ व्यक्ति सामाजिक अभिरुचि के मार्ग को अपनाते है।

इसके बावजूद श्रेष्ठता प्रयास (Superiority Striving) की बात भी एडलर करते हैं। इसका अर्थ वे एक तरह के स्वयं-सुधार से लगाते हैं किसी को हासिल करने के लिए अपने व्यक्तिगत तौर पर पूर्णत प्रयासरत होने से श्रेष्ठता प्राप्त नहीं होती, किंतु अन्य लोगों के मुकाबले अच्छा प्रयास हमें श्रेष्ठता प्रदान करता है। इसके साथ-साथ एडलर हीनता मनोग्रंथि (Inferiority complex) तथा श्रेष्ठता जटिल (Superiority complex) की बात भी करते हैं।

2.4 व्यक्तित्व की एकता (Unity of Personality)

एडलर के सिद्धांत की एक महत्वपूर्ण पूर्वकल्पना यह है कि सभी मनोवैज्ञानिक घटनाएं व्यक्ति के भीतर आत्म-संगत ढंग से एकीकृत होती हैं *फ्रायड से अलग होने से पहले एडलर ने ड्राइव्स पर काफ़ी ज़ोर दिया था, किंतु अलग होने के पश्चात उन्होंने व्यक्तित्व का वर्णन करते हुए यह कहा कि व्यक्तित्व जीवन की शैली के अनोखेपन तथा फिक्शनल फिनालिज्म का एकरूप होना है* (Cloninger, 2004, पृ. 109)। *एडलर ने अपने सिद्धांत में बताया है कि मन तथा शरीर, चेतन तथा अचेतन एवं तर्क तथा संवेग में कोई स्पष्ट अंतर कर पाना संभव नहीं है मानव के सभी व्यवहारों को श्रेष्ठता या सफलता के अंतिम लक्ष्य के संदर्भ में समझा जा सकता है और यही अंतिम लक्ष्य व्यक्तित्व में एकता तथा दिशा प्रदान करते हैं* (सिंह ए. क., 2000, पृ. 215-16)।

2.4.1 जीवन की शैली (Style of Life)

कोई भी व्यक्ति अपनी अनोखी जीवन की शैली से लक्ष्य निर्देशित करता है। जीवन की शैली की शुरुआत एक तरह से क्षतिपूर्ति प्रक्रिया से होती है, यह प्रक्रिया किसी निश्चित हीनता के लिए निर्धारित होती है। उस

हीनता से उभार के लिए व्यक्ति का व्यक्तित्व क्षतिपूर्ति, अति-क्षतिपूर्ति में नेतृत्व करता है। जीवन की शैली में, लक्ष्य तक पहुँचने के लिए स्व तथा संसार के संबंध में उसका/उसकी व्यक्तिगत अवधारणा और उस संसार में व्यक्तिगत लक्ष्य तक पहुँचने के प्रयत्नों का अनोखा रास्ता शामिल है (Cloninger, 2004, पृ. 109)। कुछ लोग इसके लिए समाज विरोधी जीवन की शैली को अपनाते है, जैसे- जालसाजी, धोखाधड़ी तथा आक्रामक रूप से वे अपने संतुष्टि को खोजते हैंऔर अन्य तुलनात्मक आधार या कठोर मेहनत का स्वीकार करते हैं।

एडलर के योगदानों में जीवन की शैली एक महत्वपूर्ण संप्रत्यय हैं। जीवन शैली से तात्पर्य लक्ष्य पर पंहुचने का व्यक्ति का अपूर्व तरीका एवं उसकेलिए आत्म-संप्रत्यय तथा दूसरों के प्रति विकसित मनोवृत्ति आदि से होता हैं। जीवन की शैली कई कारकों, जैसे- आनुवांशिकता, पर्यावरण, सामाजिक अभिरुचि, सफलता के लक्ष्य आदि से प्रभावित होती है। एडलर ने जीवन की शैली को एक प्रमुख नियंत्रक बल माना हैं। अतः यह फ्रायड द्वारा प्रतिपादित संप्रत्यय इगो (Ego) का तुल्य संप्रत्यय है, परंतु एडलर ने यह स्पष्ट किया कि इसमें इड (Id) एवं सुपर इगो (Super Ego) जैसे कारक सम्मिलित नहीं होते हैं। इससे उसके संपूर्ण व्यक्तित्व तथा उनके अनोखे मनोवृत्तिका ज्ञान होता हैं। जीवन की शैली का निर्माण चार या पांच साल की आयु तक हो जाता है। इसे एडलर ने प्राथमिक स्मृतियाँ (First Memorie's) के रूप में दर्शाया है। जीवन की शैली का एक बार निर्माण हो जाने के बाद उसमें परिवर्तन संभव नहीं हैं। बाद में व्यक्ति अपने अनोखे जीवन की शैली की अभिव्यक्ति करने के नए-नए तरीके सीखता है, परंतु यह जीवन शैली के मौलिक संरचना, जिसका चार-पांच साल में निर्माण होता है, में विस्तार या वर्धन ही होता है। आगे एडलर जीवन की शैली को दो भागों में बांटते है। पहली गलत जीवन की शैली (Mistaken Style of Life) तथा दूसरी निरोगी जीवन की शैली(Healthy Style of Life)। इन दो जीवन की शैलियों को अन्य उप-प्रकारों में बांटा गया है। व्यक्तियों द्वारा अपनाई जाने वाली जीवन की शैलियाँ निम्नलिखित है-

जीवन की गलत शैली (Mistaken Style of Life)

- अधिकार दिखाने वाले (Ruling Type) - ऐसे व्यक्ति दूसरों पर प्रभुत्व दिखाते है तथा इनमें सामाजिक अभिरुचि की कमी पाई जाती है।
- प्राप्त करने वाले (Getting Type) - ऐसे लोग दूसरों से जितना अधिकाधिक प्राप्त करने की कोशिश करते हैं। ऐसे लोग जरुरत से ज़्यादा दूसरों पर निर्भर होते हैं। परिस्थिति अत्यधिक तनावपूर्ण होने पर ऐसे लोग स्नायुविकृत हो जाते हैं।ऐसे लोगों में सामाजिक अभिरुचि की कमी पाई जाती है।
- दूर हट जाने वाले (Avoiding Type) - ऐसे लोगों में सामान्य परिहार तथा परिस्थिति से हट जाने की प्रवृत्ति अधिक होती है। ऐसे लोगों में सामाजिक अभिरुचि की पर्याप्त कमी पाई जाती है।

निरोगी जीवन की शैली (Healthy Style of Life)

सामाजिक रुप से उपयोगी (Socially Useful Type) - ऐसे लोग वैसे व्यवहार अधिक करते हैं जो सामाजिक रुप से उपयोगी होते हैं। ऐसे लोगों में सामाजिक अभिरुचि अधिक होती हैं। ऐसे व्यक्ति अधिक सक्रिय होते है तथा उनकी सामाजिक जीवन में ज़िंदादिली आधिक होती है। ऐसे लोग किसी भी सामाजिक समस्या का समाधान आम लोगों के सहयोग से करते हैं।

उपर्युक्त चार प्रकारों के अलावा एडलर ने तीन दोषपूर्ण जीवन शैली के प्रकारों का भी वर्णन किया है। तुच्छ प्रकार, अति स्नेहित प्रकार तथा तिरस्कृत प्रकार। तुच्छ प्रकार वाले व्यक्ति में तीव्र आंगिक हीनता की भावना होती है तथा वे उसकी पर्याप्त क्षतिपूर्ति करने में असमर्थ रहते हैं। ऐसे व्यक्ति परिस्थिति से समायोजन करने के लिए परिहार का व्यवहार दिखाता है तथा उससे दूर हटकर अपने को अधिक संतुष्ट पाता है। अति स्नेहित प्रकार वाले व्यक्ति आत्मकेंद्रित एवं स्वार्थी होते है। इनमें सामाजिक अभिरुचि की कमी पाई जाती है। तिरस्कृत शैली वाले व्यक्ति बहुत कुछ अति स्नेहित प्रकार के ही समान होते हैं तथा चेतन रुप से अपने आप को बर्बाद करने में उन्हें आनंद आता है।

2.5 व्यक्तित्व का विकास (Development of Personality)

एडलर का मानना है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में चुनाओं (Choises) के लिए स्वयं ज़िम्मेदार होता है। वह स्वयं इसकी पहचान करता है कि उसे किस तरह के परिस्थितियों में शामिल होना है तथा जीवन की इच्छाओं या गैरइच्छाओं वाली शैली को अपनाना है इसके अलावा समाज में यौन भूमिका, सरकारी ओरिएंटेशन और गरीबी, बेरोज़गारी जैसी जटिल परिस्थितियों आदि सामाजिक कारकों का उसके मानसिक निरोगी जीवन शैली पर प्रभाव पड़ता है, क्योंकि यही वे कारक हैं, जो जीवन की शैली के विकास में मदद करते हैं। परिवार विशेष रूप से व्यक्ति के इस जीवन की शैली के विकास को प्रभावित करता है। इस संदर्भ में एडलर, फ्रायड के विचारों से सहमत नज़र आते हैं कि माता-पिता के संबंधों का उन पर असर पड़ता है। एडलर इस मामले में फ्रायड से आगे निकल जाते हैं, क्योंकि उनका मानना था कि व्यक्तित्व निर्धारण पर भाई-बहनों का परिणाम भी महत्वपूर्ण है (Cloninger, 2004, पृ. 112)।

2.5.1अभिभावकों का व्यवहार (Parental Behavior)

एक शिशु के जीवन की शुरुआत असहाय दशा में होती है अभिभावक उसे सहायता देकर निरोगी जीवन प्राप्ति में मदद करते हैं। अभिभावकों के मदद से ही शिशु विभिन्न प्रकार के जटिल कार्य सफलतापूर्वक पूर्ण कर पाता है। अभिभावक शिशु को इस तरह बनाने का प्रयत्न करते हैं, जिससे उनका शिशु सदा सभी में श्रेष्ठ बना रहे। इस संदर्भ में एडलर माता-पिता को कुछ सलाह भी देते हैं। Dreikurs and Soltz (1964) एडलर की उन सलाहों को संक्षेप में *निरोगी बच्चों के उभार के लिए एडलर की सलाह* के रूप में दर्शाते हैं। उनमें से कुछ निम्नलिखित है-

- अच्छा होगा कि बच्चों को साधारण सजा देने के बदले हिम्मत प्रदान करें
- अभिभावक दृढ़ और अडिग हो, परंतु प्रभुत्वशाली(Dominating) नहीं।

- बच्चों के प्रति सम्मान दर्शाएं।
- दिनचर्या की देखरेख करें।
- सहयोगिता पर ज़ोर दें।
- बच्चों पर आवश्यकता से अधिक ध्यान न दें।
- बच्चों के साथ सत्ता संघर्ष में बंधे नहीं
- बच्चों को समझाते समय शब्दों की जगह क्रिया का उपयोग करें।
- अत्याधिक सहानुभूति न दें।
- सामंजस्य बनाए रखे।

एडलर का मानना है कि ख़ास कर माता, शिशु के सहकार्यात्मक अभिवृत्ति, सामाजिक भावना के विकास को प्रभावित करती है या निरोगी और रोगी जीवन की शैली के बीच भेद को वह निश्चित कर सकती है। पिता पारंपारिक रूप से परिवार के मुख्याधिकार प्राप्त व्यक्ति होते हैं, वे बच्चों को सत्ता और स्वार्थ या सामाजिक ज़िम्मेदारी के प्रदर्शन को सिखाते हैं। इसके बावजूद माता सामान्य रूप से बच्चों के साथ ज़्यादा समय व्यतीत करती है। इसी आधार पर किए गए शोधों का मानना है कि बच्चों के साथ अभिभावकों द्वारा किए गए व्यवहार के कारण अनेक समस्याएं उत्पन्न हो सकती है। इसे एडलर के दृष्टिकोण से दो प्रकार में बांटा जा सकता है-

1. अति लाड-प्यार प्राप्त बच्चे
2. उपेक्षित (Neglected) बच्चे

अभिभावकों से अधिक लाड-प्यार प्राप्त बच्चे अन्य लोगों से भी इसी की आशा करते हैं और जब बाहरी दुनिया से इनका सामना होता है, तब वे अभिभावकों को अपने जीवन के दशा के लिए ज़िम्मेदार मानने लगते हैं। वे उनसे मांग करते हैं प्रेम नहीं।

दूसरी ओर हम देखते हैं किसी भी बच्चे के असमायोजित होने में अभिभावकों द्वारा की गई उपेक्षा महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है। अभिभावकों की उपेक्षिता के कारण बच्चों को विभिन्न कार्य करने में दिक्कते उठानी पड़ती है। उपेक्षित बालक/बालिका अपने में लाड-प्यार की जीवन शैली का विकास करते हैं। उनकी इच्छा होती हैं कि अभिभावक उनसे लाड-प्यार करें उनका खयाल रखे, किंतु इसकी कमी के कारण वह अपने पोषण के लिए अधिक मात्रा में दूसरों पर निर्भर बनता है।

इस समस्या के समाधान के लिए एडलर *अभिभावकों का प्रशिक्षण कार्यक्रम* की सलाह देते हैं।

2.5.2 परिवार पुंज (Family Constellation)

व्यक्ति के व्यक्तिव विकास पर भाई-बहनों के साथ बचपन की अंतःक्रिया का प्रभाव महत्वपूर्ण है। अन्य मनोविश्लेषक अभिभावक-शिशु के संबंधों पर अधिक ज़ोरदेते हैं, केवल परिवार पुंज (सहोदर का जन्म क्रम, आयु, और लिंग) ही भाई-बहनों के साथ के संबंध पर ज़ोर देता है। यह उन महत्वपूर्ण अवधारणाओं

में से एक है, जो एडलर को अन्य मनोविश्लेषकों से अलग करती है। इस अवधारणा में एडलर जन्म क्रम के अनुसार बच्चों के व्यक्तित्व विकास पर प्रकाश डालते हैं।

- पहला बच्चा (First Born Child)
- दूसरा बच्चा(Second Born Child)
- तीसरा बच्चा (Youngest Child)
- अकेला बच्चा (Only Child)

प्रथम जन्म क्रम वाले बच्चे माता-पिता का अविभाजित ध्यान तथा स्नेह पहले पाते है, परंतु बाद में उन्हें कटु अनुभूतियोंका सामना करना पड़ता है, क्योंकि माता-पिता का वही स्नेह एवं ध्यान अब दूसरे भाई या बहन के प्रति बंट जाता है। इस कारण उनमें अपने छोटे भाई के प्रति अधिक घृणा एवं विद्वेष का भाव उत्पन्न हो जाता है। ऐसे बच्चे में दुश्चिंतातथा अति सुरक्षात्मक प्रवृत्तियां विकसित हो जाती हैं। दूसरे जन्म क्रम वाले बच्चे उससे अच्छी परिस्थिति में अपना जीवन प्रारंभ करते हैं। ऐसे बच्चों की सामाजिक अभिरुचि अधिक विस्तृत होती है तथा सहयोग एवं प्रतिस्पर्धा की भावना तीव्र होती है। एडलर के अनुसार दूसरे जन्म क्रम वाले बच्चे उपलब्धि उन्मुखीहोते हैं। अंतिम या सबसे छोटे जन्मक्रम वाले बच्चे की स्थिति थोड़ी अपूर्व होती है। एडलर का मत है कि ऐसे बच्चों में आगे चलकर समस्याग्रस्त बालक होने की संभावना तीव्र होती है। ऐसे बच्चों में आत्मनिर्भरता की कमी पाई जाती है तथा उसमें हीनता का भाव मजबूत हो जाता है। ऐसे बच्चे भी उपलब्धि उन्मुखी होते हैं जिसके लिए वे माता-पिता के साथ ही प्रतियोगिता प्रारंभ कर देते हैं। ऐसे बच्चों का अतिरंजित आत्म-संप्रत्यय होता है तथा इनमें श्रेष्ठता का भाव जरुरत से ज़्यादा ही होता हैं। ऐसे बच्चे जरुरत से ज़्यादा दूसरे पर निर्भर रहते हैं तथा उनमें सामाजिक अभिरुचि तथा सहयोग की भावना की पर्याप्त कमी होती है। अकेला बच्चा होने की स्थिति में उसको अपने सहोदरों के साथ किसी तरह की स्पर्धा नहीं करनी होती है। इस कारण अकेला बच्चा अभिभावकों का ध्यान प्राप्त करता है। उसे पर्याप्त लाड-प्यार मिलता है तथा उसके अपनी माँ से ज़्यादा घनिष्ट संबंध पनपते है। एडलर का मानना है कि जिस बच्चे में अपनी माँ के इस संबंधों के कारण अतिसुरक्षिततता पनपती है, इसके कारण उस बच्चे में 'माता जटिल' (Mother Cmplex) का विकास होता है।

इसके बावजूद परिवार में सहोदरों के आने से परिवार के वातावरण में परिवर्तन आ जाता है। साथ ही दो बच्चों के बीच का समय भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है देर से होने वाले दूसरे या तीसरे क्रम के बालक/बालिका में भी अकेले बच्चे जैसी स्थिति देखी जा सकती है।

2.6 मानसिक स्वास्थ्य (Psychological Health)

एडलर के अनुसार मानसिक स्वास्थ्य की अवस्था शुद्ध रूप से व्यक्तिगत कम और सामाजिक ज़्यादा है। इसमें सामाजिक अभिरुचि तथा जीवन के तीन कार्य (Three Task of Life) को वो शामिल करते हैं, जिसके आधार पर एक व्यक्ति खुशहाल और निरोगी स्वास्थ्य प्राप्त कर सकता है।

सामाजिक अभिरुचि (Social Interests)

एडलर का समाजिक अभिरुचि से तात्पर्य सामान्य रुप से मानवता के कल्याण की मनोवृत्ति तथा दूसरों के प्रति परानुभूति दिखलाने की इच्छा से है। यह पूरे जीवन के दौरान व्यक्ति के व्यवहारको निर्देशित करता है। सफलता की कोशिश के अभिप्रेरण के सामन ही सामाजिक अभिरुचि निःसंदेह जन्मजात होता हैं। परंतु इसे बाद में विकसित किया जाता है, क्योंकि जन्म के समय यह एक अंतःशक्ति के रुप में मौजुद होता है। एडलर का मत है कि कुछ ऐसे भी लोग होते हैं, जिनमें सामाजिक अभिरुचि कभी नहीं विकसित हो पाती है, बल्कि उनमें अतिरंजित वैयक्तिक श्रेष्ठता की भावना ही प्रबल होती हैं। स्नायुविकृत, पियक्कड, अपराध, वेश्या एवं यौन विकृतकामी आदि कुछ इसक प्रकार के व्यक्ति हैं, जिनमें एडलर के अनुसार सामाजिक अभिरुचि की कमी पाई जाती है।

जीवन के तीन नियत कार्य (Three Task of Life)

सामाजिक अभिरुचि के कारण सामाजिक जीवन सहयोग की मांग रखता है। इसके अंतर्गत काम (Work), प्रेम तथा सामाजिक अंतःक्रिया जीवन के बुनियादी नियत कार्य है। इन तीनों क्षेत्रों में सफलता ही मानसिक स्वास्थ्य का साक्ष्य है। कार्य का यहाँ संदर्भ है व्यवसाय, सामाजिक उपयोगिता वाले रोज़गार के साथ कमाना आदि। यहाँ श्रम विभाजन से तात्पर्य बहुत सारे लोगों का संगठित सहयोग से है। व्यक्ति को अधिकतम वास्तविक बनने के लिए यह आवश्यक है। दूसरा नियत कार्य है प्रेम, इसका संदर्भ यहाँ यौनिक संबंधों और स्त्री-पुरुषों के बीच होने वाले विवाह से है, जिसमें बच्चे के जन्म का निर्णय भी शामिल है। एडलर का यह सुझाव है कि प्रेम प्राप्ति के लिए एकविवाही (Monogamy) सही रहेगा। इस मामले में एडलर थोड़े पारंपारिक विचार रखते हैं। तीसरा नियत कार्य सामाजिक अंतःक्रिया है। सामाजिक अंतःक्रिया से तात्पर्य सामुदायिक जीवन की समस्याओं से है। इन समस्याओं के समाधान के लिए अन्य के साथ सामाजिक संबंध जरुरी है। इसमें मित्रता भी शामिल है। उक्त दोनों नियत कार्य को अच्छी तरह पूर्ण करने के लिए सामाजिक अंतक्रिया जरुरी माध्यम है। सभी प्रकार के सामाजिक संबंध, सामाजिक अंतःक्रिया की मजबूत भावना के बुनियाद पर ही पनपते हैं और साथ ही इसके कारण ही स्व-केंद्रिकता तथा आत्मरत अभिवृत्ति की रोकथाम संभव हैं

उक्त तीन कार्य एक दूसरे के साथ अंतरसंबंधित हैइसलिए एक दूसरे से अलग करके इसका समाधान नहीं किया जा सकता और न ही पर्याप्त समाजिक अंतःक्रिया में कमी आने से इसका समाधान हो सकेगा। इसलिए यह मानना है कि इन तीनों के स्तर का संतुलन बनाए रखना चौथा महत्वपूर्ण नियत कार्य है।

उक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि एडलर के वैयक्तिक मनोविज्ञान ने मनोविज्ञान के कई क्षेत्रों में महत्वपूर्ण योगदान दिए हैं। एडलर की विभिन्न अवधारणाओं का विश्लेषण करने से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि व्यक्ति के व्यक्तित्व निर्धारण में परिवार, जन्मक्रम, सामाजिक अभिरुचि आदि सामाजिक कारकों की भूमिका भी महत्वपूर्ण हैं

2.7 अल्बर्ट बंडुरा (Albert Bandura)

अल्बर्ट बंडुरा का जन्म कनाडा के उत्तरी अल्बर्टा के मुराडारे में सन 1925 में हुआ। ब्रिटिश कोलंबिया विश्वविद्यालय से 1945 में उन्होंने बी. ए. की उपाधि हासिल की तथा आयोवा विश्विद्यालय से उन्होंने 1952 में नैदानिक मनोविज्ञान में पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। बंडुरा अमेरिकन मनोवैज्ञानिक संघ तथा पश्चिमी मनोवैज्ञानिक संघ के अध्यक्ष भी रह चुके हैं साथ ही कई महत्वपूर्ण जर्नलों का संपादन भी उन्होंने किया है। उनका संबंध सामाजिक सीखना सिद्धांत, व्यवहार परिमार्जन, विशेषकर मॉडलिंग से है। व्यवहारवादी विचारधारा तथा संज्ञानात्मक मनोविज्ञान का उनके विचारों पर असर दिखाई देता है।

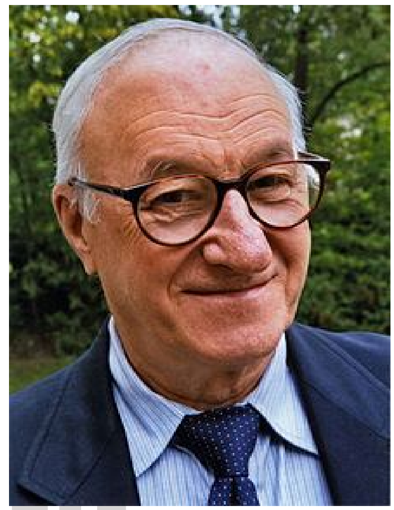

व्यक्तित्व विकास की व्याख्या अलबर्ट बंडुरा द्वारा प्रतिपादित 'सामाजिक अधिगम सिद्धांत' के आधार पर की गई है। परिवेशीय दशाएं व्यक्तित्व विकास को महत्वपूर्ण ढंग से प्रभावित करती है।इस सिद्धांत के प्रतिपादक बंडुरा एवं वाल्टर्स (1963) ने अपनी पुस्तक 'सोशल लर्निंग एन्ड पर्सनालिटी डेवेलपमेंट' में व्यक्तित्व विकास में पर्यावरणीय परिस्थिति के महत्व को प्रदर्शित किया है। डोलार्ड तथा मिलर (1941) के अनुसार, विकास मूलतः व्यक्ति एवं पर्यावरण की अंत:क्रिया का परिणाम है। बंडुरा का मानना है कि व्यक्तित्व के विकास में सामाजिक, संज्ञानात्मक एवं प्रेक्षणात्मक कारक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं।परिवेश हमारे व्यवहार का नियमन करता है। इसमें प्रेरकों, अंतर्नोदों या किसी के व्यक्तिगत जीवन में अंतरद्वंदों के स्थान पर वर्तमान परिस्थिति में लोगों के क्रियाकलापों पर बल दिया गया है (बंडुरा, 1973)। यहाँ हम बंडुरा के व्यक्तित्व विकास के सिद्धांत में शामिल विभिन्न अवधारणाओं को समझते हुए उनके व्यक्तित्व विकास के सिद्धांत का अध्ययन करेंगे।

ज्ञान शांति मैत्री

मनोविज्ञान में सामाजिक सीखने के सिद्धांत में तीन मनोवैज्ञानिकों का नाम आता है, अलबर्ट बंडुरा, मार्टिन सेलिगमैन तथा वाल्टर मिशेल। इन तीनों में अलबर्ट बंडुरा के सिद्धांत को महत्वपूर्ण माना गया है। बंडुरा के व्यक्तित्व सिद्धांत के दो मुख्य आधार वाक्य वाक्य है-

- अधिकतर मानव व्यवहार अर्जित होते हैं। अर्थात व्यक्ति उन्हें अपने जीवन काल में सीखता है।
- मानव व्यवहार के संपोषण एवं विकास की व्याख्या करने के लिए सीखने का नियम पर्याप्त है।

बंडुरा सामाजिक-सीखना सिद्धांत में मानव स्वभाव के कुछ ख़ास पहलुओं, जैसे-तार्किकता, पर्यावरणीयता, परिवर्तनशीलता तथा ज्ञेयता (Knowability) पर अधिक ज़ोर देता है। बंडुरा के सिद्धांत को समझने के लिए हमें उसके द्वारा प्रतिपादित अवधारणाओं का आंकलन करना पडेगा।इसी के माध्यम से बंडुरा के व्यक्तित्व विकास के सिद्धांत को समझा जा सकता है। बंडुरा के व्यक्तित्व विकास के सिद्धांत में अन्य मनोवैज्ञानिकों के भाँती विकास की अवस्थाओं का स्पष्ट विवरण तो नहीं मिलता, किंतु सर्वमान्य अवस्थाओं में व्यक्ति का विकास कैसे होता है? इस प्रश्न के उत्तर के लिए वे अपने विचार रखते हैं।

व्यवहारवाद तथा संज्ञानात्मक मनोविज्ञान के प्रभाव के कारण वे अपने सिद्धांत में दोनों का तालमेल बिठाकर संज्ञानात्मक सामाजिक सीखने के सिद्धांत के आधार पर व्यक्तित्व का विश्लेषण करते हैं जैसे- आत्म-तंत्र, अन्योन्य नियतिवाद तथा मॉडलिंग बंडुरा की महत्वपूर्ण अवधारणाओं में से है जिसको समझते हुए हम उसके व्यक्तित्व विकास के विचारों को समझ सकते हैं।

2.8 नियतिवाद/ अन्योन्य निर्धार्यता (Reciprocal Determinism)

ज़्यादातर मनोवैज्ञानिकों का यह दृष्टिकोण रहा है कि अंतक्रिया कारणों के जटिल जाल से संबंधित कुछ आयामों को लेकर व्यक्ति के व्यवहार को समझे। व्यवहारवादियों ने इसका अध्ययन किया कि परिस्थितियां कैसे व्यवहार को प्रभावित करती है। शीलगुण दृष्टिकोण से देखने वाले मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व शीलगुण कैसे व्यवहार को प्रभावित करता है, के अध्ययन तक सीमित रहे , किंतु इससे आगे और विस्तार से कारण-प्रभाव का अध्ययन केवल बंडुरा के इस अवधारणा में दिखता है (Cloninger, 2004, पृ. 365)। यही वो अवधारणा है, जिसमें व्यक्ति, पर्यावरण तथा व्यवहार की पहचान की गई। बंडुरा के सिद्धांत में अन्योन्य निर्धार्यता/नियतिवाद का संप्रत्यय काफ़ी महत्वपूर्ण संप्रत्यय है। इस संप्रत्यय के माध्यम से बंडुरा यह स्पष्ट करना चाहते थे कि मानव संज्ञानात्मक, व्यवहारत्मक तथा पर्यावरणीय निर्धारकों के बीच सतत अन्योन्य अंत:क्रिया का एक प्रतिफल होता है। इस तरह के अन्योन्य अत:क्रिया की प्रक्रिया को बंडुरा ने अन्योन्य निर्धार्यता की संज्ञा दी है। इस संप्रत्यय के अनुसार मानव क्रिया में तीन कारकों का परस्पर प्रभाव हमेशा पड़ता है। वे तीन कारक है-

- बाह्य वातावरण (Environment)
- संज्ञानात्मक एवं आन्तरिक घटनाएं(Person) और
- व्यवहार (Behavior)

इन तीनों के अन्योन्य प्रभावों को चित्र:01 में दिखलाया गया है।

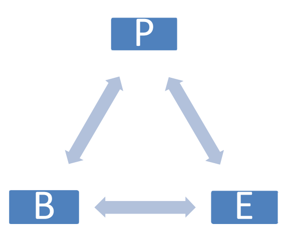

चित्र : 01

चित्र:01 से स्पष्ट है कि तीनों कारक त्रिभुज के प्रत्येक कोने में एक-दूसरे से संबद्ध एवं अंतर्निर्भर दिखलाए गए हैं। चित्र से यह भी स्पष्ट है कि इन तीन तत्वों में से कोई भी एक तत्व या कारक अन्य दोनों को प्रभावित कर सकता है। जैसे किसी व्यक्ति का यह विश्वास है कि वह क्या कर सकता हैं? और यदि वह अमुक कार्य करें तो उसका क्या परिणाम होगा? से उसका वास्तविक व्यवहार प्रभावित होता है और फिर उसके वास्तविक व्यवहार से उसका वातावरण प्रभावित हो जाता है, जो बाद में चलकर व्यक्ति के प्रत्याशा को काफ़ी हद तक प्रभावित कर सकता है।

B= Significant Behavior.

P= The Cognitive and other Events than can affects the Perceptions and Actions.

E= the External Environment.

चित्र में आप देख सकते हैं कि B प्रतीक है व्यवहार का, P प्रतीक है व्यक्ति संज्ञान तथा अन्य घटनाएं, जो उसके प्रत्यक्षीकरण तथा क्रियाओं पर असर डालती हैं E प्रतीक है बाह्य वातावरण का। इन तीनों के अनोन्य क्रिया से ही व्यक्ति समाज में सीखता है तथा उससे उसका विकास होता है। बंडुरा इसे समझाने के लिए एक सूत्र का उपयोग करते हैं-

अनिर्देशीत (Undirectional)

B=*f* (P,E)

द्विनिर्देशीत (Bidirectional)

B=*f*(P⇆E)

इस सूत्र के अनुसार व्यक्ती का व्यवहार उसके संज्ञान तथा अन्य आंतरिक घटनाओं और बाह्य वातावरण से उत्पन्न होता है। इसे बंडुरा दो भागों में बाँटते है। पहला जिसे वे अनिर्देशित की संज्ञा देते है इसमें व्यक्ति और बाह्य पर्यावरण के बीच कोई निर्देश नहीं है इसलिए व्यवहार अनिर्देशित है। उदाहरण के लिए एक विद्यार्थी स्कूल में पढ़ने रोज जा रहा है , किंतु उस स्कूली वातावरण का उसके व्यवहार पर असर नहीं हो रहा हो ऐसे में वह व्यवहार अनिर्देशित व्यवहार कहलाया जाएगा, किंतु अगर दूसरा विद्यार्थी उसी स्कूल में जाते हुए अपने व्यवहारों में परिवर्तन लाते हुए पढ़ाई में आगे निकल जाए तब यह माना जाएगा कि यह प्रक्रिया द्विनिर्देशित है। इस में दोनों विद्यार्थी और स्कूल एक दूसरे को प्रभावित कर रहे हैं। परिणामत: विद्यार्थी के संज्ञान तथा क्रियाओं पर उसका असर पड़ रहा है।

2.9 आत्म-तंत्र

अन्योन्य निर्धार्यता के संप्रत्यय से स्पष्ट है कि प्रत्येक चीज़ परस्पर ढंग से अंतक्रियात्मक होती है। प्रश्न यह उठता है कि क्या इनका कोई केंद्र बिंदु भी होता है? बंडुरा ने इस प्रश्न का उत्तर हां के रुप में दिया है। और वह केंद्र बिंदु है आत्म-तंत्र।

बंडुरा ने यह स्पष्ट किया है कि आत्म-तंत्र कोई मानसिक एजेंट नहीं है, जिससे व्यवहारों का नियंत्रण होता है, बल्कि यह एक ऐसी संज्ञानात्मक संरचना है, जो व्यक्ति को एक संदर्भ प्रक्रम प्रदान तो करता है, साथ-ही-साथ प्रत्यक्षण, मूल्यांकन एवं व्यवहारों के संचालन के लिए रास्ता भी प्रशस्त करता है। आत्मतंत्र से व्यक्तित्व में संगतता तथा एकात्मकता उत्पन्न होती होती है। आत्म-तंत्र का एक महत्वपूर्ण कार्य आत्मनियमन है। आत्म-नियमन से तात्पर्य चिंतन द्वारा अपने वातावरण में जोड़-तोड़ करने तथा अपने कार्यों के परिणामों को स्पष्ट करने की क्षमता से होता है। आत्म-नियमन व्यवहार में तीन प्रक्रियाएं सम्मिलित होती है।

- आत्म-प्रेक्षण
- निर्णय प्रक्रिया
- आत्म-अनुक्रिया

आत्म-प्रेक्षण में व्यक्ति अपने आप को कुछ खास-खास कारकों, जैसे- निष्पादन के गुण, मात्रा, मौलिकता आदि के रुप में प्रेक्षण करता है। निर्णय प्रक्रिया में व्यक्ति अपने व्यवहार को वैयक्तिक मानदंडों के रुप में तथा दूसरों के साथ तुलना करके किसी निर्णय पर पहुंचता हैं। आत्म निर्णयों के आधार पर व्यक्ति अपने आप का धनात्मक एवं ऋणात्मक ढंग से मूल्यांकन करता है और उसी के संदर्भ में अपने आप को पुरस्कृत करता हैं या दंड देता है।

आत्म तंत्र का एक महत्वपूर्ण तत्व **आत्म सामर्थ्य** है। बंडुरा के अनुसार आत्म-सामर्थ से तात्पर्य एक ऐसे आत्म प्रत्यक्षण से होता है, जिसमें व्यक्ति यह अनुमान लगाता है कि वह किसी उत्पन्न परिस्थिति में कितने प्रभावकारी ढंग से कार्य कर सकता है। दूसरे शब्दों में, आत्म-सामर्थ्य से तात्पर्य व्यक्ति द्वारा की गई उम्मीद या प्रत्याशा से होता है कि वह अमुक परिस्थिति में कितना प्रभावकारी ढंग से कार्य करता है? ऐसे प्रत्याशा के दो प्रकार है- सामर्थ्य प्रत्याशा तथा परिणाम प्रत्याशा। सामर्थ्य प्रत्याशा से तात्पर्य व्यक्ति में उस तरह के विश्वास से होता है, जिसके सहारे वह यह उम्मीद करता है कि किसी खास तरह के परिणाम की प्रप्ति के लिए जो व्यवहार या कार्य की जरुरत है, उसे वह सफलतापूर्वक कर सकता है। जैसे- यदि कोई यह विश्वास करता है कि दिए गए समस्या का समाधान करने के लिए उसके पास पर्याप्त कौशल है, तो कहा जाएगा कि उसमें सामर्थ्य प्रत्याशा आधिक है। परिणाम प्रत्याशा से तात्पर्य व्यक्ति के उस विश्वास से होता है, जिसके सहारे वह यह समझता है कि अमुक व्यवहार करने से अमुक परिणाम निश्चित रुप से मिलेंगे। जैसे- यदि छात्र वर्ग में दिए गए समस्या का समाधान कर लेता है और यह उम्मीद करता है कि उसका समाधान शत-प्रतिशत सही होगा ओर यदि सचमुच में ऐसा होता है। तो यह कहा जाएगा की छात्रों

में परिणाम प्रत्याशा आधिक मजबूत थे। यदि किसी व्यक्ति में सामर्थ्य प्रत्याशा ऊँची है तथा परिणाम प्रत्याशा वास्तविक है, तो व्यक्ति कड़ी मेहनत करेगा और जब तक लक्ष्य तक न पहुंचे, अपना प्रयास जारी रखेगा। बंडुरा के अनुसार सामर्थ्य प्रत्याशा समायोजनशीलता का एक महत्वपूर्ण भाग होता है।

2.10 मॉडलिंग प्रेक्षण द्वारा सीखना

बंडुरा (1977) का मत है कि व्यक्ति दूसरों के व्यवहारों का प्रेक्षण करके तथा उसे दोहराकर वैसा ही व्यवहार करना सीख लेता है। इसे ही मॉडलिंग की संज्ञा दी जाती है। इस सिलसिले मेंबंडुरा, रॉस तथा रॉस ने एक लोकप्रिय प्रयोग किया है। इस प्रयोग में स्कुल के बच्चों को वयस्क द्वारा तीन से चार फीट की एक गुडिया (जिसे बौब गुडिया का नाम दिया गया था) को उछालते हुए, मारते हुए एवं उसके प्रति आक्रामकता होते हुए दिखलाया गया। जब इन बच्चों को उसी गुड़िया के साथ अकेला छोड़ दिया गया। तब देखा गया कि उनके द्वारा भी वैसा ही आक्रामक व्यवहार उस गुडिया के प्रति किया गया। बाद के प्रयोगों में जब बच्चों को टेलीविजन पर ऐसे ही आक्रामकता के दृश्य दिखलाए तब उनका व्यवहार उन बच्चों की तुलना में अधिक आक्रामक पाया गया, जिन्हें ऐसे दृश्य टेलीविजन पर नहीं दिखलाए गए थे। बंडुरा (1997,1986) द्वारा किए गए शोधों के आधार पर मॉडल के निम्नलिखित तीन कारकों को अधिक महत्वपूर्ण बताया गया है, जिसमें मॉडलिंग प्रभावित होती है-

- मॉडल की विशेषताएं
- प्रेक्षक की विशेषताएं
- व्यवहार के पुरस्कार परिणाम

ज्ञान शांति मैत्री

प्रेक्षणात्मक अधिगम की प्रक्रियाएं

बंडुरा ने अपने सिद्धांत में मॉडलिंग को प्रभावित करने वाले कारकों की सिर्फ पहचान ही नहीं की है बल्कि प्रेक्षणात्मक अधिगम के स्वरुप का विश्लेषण भी किया है और पाया है कि इस तरह का अधिगम निम्नांकित चार अंतर्संबंधित प्रक्रियाओं द्वारा नियंत्रित होती है

- अवधान संबंध प्रक्रियाएं
- धारणात्मक प्रक्रियाएं
- पुनरुत्पादक प्रक्रियाएं
- प्रेरणात्मक प्रक्रियाएं

इन चार प्रक्रियाओं का वर्णननिम्नांकित है-

अवधान संबंध प्रतिक्रियाएं

मॉडलिंग की सबसे पहली महत्वपूर्ण प्रक्रिया यह है कि व्यक्ति मॉडल पर ठीक से ध्यान दें। मॉडल का मात्र प्रत्यक्षण कर लेने से ही इस बात की गारंटी नहीं हो जाती है कि मॉडलिंग होगी ही। सच्चाई यह है कि जब तक व्यक्ति मॉडल के संगत तथा उपयुक्त संकेत पर सही-सही ध्यान नहीं देगा तथा उपयुक्त उद्दीपक घटनाओं का ठीक ढंग से चयन नहीं करेगा, तब तक मॉडलिंग की प्रक्रिया आरंभ नहीं होगी।

धारणात्मक प्रक्रियाएं

प्रेक्षणात्मक अधिगम की दूसरी महत्वपूर्ण प्रक्रिया धारणा से संबद्ध है। प्रेक्षणात्मक अधिगम के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति मॉडल के सभी सार्थक व्यवहारों को याद रखे या उसे धारण कर रखे। ऐसा न करने से *प्रेक्षणात्मक सीखने* की प्रक्रिया संपन्न नहीं होगी। मॉडल के सार्थक व्यवहार को धारण कर रखने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति उसे कोडित करें तथा संकेत के रुप में चित्रित करें।

पुनरुत्पादक क्रियाएं

बंडुरा का पुनरुत्पादक क्रियाओं से तात्पर्य सांकेतिक चित्रण को क्रिया या व्यवहार में परिणत करने से है। बंडुरा का मत है कि मॉडल के व्यवहार को ध्यान में रखने, उसका सांवेगिक चित्रण कर लेने तथा मन ही मन उसका पुनर्भ्यास कर लेने मात्र से ही व्यक्ति उस व्यवहार को सही-सही नहीं कर पाता है। यह बात विशेषकर उस परिस्थिति में अधिक स्पष्ट हो जाती है। जहां व्यक्ति को जटिल एवं कौशल व्यवहार सीखना होता है। इस तरह की परिस्थिति में मॉडल के व्यवहारों का क्रिया में परिणत करके पुनरअभ्यास करना आवश्यक हो जाता है।

प्रेरणात्मक प्रक्रियाएं

प्रेक्षणात्मक अधिगम की यह चौथी प्रक्रिया है, जिसका संबंध प्रेरणात्मक प्रक्रियाओं से है। चाहे व्यक्ति मॉडल के व्यवहार को कितना ही ध्यानपूर्वक क्यों न देखे और उसे धारण करके रखे तथा उसमें व्यवहार को करने की क्षमता चाहे कितनी भी अधिक क्यों न हो, वह उस व्यवहार को तब तक ठीक ढंग से नहीं कर पाता है, जब तक कि वह उसे करने के लिए प्रेरित न हो या उसे करने के लिए पर्याप्त प्रोत्साहन या पुनर्बलन नहीं दिया गया हो। पर्याप्त पुनर्बलन से व्यवहार का वास्तविक निष्पादन प्रभावित नहीं होता है, बल्कि उससे अवधानात्मक एवं धारणात्मक प्रक्रियाएं भी प्रभावित होतीं है।

बंडुरा के अनुसार ऐसे पुनर्बलन दो प्रकार के होते है। *स्थानापन्न पुनर्बलन* तथा *आत्म-पुनर्बलन* जब व्यक्ति यह देखता है कि मॉडल द्वारा अमुक व्यवहार करने पर उसे धनात्मक पुनर्बलन मिलता है तो इस तरह के पुनर्बलन को स्थानापन्न पुनर्बलन कहा जाता है। जब व्यक्ति को किसी कार्य के करनेसे आत्म-संतुष्टि एवं गर्व महसूस होता है, तो उसे आत्म पुनर्बलन की संज्ञा दी जाती है। इन दोनों तरह के पुनर्बलन का महत्व प्रेक्षणात्मक अधिगम में काफ़ी अधिक बताया गया है।

2.11 सारांश

इस इकाई में हमने नवफ्रायडवादी अल्फ्रेड एडलर तथा सामाजिक सीखना से संबंध रखने वाले अल्बर्ट बंडुरा के व्यक्तित्व विकास सिद्धांतों का अध्ययन किया है। नवफ्रायडवादीयों में अल्फ्रेड एडलर के

सिद्धांत को काफ़ी सराहना मिली। एडलर की व्यक्तित्व की एकता की अवधारणा आने वाले मनोवैज्ञानिकों के लिए एक प्रेरणा रही ख़ास कर अब्राहम मैस्लो के लिए। *मनोवैज्ञानिकों द्वारा एडलर की अवधारणाएं खासकर आंगिक हीनता, हीनता मनोग्रंथि, क्षतिपूर्ति तथा जन्मक्रम आदि को महत्वपूर्ण बताया गया है। शायद यही कारण है कि इन अवधारणाओं को समाज कार्य तथा समूह चिकित्सा का अग्रणी माना गया है* (सिंह ए. क., 2000, पृ. 224)। सरलीकृत और सामान्यता एडलर के सिद्धांत का महत्वपूर्ण पक्ष है। इसकी फ्रायड ने आलोचना की है कि एडलर के सिद्धांत में कोई जटिल प्रकृति का वर्णन नहीं हैं। *इसके बावजूद विद्वानों का मानना है कि एडलर द्वारा प्रतिपादित व्यक्तित्व विकास का सिद्धांत काफ़ी उपयोगी है और इसका प्रभाव केवल मनोविज्ञान पर ही नहीं बल्कि मनोविकृति विज्ञान (Psychiatry), शिक्षण तथा समाज कार्य आदि पर भी काफ़ी पड़ा है* (सिंह ए. क., 2000, पृ. 225)।

दूसरी ओर इस इकाई में हमने देखा कि अलबर्टबंडुरा का व्यक्तित्व का संज्ञानात्मक सामाजिक सीखने का सिद्धांत काफ़ी वस्तुनिष्ठ सिद्धांत है इसलिए इसे प्रयोगशाला विधि के लिए अधिक उपयुक्त माना गया है। विद्वानों का मानना है कि बंडुरा के प्रेक्षनात्मक सीखना तथा व्यवहार परिमार्जन को प्रयोगशाला से अलग करके रोज़मर्रा की वास्तविक समस्याओं को सुलझाने में उपयोग में लाया जाना चाहिए।बंडुरा के सिद्धांत के उपयोगिता के बावजूद विभिन्न विद्वान इसकी खामियों कोइंगित करते हुए कहते हैं किबंडुरा ने संज्ञानात्मक चरों की बात की है, किंतु वे अनावश्यक और अस्पष्ट है, इन्हें आसानी से मापा नहीं जा सकता। इन सबके बावजूद इस सिद्धांत ने सामाजिकसीखना के आधार पर व्यक्तित्व के विकास को अच्छे ढंग से विश्लेषित किया है। समाज कार्य में व्यवहार परिमार्जन तथा मॉडलिंग का उपयोग होता है तथा समूह में, समुदाय में व्यक्तियों को शिक्षित करते समय या जागरूक करने हेतु इन तरीकों का इस्तेमाल किया जाता है।

2.12 बोध प्रश्न

1. अल्फ्रेड एडलर के व्यक्तिव विकास की अवधारणा को स्पष्ट करें।
2. सफलता का प्रयास से आपका क्या तात्पर्य है, समझाएं।
3. जीवन शैली को समझाते हुए उसके विभिन्न प्रकारों पर चर्चा करें।
4. एडलर के अनुसार व्यक्तित्व के विकास को प्रभावित करने वाले कारकों की चर्चा करें।
5. अलबर्ट बंडुरा की नियतिवाद की अवधारणा को स्पष्ट करें।
6. अलबर्ट बंडुरा के अनुसार आत्म तंत्र क्या है? समझाएं।
7. मॉडलिंग प्रेक्षण द्वारा सीखने की प्रक्रिया का वर्णन करें।

2.13 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

अजीमुर्रहमान अशराफ़, ज. (1992). *मनोविज्ञान का संक्षिप्त इतिहास* (पुनर्मूद्रित ed.). दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास.

सिंह, आ. ए. (2010). *आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान*. आगरा: अग्रवाल पब्लिकेशन्स.

सिंह, ए. के. (1995). *मनोविज्ञान के संप्रदाय एवं इतिहास*. दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास.

सिंह, ए. के. एवं सिंह ए के. (2000). *व्यक्तित्व का मनोविज्ञान* (8वां संस्करण ed.). दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास.

Santrock, J. W. (2011). *Life Span Development* (13th ed.). New York: McGraw Hill.

Cloninger, S. (2004). Theories of Personality (4th ed.). New Jersey: Pearson Prentice Hall.

Adler, A. (1964). *The Individual Psychology of Alfred Adler. H. L. Ansbacher and R. R. Ansbacher* (Eds.). New York: Harper Torch books.

Way, Lewis (1950): Adler's Place in Psychology. London: Allen & Unwin.

https://en.wikipedia.org/wiki/Albert_Bandura Retrieved Dated on 09 June 2016.

https://en.wikipedia.org/wiki/Alfred_Adler Retrieved Dated on 09 June 2016.

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई-3 मर्सिया एवं पियाजे

इकाई की रूपरेखा

3.0 उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 जेम्स मर्सिया
3.3 पहचान निर्माण की चार दशाएं
3.4 मर्सिया की संकल्पनाएँ
3.5 पहचान दशा परिवर्तन
3.6 संज्ञानात्मक मनोविज्ञान
3.7 जीन पियाजे
3.8 पियाजे की संज्ञानात्मक विकास की संकल्पनाएँ
3.9 पियाजे का संज्ञानात्मक विकास का सिद्धांत
    3.9.1 संज्ञानात्मक विकास की अवस्थाएं
    3.9.2 नैतिकता संबंधी विचार
3.10 सारांश
3.11 बोध प्रश्न
3.12 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

3.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप -

1. जेम्स मर्सिया के पहचान निर्माण के सिद्धांत से अवगत होंगे।
2. जेम्स मर्सिया द्वारा प्रतिपादित विभिन्न संकल्पनाओं को समझा सकेंगे।
3. मर्सिया द्वारा प्रतिपादित किशोर/किशोरी में पहचान दशा परिवर्तन को रेखांकित कर सकेंगे।
4. संज्ञानात्मक मनोविज्ञान के प्रति समझ विकसित कर सकेंगे।
5. जीन पियाजे द्वारा प्रतिपादित संज्ञानात्मक विकास के सिद्धांत का वर्णन कर सकेंगे।
6. जीन पियाजे के संज्ञानात्मक विकास की अवस्थाओं को समझ सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

इस इकाई में हम दो अलग-अलग विचारधाराओं से जुड़े विद्वानों का अध्ययन करेंगे और उनके व्यक्तित्व विकास के सिद्धांत को समझेंगे। इसके पहले हमने फ्रायड, जुंग, एडलर तथा एरिक एरिक्सन के सिद्धांतों को देखा है। इनके सिद्धांत व्यक्तित्व को समग्रता में देखते हुए किसी ख़ास विचारों से प्रेरित थे इसलिए

इनमें से कुछ को शास्त्रीय सिद्धांत भी कहा जाता है। इस इकाई में हम जेम्स मर्सिया और जीन पियाजे के सिद्धांतों को समझेंगे। जीन पियाजे शुरूआती संज्ञानात्मक मनोवैज्ञानिकों में से एक है तथा जेम्स मर्सिया साठ के दशक के बाद के विकासात्मक मनोविज्ञानी हैं।

पियाजे ने बच्चों पर शोध कर संज्ञानात्मक मनोविज्ञान के विकास में काफ़ी योगदान दिया है। दूसरी ओर जेम्स मर्सिया ने एरिक्सन के मनोसामाजिक सिद्धांत की बुनियाद पर किशोरों के *ईगो पहचान* का विस्तृत अध्ययन किया है। इन दोनों विद्वानों के व्यक्तित्व (बालक/बालिका तथा किशोर/किशोरी) संबंधी विचारों का हम विस्तार से अध्ययन करेंगे।

3.2 जेम्स मर्सिया (James Mercia)

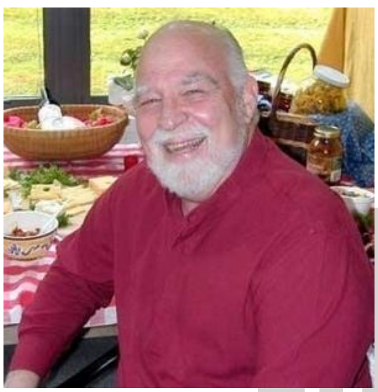

जेम्स मर्सिया कैनेडियन क्लिनिकल और विकासात्मक मनोविज्ञानी है। इन्होंने ओहियो स्टेट विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. की उपाधि हासिल की है। किशोर/किशोरी पर किये गए *ईगो पहचान* के अध्ययन के लिए वे प्रख्यात है। एरिक एरिक्सन के व्यक्तित्व विकास की आठ अवस्थाओं में से एक *किशोरावस्था* का विस्तार मर्सिया के सिद्धांत में दीखता है। एरिक एरिक्सन के विचारों ने जिन विद्वानों को प्रभावित किया उनमें मर्सिया का नामोल्लेख अग्रस्थान पर आता है। एरिक्सन के विचारों का प्रभाव मर्सिया पर इतना है कि मनोविज्ञान में इन्हें *एरिक्सन रिसर्चर* के नाम से जाना जाता है। मर्सिया ने किशोरों पर अध्ययन कर उनमें पाए जाने वाले *पहचान संकट* का अध्ययन किया है। इसी के आधार पर इन्होंने *पहचान निर्माण की चार दशाओं (Four Status of Identity Formation)* के रूप में किशोरों में आने वाले पहचान संकट, पहचान स्थगन-काल, पहचान प्रसार आदि अवधारणाओं का विश्लेषण भी किया है।

यह माना जाता है कि मर्सिया का यह सिद्धांत एरिक्सन के *व्यक्तित्व का मनोसामाजिक विकास* के किशोरावस्था का विस्तार है। एरिक्सन ने भी किशोरावस्था का वर्णन करते हुए पहचान संकट, मनोसामाजिक विलंबन तथा वयस्क वचनबद्धता की बात की है। मर्सिया ने अपने सिद्धांत में इन्हीं अवधारणाओं को विस्तार देने का काम किया है।

3.3 पहचान निर्माण की चार दशाएं (Four Status of Identity Formation)

मर्सिया (1980) के अनुसार एक परिपक्व पहचान केवल उपलब्धि के आधार पर बन सकती है, जिसके लिए व्यक्ति को विभिन्न *संकट अनुभवों* से गुज़रते हुए *जीवन विकल्पों* में से चयन तथा अन्वेषण करना होता है। अत: वह अपनी *वचनबद्धता (Commitment)* पर आता है या जिन विकल्पों का चुनाव क्यिा है, उसी में वह *स्व* का निवेश करता है। दूसरे शब्दों में कहे तो, मर्सिया की यह धारणा थी कि किशोरावस्था के दौरान व्यक्ति संकटों की श्रृंखला के माध्यम से गुज़रते हुए कमिटमेंट तथा विकल्पों का

चुनाव करता है। मर्सिया का सुझाव है कि ज़्यादातर स्वीकृत चुनाओं और कमिटमेंट के द्वारा व्यक्ति उन्नति कर सकेगा तथा उपलब्धि में स्थिरता लाकर परिपक्व पहचान बनाने में सफल होगा। मर्सिया ने व्यवसाय तथा विचारधारा पर विद्यार्थियों का दृष्टिकोण क्या है जानने के लिए उनका साक्षात्कार लिया था, जिसके अंतर्गत उसे यह देखना था कि उचित पहचान गठन की उचित प्रक्रिया क्या होगी। मर्सिया एवं अन्य ने मिलकर 124 विद्यार्थियों का मेटा-डाटा विश्लेषण किया, जिसमें उन्होंने यह पाया कि-

- कुछ विद्यार्थियों में पहचान विलंबन काल 19 वर्ष तक निरंतर रहा और बाद में ह्रास हुआ।
- पहचान उपलब्धि की दशा उत्तर किशोरावस्था से प्रारंभिक वयस्कावस्था तक रही।
- हाय स्कूल के बाद के वर्षों में पहचान निषेध तथा पहचान प्रसार में काफ़ी अवनति हुई इसके बावजूद यह दशा उत्तर किशोरावस्था तथा प्रारंभिक वयस्कावस्था तक बनी रही।
- अध्ययन में शामिल समूह का एक बडा हिस्सा आरंभिक वयस्कावस्था तक पहचान उपलब्धि की दशा में पहुँचने में असफल रहा।

मर्सिया ने अपने अध्ययन के निष्कर्षों को निम्न सारणी में दर्शाया है-

मर्सिया की पहचान गठन की चार दशाएं

व्यवसाय तथा विचारधारा पर दृष्टिकोण	पहचान प्रसार (Identity Diffusion)	पहचान निषेध (Identity Forecloser)	पहचान स्थगन-काल/विलंबन (Identity Moratorium)	पहचान उपलब्धि (Identity Achievement)
संकट (Crisis)	अनुपस्थित (Absent)	अनुपस्थित (Absent)	उपस्थित (Present)	उपस्थित (Present)
प्रतिबद्धता/वादा/प्रतिज्ञा (Commitment)	अनुपस्थित (Absent)	उपस्थित (Present)	अनुपस्थित (Absent)	उपस्थित (Present)

स्रोत: John Santrock, 2011.*Life Span Development.* Pp. 384.

3.4 मर्सिया की संकल्पनाएँ

मर्सिया का सिद्धांत समझने के लिए पहले हमें उसके द्वारा दी गई संकल्पनाओं को समझना होगामर्सिया द्वारा प्रतिपादित संकल्पनाएं निम्नलिखित है-

1. संकट (Crisis)- संकट से तात्पर्य है पहचान विकास के दौरान किशोर द्वारा की गई विकल्पों की खोजबीन या अन्वेषण।
2. प्रतिबद्धता/वादा/प्रतिज्ञा (Commitment)- मर्सिया के अनुसार प्रतिबद्धता पहचान विकास का एक हिस्सा है जो किशोर/किशोरी द्वारा पहचान बनाने में किए गए व्यक्तिगत निवेश को दर्शाता है।

मर्सिया उक्त दोनों को अपने सिद्धांत में एक चर की तरह उपयोग में लाते हैं किसी भी किशोर/किशोरी में इनका उपस्थित तथा अनुपस्थित होना पहचान की दशा को प्रभावित करता है। अब हमें यह देखना होगा कि वह कौन सी दशाएं हैं, जिन्हें यह चर प्रभावित करते हैं। यही वे चार दशाएं है, जिसके बल पर मर्सिया का सिद्धांत खड़ा है। वे दशाएं निम्नलिखित हैं-

1. **पहचान प्रसार (Identity Diffusion)-** यह व्यक्ति की उस दशा को दर्शाता है, जिसमें उसे अब तक किसी भी संकट (अर्थपूर्ण विकल्पों की खोजबीन) का अनुभव नहीं हुआ है और न ही उसने कोई कमिटमेंट किया है। इस दशा में व्यक्ति मुद्दों के प्रति गंभीर होकर विचार नहीं कर रहा होता है, वह अकेले ही लक्ष्य निर्धारित कर कोई कमिटमेंट करता है। यह सीमित परिपक्व अवस्था है।
2. **पहचान निषेध (Identity Forecloser)-** यह व्यक्ति की उस दशा को दर्शाता है, जिसमें वह कमिटमेंट तो करता है सिद्धांत उसे संकट का कोई अनुभव नहीं होता है इस दशा में व्यक्ति अनिश्चितता व संकट की चिंताओं को तुरंत तथा अपरिपक्व रूप से कमिटमेंट कर दूर करता है और सुरक्षित एवं परिवार द्वारा प्रदत्त लक्ष्य, विश्वास को अपनाता है। ऐसे में वो विकल्पों का गंभीर रूप से निर्धारण नहीं कर पाता है।
3. **पहचान स्थगन-काल/विलंबन (Identity Moratorium)-** यह व्यक्ति की उस दशा को दर्शाता है, जिसमें व्यक्ति संकट के मध्यावस्था में होता है, परंतु उसकी कमिटमेंट अनुपस्थित तथा अस्पष्ट रूप से परिभाषित होती है। एरिक्सन ने इस दशा को *संकट का चरम* के रूप में वर्णन किया है। जब तक व्यक्ति वैकल्पिक पहचान को प्राप्त नहीं कर पाता तब तक वह बिना किसी ख़ास कमिटमेंट के पहचान संबंधी निर्णय को आगे धकेलता है
4. **पहचान उपलब्धि (Identity Achievement)-** यह व्यक्ति की उस दशा को दर्शाता है, जिसमें वह संकट के अधीन हो जाता है और कमिटमेंट करता है। व्यक्ति को इस दशा में संकट का अनुभव हो रहा होता है, परंतु उसमें दृढ़ प्रतिबद्धता, लक्ष्य और विचारधारा का सफलतापूर्वक उभार भी हो जाता है। यही श्रेष्ठ परिपक्वता की दशा है।

मर्सिया का मानना है कि किशोरावस्था में ईगो पहचान गठन में उक्त दशाओं से किशोर/किशोरी गुज़रते हैं। एरिक एरिक्सन के जैसे ही मर्सिया ने भी अपने अध्ययन में यह पाया कि किशोरावस्था में *पहचान संकट* पहचान उपलब्धि के लिए एक आवश्यक प्रस्थिति है। पहचान संकट के परिहार के कारण पहचान प्रसार या पहचान निषेध में देरी हो सकती है या पहचान की अवस्था ब्लॉक होकर पहचान स्थिर होने की संभावना बढ़ जाती है। इससे बचने के लिए व्यक्ति को किशोरावस्था के दौरान एक निरोगी रास्ते को अख्तियार करना पड़ता है। मर्सिया का मत है कि वह निरोगी/स्वास्थ्यकारी मार्ग पहचान प्रसार से पहचान विलंबन, पहचान विलंबन से पहचान उपलब्धि है। इसे हम आकृति से भी समझ सकते हैं।

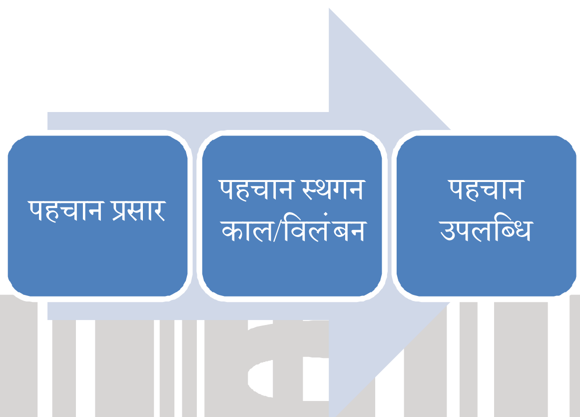

3.5 पहचान दशा परिवर्तन (Identity status shifts)

दूसरी ओर मर्सिया का मानना था कि जीवन चक्र के अंतर्गत दशाओं में परिवर्तन आता रहता है। उत्तर किशोरावस्था तथा वयस्कावस्था इन दोनों में या किसी एक अवस्था के अंतर्गत पहचान दशा में परिवर्तन होता है। पहचान की दशा या तो उन्नति की ओर होती है या फिर उसके विरुद्ध अवनती की ओर होती है। सामान्यता दशा परिवर्तन पहचान विलंबन से पहचान उपलब्धि के लिए संक्रमित होता है।

अक्सर संक्रमण पहचान में आए असंतुलन से प्रेरित होता है यहाँ मर्सिया इसकी रूपरेखा बनाते है कि किस तरह दशा परिवर्तन असंतुलन से संबंधित होता है। जवाब के रूप में लिखते हैं कि उत्तर वयस्कावस्था के रूप में, जीवन के विभिन्न चरणों से गुज़रते हुए तथा जीवन में घटी घटनाओं के अंतर्गत पहचान में संकट प्रवेश करता है। यह उस व्यक्ति पर निर्भर करता है, जैसे- किसी ख़ास जीवन घटना जैसे कि प्रियजन की मौत, नौकरी चली जाना, ख़ास मोड़ आदि हो सकते हैं, इसके कारण असंतुलन उत्पन्न होता है। हालांकि यह तभी हो सकता है, जब कोई व्यक्ति अपने लिए पहचान का स्वरूप रचता है। ऐसे में प्रसार (Diffusion) स्थिरत्व प्राप्त करता है। ऐसे में व्यक्ति प्रयत्नों से पहचान निर्माण करना नहीं चाहता और न ही उसके पास सुधार के लिए कोई पहचान है। दूसरी ओर निषेध के मामले में वह बचपन के अनुभवों, जो अभी बदलने बाकी है से समानता रखने वाले पर्यावरण में से बहुत सारे चुनाव करता है। परिणामत: जब निषेधात्मक जीवन में असंतुलन उत्पन्न होता है तब इसके परिणाम भयावह तथा विनाशकारी होते हैं।

जब असंतुलन होता है तब फिर से पुन: निर्माण का समय शुरू हो जाता है। इस पुन:निर्माण की अवधि को मर्सिया ने मामा चक्र (MAMA Cycles) की संज्ञा दी है। इस चक्र में शामिल है- निषेध (moratorium)-उपलब्धि (achievement)-निषेध (moratorium)-उपलब्धि (achievement)। मर्सिया का मानना है कि प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में कम से कम तीन मामा (MAMA) चक्र आते हैं। इसी के साथ मर्सिया पहचान निर्माण की प्रक्रिया में वापसी को भी जोड़ते हैं। वे कहते हैं कि इन तीन *मामा चक्र* के साथ बाकी बची तीन मनोसामाजिक अवस्थाओं (तरुणावस्था, मध्यावस्था तथा वयस्कावस्था) के दौरान व्यक्ति पुन:निर्माण के अंतर्गत अपनी पहचान दशा पर वापस पहुँच सकता है यहाँ यह महत्वपूर्ण है कि पुरानी रचना नष्ट होने के बाद व्यक्ति की नई पहचान की रचना काफ़ी आनंददायक हो सकती है। पुन:रचना प्रक्रिया में पिछली पहचान के साथ निरंतरता होती है, फिर भी नई रचना में नए जीवन-अनुभवों और प्रतिबद्धताओं को शामिल कर उसका अधिक विस्तार किया जा सकता है।

मर्सिया के इस अध्ययन की काफ़ी आलोचनाएं भी हुई है, जिसमें महत्वपूर्ण यह है कि इसका सिद्धांत किशोरों के लिए है तो वयस्कावस्था को वे क्यों इसके अंतर्गत घसीटते हैं दूसरी बात यह कि जिस प्राविधि के अंतर्गत मर्सिया ने यह अध्ययन किया उसकी भी आलोचना हुई है। जिन विद्वानों ने मर्सिया के सिद्धांत की आलोचना की है उनका मानना था कि मर्सिया का सेमी-स्ट्रक्चरड साक्षात्कार दृष्टिकोण इस तरह के अध्ययन के लिए अयोग्य है। इस आलोचनाओं के बावजूद मर्सिया के इस सिद्धांत की काफ़ी सराहना भी हुई है।

3.6 संज्ञानात्मक मनोविज्ञान

1960 के दशक में मनोवैज्ञानिकों की रूचि संज्ञानात्मक उपागम में फिर से उत्पन्न हुई थी। संज्ञान एक ऐसा पद है, जिसमें मानसिक प्रक्रियाएं, जैसे- चिंतन, प्रत्यक्षण, कल्पना, ध्यान तथा अन्य सूचना संसाधन प्रक्रियाएं शामिल है, जिनके सहारे व्यक्ति किसी समस्या का समाधान करता है। संज्ञान का मनोवैज्ञानिक अध्ययन करने वाले मनोविज्ञान को संज्ञानात्मक मनोविज्ञान कहा गया है। संज्ञानात्मक मनोवैज्ञानिक मुख्य रूप से इस प्रश्न के उत्तर में दिलचस्पी रखते हैं कि उद्दिपन तथा उससे उत्पन्न व्यवहार के बीच में कौन-कौन सी प्रक्रियाएं शामिल होती है। ऐसे मनोवैज्ञानिकों का यह मत है कि इन दोनों के बीच निश्चित रूप से कुछ संज्ञानात्मक या मानसिक प्रक्रियाएं होती है(सिंह, 1995, पृ. 463)।

संज्ञानात्मक मनोविज्ञान को परिभाषित करते हुए हेज (Hyes, 1978) लिखते हैं कि संज्ञानात्मक मनोविज्ञान ऐसी प्रक्रियाओं के अध्ययन का आधुनिक उपागम है जिसके सहारे लोग संसार को समझ पाते हैं। इसमें शामिल प्रक्रियाएं हैं- स्मृति, सीखना, भाषाज्ञान, समस्या समाधान तथा सर्जनात्मकता। संज्ञानात्मक मनोविज्ञान पर भाषा, कंप्यूटर विज्ञान और मनोविज्ञान शास्त्र में किए गएआरंभिक कार्यों का प्रभाव भी दिखता है।

लिही (Leahey,1980) ने संज्ञानात्मक मनोविज्ञान को तीन प्रकारों में बांटा है

- नव संरचनावाद (New Structuralism)

- मनुष्य एवं मशीन : सूचना संसाधन मॉडल तथा कंप्यूटर (Man and Machine : Information-Process Model and Computer)
- नई मनोगतता (New Mentalism)

इस इकाई में हम संज्ञानात्मक मनोविज्ञानी जीन पियाजे के सिद्धांत को समझ रहें है इसलिए यहाँ केवल नव संरचनावाद को ही हम समझना आवश्यक है।

नव संरचानावाद

वैसे संज्ञानात्मक मनोवैज्ञानिक जो नव संरचनावाद के तहत कार्य करतेहैं, उनका वुण्ट तथा टिचेनर से कोई औपचारिक संबंध नहीं है वे एक नए संदर्भ में नए उद्देश्य के साथ कार्य करतेहैं। वे भाषा एवं संज्ञान के संबंध के अध्ययन पर बल डालते है। इस नए संरचनावाद के तहत दो मनोवैज्ञानिकों के योगदान विशेष रुप से उल्लेखनीय हैः जीन पियाजे तथा नोम चौमस्की। नोम चौमस्की का संबंध भाषा के स्तर पर रहा है और जीन पियाजे का संबंध संज्ञान से ज़्यादा रहा है यहाँ हम जीन पियाजे के संज्ञानात्मक विकास के सिद्धांत की चर्चा करेंगे।

3.7 जीन पियाजे (1896-1980)

पियाजे एक फ्रेंच भाषी स्विस विचारक थे, जिनका मानना था कि बच्चे खेल प्रक्रिया के माध्यम से सक्रिय रूप से सीखते हैं। उन्होंने सुझाव दिया कि बच्चे को सीखने में मदद करने में वयस्क की भूमिका बच्चे के लिए उपयुक्त सामग्री प्रदान करना है, जिससे वह अंतर्क्रिया और निर्माण कर सके। वे सुकराती पूछताछ (सौक्रेटिक क्वेश्चनिंग) द्वारा बच्चों को उनकी गतिविधियों के विषय में सोचने के लिए प्रोत्साहित करते थे। वह बच्चों को उनके स्पष्टीकरण में विरोधाभासों को दिखाने की कोशिश करते थे। उन्होंने विकास के चरणों को भी विकसित किया है। उनके दृष्टिकोण का पता इस बात से चल सकता है कि इसके आधार पर स्कूलों में पाठ्क्रम को अनुक्रमित किया जाता है और पूरे संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रीस्कूल सेंटरों के अध्यापन में उनके दृष्टिकोण को देखा जा सकता है। बाल विकास के क्षेत्र में उनका सिद्धांत महत्वपूर्ण माना जाता है। पियाजे के सिद्धांत को समझने से पहले उनके द्वारा प्रतिपादित संकल्पनाओं को समझते हैं-

3.8 पियाजे की संज्ञानात्मक विकास की संकल्पाएं

- स्कीमा (Schema)
- आत्मसातीकरण (Assimilation)
- समायोजन (Accommodation)
- साम्यधारण (Equilibrium)

पियाजे के अनुसार बच्चा अपने वातावरण के साथ अंतक्रिया के परिणाम स्वरुप ही सीखता है। संज्ञानात्मक विकास से तात्पर्य चिंतन में गुणात्मक परिवर्तन से है तथा यह परिवर्तन पहले से उपस्थित संज्ञानात्मक संरचनाओं में अनुकूलन द्वारा होता है। यह परिवर्तन अपरिहार्य व अपरिवर्तनीय तथा जैव-निर्धारित होता है। संक्षेप में पियाजे के अनुसार बालकों मेंवास्तविकता के स्वरुप में चिंतन करने, उसकी खोज करने, उसके बारे में समझ बनाने तथा उनके बारे में सूचनाएं एकत्रित करने की क्षमता, बालक के परिपक्वता स्तर तथा बालक के अनुभवों की पारस्परिक अंतक्रिया द्वारा निर्धारित होती है। बालक अपने विश्व की ज्ञान रचना में स्कीमा का प्रयोग करता है।

स्कीमा से तात्पर्य ऐसी मानसिक संरचना से है, जो व्यक्ति विशेष के मस्तिष्क में सूचनाओं को संगठित तथा व्याख्यायित करने हेतु विद्यमान होती है। यह स्कीमा दो प्रकार का होता है- पहला, साधारण तथा दूसरा, जटिल। साधारण स्कीमा मोटरकार या खिलौने के स्कीमा से समझा जा सकता है। इसी प्रकार अंतरिक्ष का निर्माण कैसे हुआ का स्कीमा जटिल स्कीमा का उदाहरण होगा।

पियाजे के अनुसार स्कीमा को संशोधित व समायोजित करने में दो प्रक्रियाओं की भूमिका महत्वपूर्ण होती है, आत्मसातीकरण तथा समायोजन।

आत्मसातीकरण वह प्रक्रिया जिसमें बालक/बालिका नए ज्ञान को पूर्ण ज्ञान योजनाओं में शामिल कर लेता हैं अर्थात बालक/बालक नए ज्ञान को अपने पुराने स्कीमा में आत्मसात कर लेता है।

समायोजन वह मानसिक प्रक्रिया है, जिसमें बालक/बालिका नई सूचना के अनुसार समायोजन करता हैं, अर्थात स्कीमा को वातावरण के अनुसार समायोजित कर लेता है। साथ ही जब बालक/बालिका के सामने ऐसी परिस्थिति या समस्या आती हैं, जिसका उसे कभी अनुभव हुआ तब इससे उसमें एक तरह का संज्ञानात्मक असंतुलन उत्पन्न होता जाता हैं जिसे दूर करने के लिए उनमें संतुलन के लिए बालक/बालिका आत्मसतीकरण या समायोजन या दोनों प्रक्रियाएं करना आरंभ कर देते हैं। इस प्रक्रिया को **साम्यधारण** कहते है।

इन संकल्पनाओं कोपियाजे ने बालक/बालिका द्वारा एक अवस्था से दूसरी अवस्था में पहुँचने की प्रक्रिया को समझाने हेतु प्रयुक्त किया है। पियाजे के अनुसार जब बालक/बालिका विचारों में (साम्यधारण की प्रक्रिया द्वारा) असंतुलन से संतुलन की ओर जाता है, तब बालक/बालिका में संज्ञानात्मक परिवर्तन आता है, जो कि गुणात्मक होता है। उदाहरण के लिए अगर बालक/बालिका यह मानते हैं कि पानी की मात्रा में परिवर्तन केवल इसलिए हो जाता है, क्योंकि यह एक अलग रुप के बर्तन व अपेक्षाकृत संकरें में डाल दिया गया है। अतः इस स्थिति में वह बालक/बालिका हमेशा ही इस बात को लेकर असमंजस की स्थिति में होगा कि यह अतिरिक्त या ज़्यादा पानी कहां से आया? और क्या वास्तव में पानी की ज़्यादा मात्रा उपलब्ध है? बालक/बालिका इस असमंजस को तभी सुलझा पाते हैं, जब उनके विचारों में उच्च क्षमता विकसित हो पाती है।

3.9 पियाजे का संज्ञानात्मक विकास का सिद्धांत

पियाजे का यह सिद्धांत मानवीय बुद्धिमत्ता के विकास और प्रकृति के बारे में विस्तृत विवरण प्रदान करता है। पियाजे का यह भी मानना था कि व्यक्ति के जीवन में बचपन के खेलों की भी सक्रीय भूमिका होती है। पियाजे के इस सिद्धांत में ज्ञान की प्रकृति और उसे एक व्यक्ति कैसे प्राप्त करता है, संरचित करता है तथा उपयोग में लाता है का विवेचन है। **पियाजे के अनुसार संज्ञानात्मक विकास से तात्पर्य जैविकीय परिपक्वता और वातावरणीय अनुभव से उत्पन्न मानसिक प्रक्रियाओं का उन्नत पुनर्संगठन है।** पियाजे का यह मानना था कि बालक/बालिका ज्ञान के निर्माण में क्रियाशील रहते हैं। इसके साथ उनका कहना था कि उनका संज्ञानात्मक विकास चार क्रमागत अवस्थाओं से होकर गुजरता है। प्रत्येक अवस्था आयु विशेष में होती है तथा प्रत्येक में चिंतन के विशेष प्रकार पाए जाते हैं और चिंतन का भिन्न एवं उच्च प्रकार ही एक अवस्था में नहीं पहुंचता, अपितु उनका प्रयोग, समस्या समाधान व तर्क देने में वे कितने बेहतर है एवं यह क्रिया कितने गुणात्मक रुप से वह कर पाता है, यह निर्धारित करता है कि वह किस अवस्था में है।

3.9.1 संज्ञानात्मक विकास की अवस्थाएं

पियाजे ऐसे मनोवैज्ञनिक थे, जिन्होनें बच्चों के संज्ञानात्मक विकास का विस्तृत अध्ययन किया है। उन्होंने बच्चों के संज्ञानात्मक विकास की चार अवस्थाओं का वर्णन किया है जो निम्नलिखित हैं-

- संवेदी-क्रियात्मक अवस्था (Sensory-Motor Stage)
- प्राक्-संक्रियात्मक अवस्था (Pre-operational Stage)
- ठोस संक्रियात्मक अवस्था (Concrete operational Stage)
- औपचारिक संक्रियात्मक अवस्था (Formal operational Stage)

संवेदी क्रियात्मक अवस्था

यह अवस्था जन्म से लेकर दो साल तक की होती है। इस अवस्था की शुरुआत प्रतिवर्त क्रियाओं से होती है और इसके अंत तक बच्चों में उद्दीपन के प्रति अनुक्रिया करने की क्षमता विकसित हो जाती है। इस चरण के दौरान, बालक/बालिका प्रेरक (मोटर) और परिवर्ती (रिफ्लेक्स) क्रियाओं के माध्यम से अपने और अपने पर्यावरण के बारे में सीखते हैं। इसी अवस्था में विचार, इंद्रियबोध और हरकत से उत्पन्न होता है। बालक/बालिका यह सीखते हैं कि वह अपने पर्यावरण से अलग है और उसके पर्यावरण के पहलू अर्थात् उसके माता-पिता या पसंदीदा खिलौना उस वक्त भी मौजूद रहते हैं, जब वे समझ से बाहर हों। पियाजे का मत था कि इस अवस्था के अंत तक बालक/बालिका उन उद्दीपनों के प्रति अनुक्रिया करने की क्षमता विकसित कर लेता है, जो उद्दीपन उसके सामने उपस्थित न होकर कहीं अगल बगल में छिपा दिए जाते हैं। इस क्षमता को *वस्तु स्थायित्व* की संज्ञा दी जाती है।

यह सलाह दी जाती है कि इस चरण में बालक/बालिका के शिक्षण को ज्ञानेंद्रिय प्रणाली की तरफ मोड़ना चाहिए। आप हावभाव दिखाकर अर्थात् तेवर दिखाकर, एक कठोर या सुखदायक आवाज का इस्तेमाल करके व्यवहार को बदल सकते हैं; ये सभी उपयुक्त तकनीक हैं।

प्राक्-संक्रियात्मक अवस्था

यह अवस्था दो साल से सात साल की होती है, इस अवस्था में बच्चे यह समझने लगते हैं कि वस्तु, प्रतिमा, शब्द आदि किसी न किसी चीज का प्रतिनिधित्व करते हैं। अपने भाषा संबंधी नए ज्ञान का इस्तेमाल करते हुए बच्चा वस्तुओं को दर्शाने के लिए संकेतों कइस्तेमाल करना शुरू करता है। इस चरण के आरंभ में वह वस्तुओं का मानवीकरण भी करता है। वह अब बेहतर ढंग से उन्चीज़ों और घटनाओं के बारे में सोचने में सक्षम हो जाता है जो तत्काल मौजूद नहीं हैं। वर्तमान के प्रति उन्मुख होने पर बच्चे को समय के बारे में अपना विचार बनाने में तकलीफ होती है। उनकी सोच पर कल्पना का असर रहता है और वह चीज़ों को उन्हीं रूपों में देखता है जिन रूपों में वह उन्हें देखना चाहता है और वह मान लेता है कि दूसरे लोग भी उन परिस्थितियों को उसी के नज़रिए से देखते हैं। वह जानकारी हासिल करता है और उसके बाद वह उस जानकारी को अपने विचारों के अनुरूप अपने मन में परिवर्तित कर लेता है। इस अवस्था की एक प्रमुख विशेषता यह है कि बच्चों का चिंतन क्रमबद्ध तथा तार्किक नहीं होता है। बच्चे यहां सिर्फ उन्हीं वस्तुओं पर ध्यान केंद्रित कर सोच पाते हैजो उनके सामने ठोस रुप में उपस्थित होते है। इनके चिंतन में पलटावन का गुण नहीं होता हैं। जैसे वे यह तो समझतेहैं कि रुपया होता है, लेकिन 100 पैसा मिलकर 1 रुपया कैसे हो जाता है, वे यह नहीं समझते हैं। पलटावन के गुण की कमी के कारण उसके चिंतन में लचीलापन नहीं होता है।

सिखाने-पढ़ाने के दौरान बच्चे की ज्वलंत कल्पनाओं और समय के प्रति उसकी अविकसित समझ को ध्यान में रखना आवश्यक है। तटस्थ शब्दों, शरीर की रूपरेखा और छू सकने लायक उपकरण का इस्तेमाल करने से बच्चे के सक्रिय शिक्षण में मदद मिलती है। इनका चिंतन जीववाद पर आधारित होता है, मतलब यह निर्जीव व सजीव सभी वस्तु/प्राणी को जीवित ही मानते हैं।

ठोस संक्रियात्मक अवस्था

यह अवस्था सात साल से ग्यारह साल तक की होती है, इस अवस्था में बच्चों का चिंतन आधिक तार्किक हो जाता है। उनके चिंतन में पलटावन का गुण आ जाता है। उनमें वस्तुओं को वर्गीकृत करने तथा उसके संबंधों को समझने की पर्याप्त क्षमता विकसित हो जाती हे। इतना होने के बावजुद उनके चिंतन में पूर्ण क्रमबद्धता नहीं होती है।

इस अवस्था के दौरान बालक/बालिका को सिखाने-पढ़ाने के दौरान उसे सवाल पूछने और चीज़ों या बातों को वापस आपको समझाने का मौका देने से उसे मानसिक दृष्टि से उस जानकारी का इस्तेमाल करने में आसानी होती है।

औपचारिक संक्रियात्मक अवस्था

यह अवस्था ग्यारह साल की उम्र से प्रारंभ होकर वयस्कावस्था तक की होती है। यह अवस्था अनुभूति को उसका अंतिम रूप प्रदान करती है। इस अवस्था में व्यक्ति को तर्कसंगत निर्णय करने के लिए अब कभी पहचानने योग्य वस्तुओं की जरूरत नहीं पड़ती है। अपनी बात पर वह काल्पनिक और निगमनात्मक तर्क दे सकता है। इस अवस्था में व्यक्ति का चिंतन पूर्णतः क्रमबद्ध हो जाताहै। वह अपने विचारो एवं चिंतन में व्याप्त किसी प्रकार की असंगतता को भी समझ पाता हैं।किशोरी-किशोरियों को सिखाने-पढ़ाने का क्षेत्र काफ़ी विस्तृत हो सकता है, क्योंकि वे कई दृष्टिकोणों से कई संभावनाओं पर विचार करने में सक्षम होते हैं।

3.9.2 नैतिकता संबंधी विचार

नैतिक सोच लोग कैसे सोचतें हैं कि क्या सही है और क्या गलत है? क्या नैतिक सवालों पर बच्चे भी वैसे ही विचार करते हैं, जैसे कि वयस्क, पियाजे के पास इन सवालों को लेकर कुछ विचार थे। पियाजे का सिद्धांत बच्चों के नैतिक मुद्दों के बारे में है। इसके बारे में पियाजे (1932) में रुचि जाग्रत हुई थी। उन्होंने बहुत अधिक गहराई से चार से बारह साल के उम्र के बच्चों का अवलोकन और साक्षात्कार किया। पियाजे ने अपने इस अध्ययन में, बच्चों ने खेल के नियम पर किस तरह से विचार किया, का अवलोकन किया तथा उन्होंने बच्चों से नैतिक मुद्दों के बारे में भी बात की जैसे कि सजा और न्याय। पियाजे ने पाया कि जब बच्चे नैतिकता के बारे में सोचते है तो वे दो अलग-अलग अवस्थाओं से होकर गुज़रते है।

- चार से सात वर्ष के बच्चे नैतिकता दिखाते हैं, जो कि पियाजे के नैतिक विकास के सिद्धांतों की पहली अवस्था है। बच्चे न्याय और नियमों को दुनिया के ना बदलने वाले गुणधर्म मानते है। उनके लिए न्याय और नियम ऐसे चीजे हैं, जो लोगों के बस से बाहर होती है।
- सात से दस साल की उम्र में बच्चे नैतिक चिंतन की पहली से दूसरी अवस्था के बीच एक मिली जुली स्थिति में होते हैं।
- दस साल या उससे बड़े बच्चे स्वायत्तता-नैतिकता दिखाते हैं। वे यह बात जान जाते है कि नियम और कानून लोगों के बनाए हुए हैं और किसी के कार्य का मूल्यांकन करने में वे कार्य को करने वाले व्यक्ति के इरादों और कार्य के परिणामों के उपर भी विचार करते हैं।

ज्ञान शांति मैत्री

क्योंकि छोटे बच्चे बाह्य नैतिकता के स्तर पर होते है। वे किसी व्यवहार के बारे में सही या गलत का निर्णय उस व्यवहार से होने वाले परिणामों को देखकर कर लेते हैं न कि व्यवहारकर्ता के उद्देश्यों के आधार पर। जैसे कि उनके लिए जानबूझ कर तोड़े गए एक कप की तुलना में हादसे में 12 कप टूटने की घटना ज़्यादा बुरी हैं। जैसे बच्चे स्वतंत्र अवस्था पर आने लगते हैं वैसे-वैसे किसी काम को करने वाले का उद्देश्य, इरादा उनके नैतिक चिंतन का एक आवश्यक बिंदु बनने लगता है।

बाहरी सत्ता के आधार पर नैतिक चिंतन करने वाले बच्चे तुरंत न्याय की धारणा में भी विश्वास रखते है अर्थात यदि एक नियम तोड़ा गया है, तब यह काम अपने आप सजा से जुड़ जाता है। इसलिए छोटेबच्चे

जब भी कोई गलत काम करते हैं, तब चिंता से अपने आसपास देखने लगते हैं। यह सोचकर कि उन्हें सजा तो मिलेगी। तुरंत न्याय का सिद्धांत यह भी कहता है कि अगर किसी के साथ कुछ दुर्भाग्यपूर्ण हुआ हो, तो उस व्यक्ति ने जरूर पहले कुछ किया होगा, जिसके परिणामस्वरुप ऐसा हुआ है। बड़े बच्चे, जो नैतिकता की स्वतंत्रता रखने लगते है, यह पहचानते हैं कि सजा तभी मिलती है, जब किसी ने कुछ गलत देख लिया हो और उसके बाद भी जरूरी नहीं कि सजा मिले ही।

नैतिक तर्क को लेकर इस तरह के परिवर्तन कैसे आते हैं? पियाजे मानते हैं कि जैसे-जैसे बच्चे बड़े होते है, उनकी सोच सामाजिक समझ, साथियों के साथ आपसी लेन देन से आती है। जिन साथियों के पास एक जैसी शक्ति और ओहदा होता है, वहां योजनाओं के बीच समझौता किया जाता है और सहमत न होने पर तर्क दिया जाता है। आखिर में सब कुछ ठीक हो जाता है। अभिभावक और बच्चे के रिश्तों में जहां अभिभावक के पास शक्ति होती है, लेकिन बच्चों के पास नहीं वहां नैतिक तर्क की समझ को विकसित करने की संभावना कम रहती है, क्योंकि अधिकतर नियम आदेशात्मक तरीके से दिए जाते हैं।

3.10 सारांश

पियाजे और मर्सिया दोनों के सिद्धांत व्यक्तित्व विकास की अलग-अलग अवस्थाओं का वर्णन करते हैं। पियाजे जहां व्यक्तित्व विकास में शुरुआती समय महत्वपूर्ण मानते है वहीं मर्सिया का मानना है कि किशोरावस्था के दौरान पहचान संकट के माध्यम से ही परिपक्वता हासिल की जा सकती है। दोनों विद्वान अलग-अलग शाखा से जुड़े होने के कारण दोनों के अध्ययन पद्धति तथा विश्लेषण में प्रयुक्त तकनीकों में भी भिन्नता दिखती है।

समाज कार्य के लिहाज से यह दोनों ही सिद्धांत बहुत ही महत्वपूर्ण है क्योंकि पियाजे का सिद्धांत संज्ञानात्मक विकास की परत खोलता है, वहीं मर्सिया किशोरावस्था के द्वंद्व पर गहराई से बातचीत करता है। इसलिए समाज कार्य में बाल-विकास को समझने के लिए पियाजे का सिद्धांत महत्वपूर्ण है तथा किशोर-किशोरी की मनोसामाजिक दशाओं को समझकर उनकी समस्याओं के समाधान में मर्सिया के सिद्धांत को उपयोग में लाया जा सकता है।

3.11 बोध प्रश्न

1. मर्सिया के पहचान निर्माण की चार दशाओं का वर्णन करें।
2. मर्सिया द्वारा पहचान निर्माण के सिद्धांत में प्रयुक्त संकल्पनाओं को स्पष्ट करें।
3. पहचान तथा दशा परिवर्तन की अवधारणा को स्पष्ट करें।
4. संज्ञानात्मक मनोविज्ञान की अवधारणा को स्पष्ट करें।
5. पियाजे के संज्ञानात्मक विकास के सिद्धांत पर चर्चा करें।
6. पियाजे के संज्ञानात्मक विकास की अवस्थाओं को सोदाहरण स्पष्ट करें।
7. पियाजे के नैतिकता संबंधी विचारों पर प्रकाश डालें।

3.12 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

अजीमुर्र्हमान् अशराफ़, ज. (1992). *मनोविज्ञान का संक्षिप्त इतिहास* (पुनर्मूद्रित ed.). दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास.

सिंह, आर. एन. (2010). *आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान*. आगरा: अग्रवाल पब्लिकेशन्स.

सिंह, ए. के. (1995). *मनोविज्ञान के संप्रदाय एवं इतिहास*. दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास.

सिंह, ए. के. एवं सिंह ए के. (2000). *व्यक्तित्व का मनोविज्ञान* (8वां संस्करण ed.). दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास.

Santrock, J. W. (2011). *Life Span Development* (13th ed.). New York: McGraw Hill.

Cloninger, S. (2004). Theories of Personality (4th ed.). New Jersey: Pearson Prentice Hall.

https://hi.wikipedia.org/wiki/बाल_विकास Retrived on Dated 10 June 2016.

https://en.wikipedia.org/wiki/James_Marcia#Early_life_and_education Retrived on Dated 10 June 2016.

http://www.tetsuccesskey.com/2014/09/piaget-theory-hindi.html Retrived on Dated 10 June 2016.

http://www.piaget.org/

साभार : http://socioemotional.weebly.com/james-marcia.html से मर्सिया का चित्र

ज्ञान शांति मैत्री

इकाई-4 एरिक एरिक्सन

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य
4.1 प्रस्तावना
4.2 एरिक एरिक्सन
4.3 मनोसामाजिक विकास का सिद्धांत
4.4 मनोसामाजिक विकास की अवस्थाएं
4.5 फ्रायड एवं एरिक्सन : एक तुलनात्मक अध्ययन
4.6 सारांश
4.7 बोध प्रश्न
4.8 संदर्भ एवं उपयोगी ग्रंथ

4.0 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के पश्चात् आप -

1. नवफ्रायडवाद की अवधारणा को समझा सकेंगे।
2. एरिक एरिक्सन के मनोसामाजिक विकास की अवस्थाओं को रेखांकित कर सकेंगे।
3. फ्रायड और एरिक एरिक्सन के सिद्धांत में अंतर पर चर्चा कर सकेंगे।

4.1 प्रस्तावना

फ्रायडवादी मनोविज्ञान की आधारशिला फ्रायड के योगदान है, जिन्हें मनोविज्ञान की अभूतपूर्व धरोहर माना गया है। परंतु कुछ मनोवैज्ञानिक ऐसे थे, जो फ्रायड के विचारों एवं सिद्धांतों को स्वीकार तोकरते थे, परंतु उनमें व्यापक संशोधन कीसिफ़ारिश उन्होंने की है। इनमें करेंन हार्नी, एरिक फ्रॉम, हैरी स्टैक सुल्लीभान तथा एरिक्सन के नाम मशहूर हैं। इनविद्वानों को नवफ्रायडवादी कहा गया है। यदि फ्रायड तथा नवफ्रायडवादी के मनोवैज्ञानिक योगदानों पर विचार करें तो इन दोनों में कुछ स्पष्ट अंतर दिखलाई देगा जो इस प्रकार है।

फ्रायड ने जैविक कारकों खासकर यौन मूलप्रवृत्ति को मानव व्यवहार का प्रमुख निर्धारक माना हैं, दूसरे तरफ नवफ्रायडवादी समाजिक एवं सांस्कृतिक कारकों को मानव व्यवहार का प्रमुख निर्धारकमानते हैं। फ्रायड ने दोनों मनोग्रंथि अर्थात मातृ-मनोग्रंथि तथा पितृ-मनोग्रंथि को सार्वजनिक माना है तथा इसका कारण लैंगिक ईर्ष्या माना है। सार्वजनिक होने के नाते यह सभी मानव जातियों में पाया जाता हैं, ऐसी इनकी धारणा थी, किंतु कुछ नवफ्रायडियन जैसे सुल्लीभान, फ्रोम तथा हार्नी का मत था कि ये मनोग्रंथिया न तो सार्वजानिक है और न ही इनकी उत्पत्ति में लैंगिक ईर्ष्या का कोई हाथ होता हैं। इन लोगों

ने यह दावा किया है कि बहुत सारी ऐसी संस्कृतियां है जिसमें पिता एवं पुत्र के बीच संघर्षात्मक प्रतिद्वन्द्विता के कारण परिवार में पिता के सबल स्थान का पुत्र द्वारा विरोध किया जाता है।

फ्रायड ने चिंता को ईगो के असंतोषजनक कार्यों का परिणाम माना था। जब ईगो को सुपर ईगो तथा इड से धमकी मिलती है तब इससे व्यक्ति में चिंता उत्पन्न होती है। नवफ्रायडियन का विशेषकर हार्नी का मत है कि चिंता विशेषकर 'मूल चिंता' की उत्पत्ति तब होती हैं जब बाल्यावस्था से बच्चों में निःसहायता तथा अलगाव का भाव प्रधान होता है और उससे एक तरह की धमकी एवं विद्वेष की भावना पनपती है उससे चिंता उत्पन्न होती है।

4.2 एरिक एरिक्सन (1902-1982)

एरिक्सन का जन्म 1902 में फ्रंकफर्ट में हुआ था। फ्रायड और उनके परिवार के साथ मुलाक़ात होने के बाद उन्होंने विएना साएकोएनालिटिक इंस्टिट्यूट के साथ संबंध जोड़ लिया वहां वे फ्रायड की पुत्री, एना फ्रायड के साथ मिलकर व्यक्तिगत विश्लेषण पर काम कर रहे थे। यहाँ पर उन्होंने बाल तथा वयस्क मनोविश्लेषण का प्रशिक्षण प्राप्त किया। हिटलर के उभार के बाद सन 1936 में उन्हें भागकर अमेरिका जाना पड़ा। अमेरिका में उन्हें हावर्ड मेडिकल स्कूल तथा मैस्साच्युएट्स जनरल हॉस्पिटल में औपचारिक पद मिला। बाद में उनका संबंध हावर्ड सायकोलोजिकल क्लिनिक से हुआ। हावर्ड से वे बाद में कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय चले गए, यहाँ आने के बाद उनकी महत्वपूर्ण पुस्तक *चाइल्डहुड एंड सोसायटी* का प्रकाशन हुआ। 1960 में वे फिर से हावर्ड चले गए जहां वे मनोविज्ञान के प्रोफेसर नियुक्त हुए और 1970 तक वे इसी पद पर बने रहें। इस दौरान उन्होंने कई सारी पुस्तके प्रकाशित की जिसमें महत्वपूर्ण हैं- *ह्यूमन लाइफ सायकल, आइडेंटिटी: यूथ एंड क्रायसिस, गांधीज ट्रूथ* 1978 में उनकी अंतिम पुस्तक एडल्टहुड प्रकाशित हुई थी। 1982 में उनको मृत्यु प्राप्त हुई

प्रमुख रचनाएं

- *Childhood and Society* (1950)
- *Young Man Luther. A Study in Psychoanalysis and History* (1958)
- *Identity: Youth and Crisis* (1968)
- *Gandhi's Truth: On the Origin of Militant Nonviolence* (1969)
- *Adulthood* (edited book, 1978)
- *Vital Involvement in Old Age* (with J.M. Erikson and H. Kivnick, 1986)
- *The Life Cycle Completed* (with J.M. Erikson, 1987)

(अधिक जानकारी के लिए देखे https://en.wikipedia.org/wiki/Erik_Erikson)

एरिक्सन ने फ्रायड के मनोविश्लेषण के आधार को विस्तृत करने में सक्रिय भूमिका निभायी है। एरिक्सन ने अपने मनोविज्ञान में, फ्रायडीयन मनोविज्ञान की तरह ईगो पर बल डाला है न कि इड तथा सुपर ईगो पर। उनका मत था कि ईगो व्यक्ति की अनुभूतियों को सगंठित करने तथा उनके व्यवहार को अर्थपूर्ण एवं अनुकूलित बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है।ईगो में सर्जनात्मक गुण होते हैं तथा प्रत्येक समस्या का एक सर्जनात्मक समाधान उपलब्ध कराने की कोशिश करता हैं। उनका मत है कि ईगो पर व्यक्ति के भीतर के बलों का तो प्रभाव पड़ता ही है साथ ही साथ सामाजिक एवं सांस्कृतिक कारकों का भी प्रभाव पड़ता है। विकास के विभिन्न अवस्थाओं मेंईगो से संबंधितजो गुण विकसित होते है। उनसे सामाजिक एवं सांस्कृत्कि कारकों के प्रभावों का प्रतिबिंबन होता है। इस महत्वपूर्ण बल के कारण ही एरिक्सन के मनोविज्ञान को *ईगो मनोविज्ञान* तथा उन्हे *ईगो मनोवैज्ञानिक* कहा जाता है।

4.3 मनोसामाजिक विकास का सिद्धांत

एरिक्सन ने फ्रायडियन तर्ज पर ही विकासात्मक अवस्थाओं का वर्णन किया है।वे फ्रायड द्वारा प्रतिपादित पांच अवस्थाओं अर्थात मुखावस्था,गुदावस्था, शिश्नावस्था, अव्यक्तावस्था तथा जननेंद्रीयावस्था को तो स्वीकार करते है ही, साथ ही साथ इसमें तीन और अवस्थाओं को अर्थात आरंभिक वयस्कावस्था, मध्यवस्था तथा वृद्धावस्था को जोड़ देते हैं इस तरह से एरिक्सन ने विकास के आठ स्तरीय सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। उन्होंने पश्चजनन के सिद्धांत में विश्वास व्यक्त किया है जिसके अनुसार प्राणी प्रारंभ में पूर्णतः एक अस्पष्ट तत्व होता है। तथा इसमें प्राणी के सभी हिस्सों को एक क्रम में विकसित करने की क्षमता होती है। एरिक्सन ने विकास की जिन आठ अवस्थाओं का वर्णन किया हैउनकी कुछ मौलिक विशेषताएं निम्नलिखित है-

1. प्रत्येक अवस्था की अपनी विकासात्मक विशेषताएं होती हैं तथा उसमें एक विशेष संकटावस्था होती है। संकटावस्था से तात्पर्य व्यक्तित्व में आने वाले एक विशेष मोड़ से होता है जो बढ़ते हुए परिपक्वता तथा माता-पिता, शिक्षक, समाज आदि द्वारा उनके सामने रखे गए विशेष मांग या प्रत्याशाओं के अन्तःक्रिया का परिणाम होता हैं।इससे उत्पन्न संकट का सामधान सामान्यतः संबंधित अवधि के ईगो(Ego) गुणों द्वारा हो जाता है।
2. सभी विकासात्मक अवस्थाओं केवर्धन तथा परिवर्तन के लिए मनोलैंगिक तथा मनोसामजिक पहलु पर अधिक बल डाला गया हैं।
3. प्रत्ये मनोसामाजिक अवस्था का निर्माण उससे पहले की अवस्था में हुए विकासों से संबंधित होती है।
4. मनोसामाजिक विकास की प्रत्येक अवस्था में कर्मकांडता, कर्मकांड तथा कर्मकांडवाद होते हे। इसे "एरिक्सन तीन आर" (Erikson Three R's) कहा गया है। कर्मकाडंता से तात्पर्य समाज के दूसरे व्यक्ति के साथ सांस्कृतिक रुप से स्वीकृत ढंग से अंतःक्रिया करने से होता है। अतः

इसका महत्व अनुकूलन में होता है। कर्मकांड से तात्पर्य वयस्क समुदाय द्वारा अवर्ती स्वरुप के महत्वपूर्ण घटनाओं को दर्शाने के लिए किए गए कार्यो से है। कर्मकांडवाद से तात्पर्य कर्मकांडता में उत्पन्न विकृति से होता है जिसमें व्यक्ति का ध्यान स्वयं अपने उपर ही केंद्रित रहता है।

4.4 मनोसामाजिक विकास की अवस्थाएं

एरिक्सन द्वारा प्रतिपादित मनोसामाजिक विकास की आठ अवस्थाओं तथा उसमें होने वाले प्रमुख विकासों का वर्णन निम्नलिखित है:

1. शैशवावस्था: विश्वास बनाम अविश्वास
2. प्रारंभिक बाल्यावस्था: स्वायत्ता बनाम संदेह
3. खेल अवस्था: पहल बनाम ग्लानी
4. स्कुल अवस्था: उद्यम बनाम हीनता
5. किशोरावस्था: पहचान बनाम भूमिका द्वंद्व
6. तरुण वयस्कावस्था: घनिष्ठता बनाम अलगाव
7. मध्य वयस्कावस्था: उत्पादकता बनाम गतिरोध
8. परिपक्वता: ईगो संपूर्णता बनाम निराशा

शैशवावस्था: विश्वास बनाम अविश्वास

विकास की इस पहली अवस्था को जन्म से प्रथम वर्ष तक माना गया है कुछ विद्वान इसे जन्म से 6 माह तक भी मानते हैं। शैशवास्था में शिशु परिवार में माता-पिता के संपर्क में अधिक समय रहता है ऐसे में वो बाहरी सामाजिक परिवेश से दूर सीमित परिवेश में रहता है। माता-पिता से लाड-प्यार प्राप्त होने की दशा में उनके प्रति शिशु के मन में आस्था, विश्वास विकसित होने लगता है। परंतु लाड-प्यार में कमी के कारण शिशु में माता-पिता के प्रति अविश्वास तथा अनास्था पैदा होती है। इसका परिणाम शिशु में उसके व्यवहार पर देखने को मिलता है जिससे शिशु असमायोजित होने लगता है। जब बच्चा विश्वास बनाम अविश्वास के संघर्ष का समाधान सफलतापूर्वक कर लेता है, तब उसमें एक विशेष मनोसामाजिक शक्ति का विकास होता है जिसे *आशा* की संज्ञा दी जाती है। इस अवस्था में शिशु में जो भाव (विश्वास या अविश्वास) पैदा होगा उसी के साथ वह अगली अवस्था में प्रवेश पाता है, इस कारण अगली अवस्था पर इस अवस्था का प्रभाव पड़ता है।

प्रारंभिक बाल्यावस्था: स्वायत्ता बनाम संदेह यह अवस्था प्रथम से द्वितीय वर्ष तक की मानी गई है। इस परिवेश में भी इसके पहले की अवस्था की तरह माता-पिता ही महत्वपूर्ण कारक होते हैं। इस अवधि में शिशु में पर्यावरण की विभिन्न वस्तुओं के प्रति जिज्ञासा बढ़ जाती है। शिशु में आत्मनियंत्रण तथा इच्छा शक्ति का प्रस्फुरण होता है। उचित भरण-पोषण, देखरेख, प्यार तथा पर्याप्त अपनत्व मिलने से उसमें आत्मविश्वास का उभार होता है। इसके उलट दंड, उपेक्षा, हंसी उडाई जाना आदि कारणों से उसमें हीनता एवं निराशा का भाव पैदा होता है। उचित देखभाल से शिशु में आत्मविश्वास निर्माण की प्रक्रिया शुरू हो

जाती है वहीँ उपेक्षा दुत्कार उसे अपनी क्षमताओं पर संदेह करने के लिए प्रेरित करता है।जब बालक/बालिका स्वायत्ता बनाम संदेह के संघर्ष का सफलतापूर्वक समाधान कर लेता है ताकि उसमें संदेह की तुलना में स्वायत्ता का एक अनुकूल अनुपात कायम हो जाए, तब उसमें एक नयी मनोसामाजिक शक्ति का उभार होता है उसे *इच्छा शक्ति* कहा जाता है।

खेल अवस्था: पहल बनाम ग्लानी इस अवस्था की शुरुआत उम्र के तीसरे वर्ष से मानी जाती है। इस अवस्था में बालक/बालिका पांचवे वर्ष तक रहता है। इसअवस्था में बालक/बालिका का सामाजिक दायरा बढ़ता है। उसके परिवेश में माता-पिता के अलावे अन्य सदस्य भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसका असर यह होता है कि बालक/बालिका का परिवेश विस्तृत होने लगता है। उसमें जिम्मेदारी की भावना का विकास होने लगता है तथा कुछ करनेकी अभिलाषा जागृत होने लगती है। यदि इस समय में बालक/बालिका द्वारा किए गए कार्यों में उन्हें सफलता मिलती है और उस सफलता के लिए वे अन्य लोगों से प्रशंसा प्राप्त करते हैं, तब उनमें पहल करने की प्रवृत्ति के साथ अन्य उपक्रम में भाग लेने की भावना मजबूत होने लगती

क्रम अवधि	विकास की विशेषता	समुचित समाधान	समुचित समाधान	अपर्याप्त समाधान	सफल विकास को घोषित करने वाली विशेषता
1	जन्म से प्रथम वर्ष	विश्वास बनाम अविश्वास	सुरक्षा तथा निश्चय का मौलिक भाव, स्वयं के अतिरिक्त बाहरी बलों पर भोरोसा	असुरक्षा, चिंता	आशा
2	द्वितीय वर्ष	स्वायत्ता बनाम शर्म एवं संदेह	कर्ता के रूप में ‘स्व’ का प्रत्यक्षीकरण, अपने स्वयं के शरीर को नियंत्रित करने की	आत्म नियंत्रण से सम्बन्धित अपर्याप्त अनुभूति, घटनाओं का नियत्रण	इच्छाशक्ति

ज्ञान शांति मैत्री

			क्षमता तथा कार्यों को करना|		
3	3 से 6 वर्ष	उपक्रम बनाम ग्लानि	सृजन या पहल करने के लिए अपने ऊपर विश्वास	'स्व' के महत्व की कर्मी का भाव	उद्देश्य
4	6 से यौवनारंभ	उद्यम बनाम हीनता	मौलिक सामाजिक तथा बौद्धिक कार्यों में प्रवीणता, मित्र मण्डली द्वारा स्वीकृति	आत्मविश्वास की कमी, असफलता की अनुभूति	सक्षमता
5	किशोरावस्था 13 से 18 वर्ष	पहचान बनाम भूमिका की अस्पष्टता	एक व्यक्ति के रूप में 'स्व' का सहज भाव विशिष्ट एवं सामाजिक रूप से स्वीकृत व्यक्ति के रूप में	विखंडित 'स्व; का अनुभव, बदलता हुआ एंव अस्पष्ट भाव	निष्ठा
6	प्रारम्भिक प्रौढावस्था 19 से 35 वर्ष	अंतरंगता बनाम अलगाव	आत्मीयता एवं दूसरों के प्रति प्रतिबद्धता की योग्यता	एकाकीपन, अकेलापन, अलगाव, अंतरंगता की आवश्यकता को झुठलाना	प्रेम
7	मध्य प्रौढावस्था 36 से 55	उत्पादकता बनाम गतिरोध	अपने से पूरे समाज, भविष्य की पीढ़ी पर ध्यान	सुश्रुषा भविष्योन्मुखता की कमी, आत्मकेंद्रित	परवाह (Care)

ज्ञान शांति मैत्री

	वर्ष				
8	उत्तर प्रौढावस्था 55 वर्ष से आगे	समग्रता बनाम निराश	सम्पूर्णता का भाव एवं जीवन से मूल संतुष्टि	व्यर्थता एवं निराशा की अनुभूति	बुद्धि

स्रोत: http://hi.vikaspedia.in/health/child-health/ मानव विकास का मनोविज्ञान, ज़ेवियर समाज सेवा संस्था है। दूसरी ओर अगर वह असफल रहा तो वह अपने सारे परिश्रम से स्वयं को असफलता से बचाने में लगाएगा। इससे उसका व्यक्तित्व ठीक से उभर नहीं पाएगा तथा कार्य में उसकी दिलचस्पी कम होती जाएगी और वह ग्लानी की अनुभूति करेगा। ऐसे में, उसमें काम के प्रति दिलचस्पी को बनाए रखने के लिए हमें प्रयास करना चाहिए।

जब पहल बनाम ग्लानी से उत्पन्न संघर्ष का समाधान बालक/बालिका द्वारा हो जाता है, इसके लिए जिस मनोसामाजिक शक्ति की उत्पत्ति होती है उसे एरिक्सन ने *उद्देश्य* कहा है।

स्कुल अवस्था: उद्यम बनाम हीनता

यह अवस्था बालक/बालिका में छह वर्ष से किशोरावस्था के प्रारंभ तक बनी रहती है। सभी अवस्थाओं की तरह इस अवस्था का संबंध पिछली अवस्था से है। पिछले अवस्था में जिस तरह बालक/बालिका में पहल अथवा ग्लानी का विकास होता है उसी का विस्तार इस अवस्था में होता है। बालक/बालिका को सफलता मिलती है तो उनमें उस कार्य के प्रति रूचि निर्माण होती है जिससे उनमें उद्यमशीलता का विकास होता है अन्यथा हीनता का भाव उनमें विकसित होने लगता है। इसलिए एरिक्सन का मानना है कि इस अवस्था में बालक/बालिका को सीखने तथा कौशल अर्जन करने के लिए अधिक से अधिक प्रोत्साहन देना चाहिए।

जब बालक/बालिका उद्यम बनाम हीनता के संघर्ष का समाधान ठीक-ठाक तरीके से कर लेता है तब उसमें एक विशेष मनोसामाजिक शक्ति का विकास होता है उसे *सक्षमता* कहते हैं।

किशोरावस्था: पहचान बनाम भूमिका द्वंद्व

किशोरावस्था क्रांति की अवस्था होती है, यह अवस्था 13 से 18 वर्ष आयु के बीच की मानी गई है। इस अवस्था में प्रवेश करने तक बालक/बालिका काफ़ी समझदार हो जाते हैं। ऐसे में वह अपना अस्तित्व,

पहचान बनाना चाहते हैं। उनमें कुछ करने की ललक होती है जिससे उनकी संसार मेंपहचान हो। वह अपना लक्ष्य निर्धारित करने की योग्यता रखते हैं तथा निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार भूमिका निभाने की योग्यता उसमें आती है। परंतु जो बालक/बालिका अपनी पहचान बना पाने में असफल हो जाते हैं या अपना लक्ष्य निर्धारित नहीं कर पाते वे द्वंद्व में पड़ जाते हैं। उनके समायोजन में कठिनाइयों के कारण उनमें कर्तव्यपरायणता तथा निष्ठा का विकास अवरुद्ध हो जता है।

जब किशोर पहचान बनाम भूमिका द्वंद्व से उत्पन्न समस्या का समाधान सफलतापूर्वक कर लेता है तब उसमें *निष्ठा* का विकास होता है। इससे वे समाज में अनुकूल व्यवहारकरने की क्षमता प्राप्त करते हैं।

तरुण वयस्कावस्था: घनिष्ठता बनाम अलगाव

इस अवस्था का विकास उम्र के 19 वर्ष से लेकर 35 वर्ष तक अनुमानित किया गया है। किशोरावस्था के बाद व्यक्ति में विभिन्न बदलाव आने लगते हैं और वह परिपक्वता की ओर अग्रसर होता है। सामाजिक परिवेश का दायरा बढ़ जाने के कारण मित्रता, प्रतिस्पर्धा, सहयोग आदि भावनाओं का विकास होता है साथ ही यौन भूमिका का भी विकास होता है। परिणामस्वरूप अन्य लोगों के प्रति संबंध एवं प्रेम की भावना बलवती होती है। इसके विरुद्ध समाज में उसके संबंध ठीक न होने के कारण उसमेंनिराशा, हीनता, असफलता एवं द्वंद्व के चलते एकाकीपन की प्रवृत्ति बढ़ने लगती है। व्यक्ति सामाजिक संबंधो से दूर भागने लगता है जिससे उसका समाज में समायोजन का स्तर निम्न हो जाता है। अत: वह समाज से अलग-थलग हो जाता है जिसे एरिक्सन *अलगाव* के रूप में परिभाषित करते हैं।

जब व्यक्ति घनिष्ठता बनाम अलगाव से उत्पन्न संघर्ष का समाधान सफलतापूर्वक कर लेता है तब उसमें *प्रेम* का विकास होता है। एरिक्सन का प्रेम से तात्पर्य किसी संबंध को कायम रखने में पारस्परिक समर्पण की क्षमता से है। इस तरह के प्रेम की अभिव्यक्ति तब होती है जब व्यक्ति दूसरों के प्रति आदर, उत्तरदायित्व एवं उत्तम देखभाल की मनोवृत्ति दिखाता है।

ज्ञान शांति मैत्री

मध्य वयस्कावस्था: उत्पादकता बनाम गतिरोध

इस अवस्था को वयस्क अवस्था के रूप में देखा जाता है। 36 वर्ष से 55 तक की आयु तक यह अवस्था चलती है। इस अवस्था तक आते-आते व्यक्ति समाज का एक ज़िम्मेदार और सक्रीय सदस्य बन चूका होता है। इस अवस्था में व्यक्ति की भूमिकाओं में भी बढ़ोतरी हो जाती है। जैसे-पति-पत्नी, माता-पिता, भाई-बहन इसके साथ ही अपने माता-पिता का भार भी वे वहन कर रहे होते हैं। घरेलु उत्तरदायित्व, सामाजिक जिम्मेदारियां तथा निजी लक्ष्य व्यक्ति को कार्य या लक्ष्य के प्रति तत्पर बनाते हैं। इन सब में उसकी क्षमता का विभाजन होता है। इन सारी क्रियाओं से उस व्यक्ति में उत्पादकता का विकास होता है। समाज उपयोगी कार्य करते हुए वह अपनी इस योग्यता को हासिल करता है। इसके विपरीत निष्क्रियता या आत्ममुग्धता की प्रवृत्ति से ग्रस्त व्यक्ति ऐसे सृजनात्मक कार्यों में रूचि नहीं लेते। वह समाज में योगदान के बजाय समाज पर अपना बोझ डालते हैं।

इस अवस्था में मनोसामाजिक संकट का सफलतापूर्वक समाधान होने से व्यक्ति में एक ख़ास तरह की शक्ति का विकास होता है जिसे एरिक्सन ने *परवाह/देखभाल* की संज्ञा दी है। किसी की परवाह/देखभाल का गुण सचमुच निष्क्रियता के विपरीत है, इससे दूसरों के कल्याण की चिंता अधिक होती है।

परिपक्वता: संपूर्णता बनाम निराशा

इस अवस्था की शुरुआत आयु के56 वर्ष से होती है तथा आगे निरंतर मृत्यु तक व्यक्ति इसी अवस्था में जीवन बिताता है। यह वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति वृद्धावस्था की ओर अग्रसर होता है, समाज के सक्रीय सदस्यता से वह निवृत्त होने की दशा में पहुंचता है। ऐसे में इसके पहली की अवस्था में प्राप्त उपलब्धियां इस कगार पर उसे याद आने लगती है। इससे वह स्वयं का आत्म-मूल्यांकन करने लगता है। अगर उसे लग रहा है कि उसका अतीत सफलताओं, उपलब्धियों से भरपूर और सुखमय था, तब उसका बाकी बचा जीवन भी उत्साह, उमंग के साथ बीतता है अन्यथा दुखमय पुरानी यादें,असफलता के जख्म उसे निराशा की ओर धकेलते हैं। जिससे उसका शेष जीवन भी कष्टमय हो जाता है। एरिक्सन का मत है कि इस अवस्था में, जिसमें *बुद्धि* का विकास अपने वास्तविक अर्थों में होता है उसे मृत्यु सेडर नहीं लगता है। ऐसे में वे लोग अपनी अगली पीढ़ियों के माध्यम से तथा अपनी सृजनात्मक उपलब्धियों से अपने अस्तित्व को बनाए रखने की चेष्टा करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि एरिक्सन ने व्यक्तित्व विकास की व्याख्या के लिए अपेक्षाकृत अधिक व्यापक सिद्धांत प्रतिपादित करने का प्रयास किया है। इस कार्य में वे काफ़ी हद तक सफल भी रहे हैं, किंतु इस सिद्धांत की कुछ खामियां भी है, जैसे- एरिक्सन का यह मत कि किसी अवस्था में कोई कमी रह गई तो वह आगे भी बनी रहेगी, उचित नहीं लगती, क्योंकि विद्वानों का मानना है कि उचित परिस्थितियों को उत्पन्न करके अतीत की कमियाँ दूर की जा सकती है। इन खामियों के बावजूद सिद्धांत काफ़ी आकर्षक है और इसमें लगभग सभी मनोसामाजिक आयामों की चर्चा शामिल हुई है।

4.5 फ्रायड एवं एरिक्सन : एक तुलनात्मक अध्ययन

सिगमंड फ्रायड एवं एरिक एरिक्सन दोनों ही मनोविश्लेषक है, जिन्होंने मनोविज्ञान में समांतर योगदान दिया है। दोनों के विचारों, सिद्धांतों एवं संप्रत्ययों में कुछ समानता एवं विभिन्नताएं है। प्रमुख सामनतांए निम्नलिखित है:

फ्रायड ने व्यक्तित्व विकास की व्याख्या पांच महत्वपूर्ण मनोलैंगिक विकास की अवस्थाओं, मुखावस्था, गुदावस्था आदि के रुप में वर्णन किया हैं। उसी तरह से एरिक्सन ने भी व्यक्तित्व केमनोसामाजिक विकास की व्याख्या आठ महत्वपूर्ण अवस्थाओं जैसे शैशवावस्था, प्रारंभिक बाल्यावस्था आदि के रुप में वर्णन किया है। ये दोनों ही वैज्ञानिक व्यक्तित्व विकास की इन अवस्थाओं को पूर्वनिश्चित एवं अपरिवर्त्य मानते हैं अर्थात उनके क्रम में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता है।

फ्रायड के सामान एरिक्सन ने भी व्यक्तित्व की व्याख्या में जैविक तथा लैगिक कारकों को महत्व दिया है।

एरिक्सन ने फ्रायड के व्यक्तित्व सिद्धांत के संरचनात्मक मॉडल अर्थात इड, ईगो तथा सुपर ईगो को स्वीकार किया है, हालांकि यह बात जरूर है कि उन्होंने व्यक्तित्व की व्याख्या में ईगो पर तुलनात्मक रुप से अधिक बल डाला है।

इन समानताओं के बावजुद इन दोनों के मनोविज्ञान में कुछ प्रमुख अंतर,हैजो इस प्रकार हैः

मायर (1965) का मत है कि फ्रायड ने अपने मनोविज्ञान में इड, ईगो तथा सुपर ईगो को महत्वपूर्ण माना है, जबकि एरिक्सन ने अपने मनोविज्ञान में ईगो को सर्वोपरि माना है। दूसरे शब्दों में फ्रायड के अनुसार मानव व्यवहार का आधार इड, ईगो तथा सुपर ईगो तीनों ही होते हैं, जबकि एरिक्सन के अनुसार मानव व्यवहार का आधार सिर्फ ईगो होता है। वे ईगो को व्यक्तित्व की एक स्वतंत्र संरचना मानते हैं जो एक सामाजिक अनुकूलित विकास का अनुसरण करता है तथा इड एवं अन्य मूलप्रवृत्तियों के विकास के अनुरुप होता है। फ्रायड ईगो को व्यक्तित्व का एक कार्यकारणी पहलु मानते हैं जो इड एवं वास्तविकता के बीच संतुलन बनाएं रखता है।

फ्रायड के मनोविज्ञान में मानव को एक अविवेकी प्रवृत्ति का जीव मानकर उसके व्यवहारों की व्याख्या की गई है, जबकि एरिक्सन के मनोविज्ञान में मानव को एक विवेकी एवं तार्किक प्रकृति का जीव मानकर उसके व्यवहारों की व्याख्या की गई है।

फ्रायड ने व्यक्तित्व विकास में माता-पिता के प्रभावों को सर्वोपरि माना है जबकि एरिक्सन ने व्यक्तित्व विकास में बच्चों के माता-पिता के साथ संबंध के अलावा उसके पूरे ऐतिहासिक मैट्रीक्स को महत्वपूर्ण माना है जिसमें, परिवार भी शामिल है। दूसरे शब्दों में एरिक्सन ने उस पूरे मनोऐतिहासिक परिस्थिति को व्यक्तित्व विकास के लिए महत्वपूर्ण माना है जिसमें ईगो एक खास तरह से परिवर्तित एवं विकसित होता है।

एरिक्सन ने अपने मनोविज्ञान में व्यक्तित्व विकास की व्याख्या में शैशवावस्था से लेकर बुढ़ापे तक अर्थात पूर्ण जीवन अवधि को ध्यान में रखा है, जबकि फ्रायड ने व्यक्तित्व विकास में मूलतः प्रारंभिक बाल्यावस्थाओं की अनुभूतियों को ही महत्वपूर्ण माना है और जननेंद्रियावस्था के बाद यानी वयस्कावस्था के बाद की अनुभूतियों पर कोई ध्यान नहीं दिया है।

फ्रायड तथा एरिक्सन के मनोविज्ञान में इस बिंदु पर भी अंतर है कि नए लैंकि संघर्ष का स्वरुप कैसा होता है? फ्रायड ने अपने सिद्धांत में अचेतन के अस्तित्व को दिखलाने का पूरा प्रयास किया है और इस बात पर बल डाला है कि प्रारंभिक मानसिक आघात या सदमा लगने से अर्थात बचपनवस्था में किसी तरह का मानसिक सदमा लगने से वयस्कावस्था में असामान्यता उत्पन्न हो जाती है। इसके विपरीत एरिक्सन ने प्रत्येक मनोसामजिक अवस्था में विकसित होने वाले संकट जो धनात्मक ईगो गुण तथा ऋणात्मक ईगो गुण में टकराव उत्पन्न करता है, इसका समाधान करने में हुई असफलता को असामान्यता की उत्पत्ति का कारण बताया है।

फ्रायड के संप्रत्ययों की तुलना में एरिक्सन के संप्रत्ययों का शोध मूल्यअधिक है, क्योंकि एरिक्सन के सिद्धांत के अधिकतर संप्रत्ययों पर आधुनिक व्यवहारों एवंसामाजिक वैज्ञानिक आज भी अपना शोध जारी रखे हुए है।

फ्रायड के मनोविज्ञान में केवल जैविक एवं लैंगिक आवेगों पर सर्वाधिक बल डाला गया हैं परंतु एरिक्सन के मनोविज्ञान में जैविक एवं लैगिक इच्छाओं के अलावा व्यक्ति के सामजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थियों पर भी बल डालते हुए व्यक्तित्व विकास की व्याख्या की गई है।

इस तरह से स्पष्ट होता है कि फ्रायड एवं एरिक्सन का मनोविज्ञान बहुत कुछ समान होते हुए भी एक दूसरे से भिन्न है।

4.6 सारांश

एरिक एरिक्सन अपने मनोसामाजिक विकास के सिद्धांत के लिए मशहूर है इनके व्यक्तित्व विकास की व्याख्या के लिए जिन आठ अवस्थाओं का वर्णन किया है यह मनोविज्ञान के क्षेत्र के लिए अमूल्य धरोहर के सामान है। इस इसके में हमने एरिक्सन इसके सिद्धांत की प्रासंगिकता इस कारण बढ़ जाती है, क्योंकि इन्होंने व्यक्तित्व विकास के लिए जैविक कारकों से ज़्यादा सामाजिक-सांस्कृतिक कारकों पर बल दिया है। साथ ही व्यक्ति के जीवन क्रम (LIfe-Span) को समझने के लिए एरिक्सन का सिद्धांत काफ़ी मददगार है। इनके सिद्धांत की खासियत यह है कि इन्होंने फ्रायडियन विचारों को नकारा नहीं, बल्कि उनमें सुधार कर उसे और ज़्यादा परिष्कृत किया है इससे मनोविश्लेषण जो इसके पहले तक केवल चिकित्सा विज्ञानियों का क्षेत्र था, उसमें सामाजिक कारकों के साथ सामाज कार्य के लिए जगह बन गई समाज कार्य मूलतः मनोसामाजिक समस्याओं का निवारणतथा इससे संबंधित व्यक्तियों को सेवा प्रदान करता है। ऐसे में उनके कल्याण के लिए, समस्याओं को समझने तथा विश्लेषण के लिए एरिक्सन का मनोसामाजिक विकास का सिद्धांत सहयोग प्रदान करेगा। एरिक्सन अपने सिद्धांत में व्यक्ति में जन्म से लेकर मृत्यु तक चलने वाले विभिन्नद्वंद्वों की बात करते हैं, जिसके लिए वे सामाजिक कारकों को ही ज़िम्मेदार मानते हैं। ऐसे में सेवार्थियों के जीवन में उत्पन्न द्वंद्वों को समझने के लिए तथा उसके समाधान के लिए यह सिद्धांत महत्वपूर्ण पहल करता नज़र आता है

4.7 बोध प्रश्न

1. नवफ्रायडवाद की अवधारणा को स्पष्ट करें।
2. एरिक एरिक्सन के मनोसामाजिक विकास की अवस्थाओं का वर्णन करें
3. एरिक्सन और फ्रायड के सिद्धांत में समानताओं और विभेदों पर चर्चा करें
4. एरिक्सन के अनुसार मनोसामाजिक विकास की सफलता को घोषित करने वाले घटकों को स्पष्ट करें।

4.8 संदर्भ एवं उपयोगीग्रंथ

अजीमुर्रहमान अशराफ़, ज. (1992). *मनोविज्ञान का संक्षिप्त इतिहास* (पुनर्मूद्रित ed.). दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास.

सिंह, आर. एन. (2010). *आधुनिक सामान्य मनोविज्ञान.* आगरा: अग्रवाल पब्लिकेशन्स.

सिंह, ए. के. (1995). *मनोविज्ञान के संप्रदाय एवं इतिहास.* दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास.

सिंह, ए. के. एवं सिंह ए के. (2000). *व्यक्तित्व का मनोविज्ञान* (8वां संस्करण ed.). दिल्ली: मोतीलाल बनारसीदास.

Santrock, J. W. (2011). *Life Span Development* (13th ed.). New York: McGraw Hill.

Cloninger, S. (2004). Theories of Personality (4th ed.). New Jersey: Pearson Prentice Hall.

ज्ञान शांति मैत्री